।। श्रीः ।।

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

433

दानवराजमयप्रणीतं

मयमतम्

भारतीय स्थापत्य एवं शिल्पकला का
प्रामाणिक ग्रन्थ

'शिवार्पिता' हिन्दीव्याख्योपेतम्

भाग-1

व्याख्याकत्री

डॉ० (श्रीमती) शैलजा पाण्डेय

M.Katyayana

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : (0542)2335263

प्रथम संस्करण 2007
मूल्य : 1000.00 (1-2 भाग)

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : (011)32996391 फैक्स: (011)23286537
ई-मेल : chaukhamba_neeraj@yahoo.com

❖

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू.ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : (011)23856391

❖

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : (0542)2420404

मुद्रक

ए. के. लिथोग्राफर
दिल्ली

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHMALA
433

MAYAMATAM

Indian Treatise on
HOUSING ARCHITECTURE & ICONOGRAPHY

Translated in Hindi by
Dr (Mrs) Shailja Pandey

M.Katyayana

Chaukhamba Surbharati Prakashan
Varanasi 01 (India)

Publishers :

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001
Tel. : 2335263
e-mail : csp_naveen@yahoo.co.in

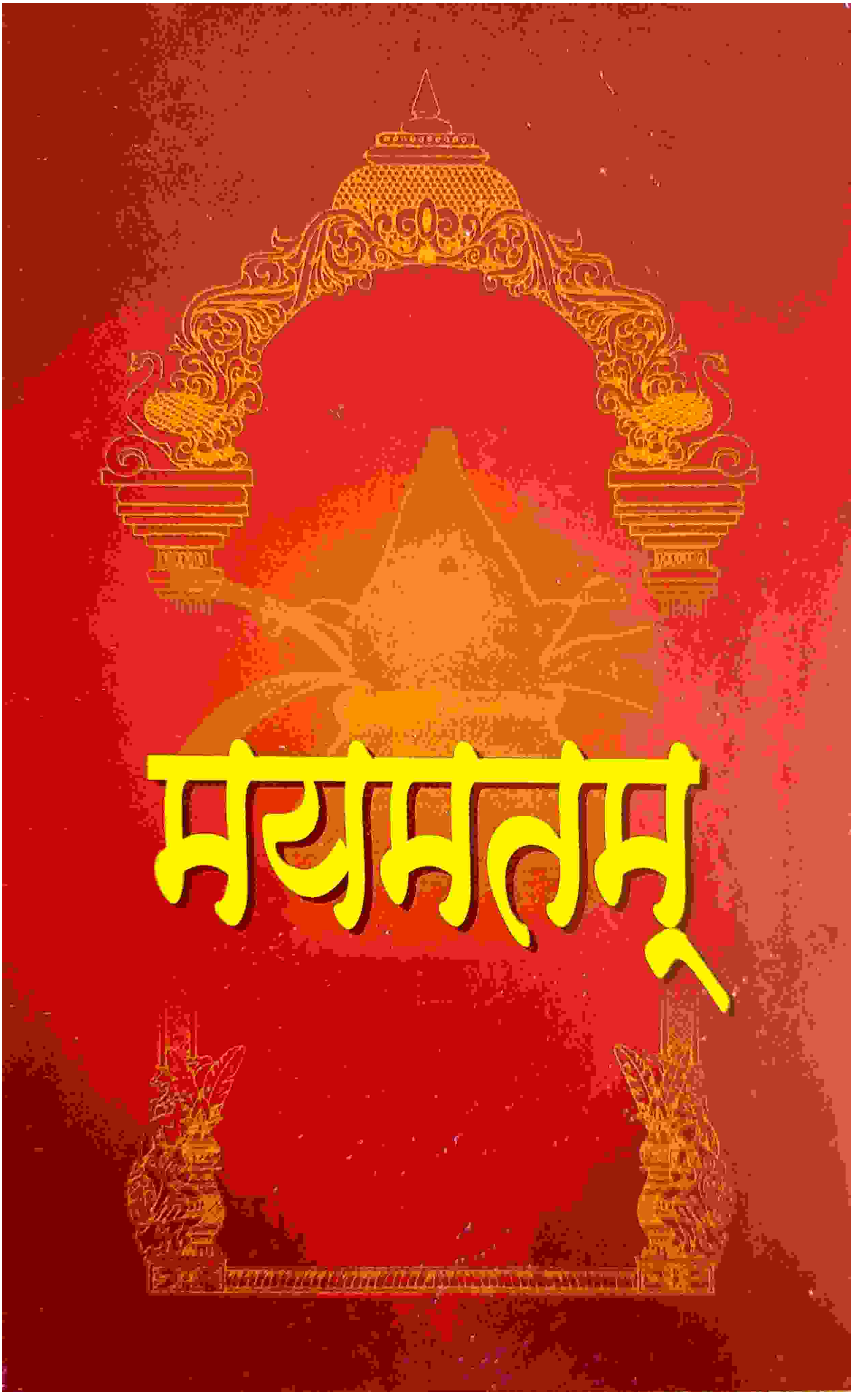
Also can be had from :

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor
Gali No. 21-A, Ansari Road
Daryaganj, New Delhi 110002
Tel. : 32996391
e-mail : chaukhamba_neeraj@yahoo.com

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind to Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

मयमतम्



समर्पण

प्रिय जीवन-सहचर

डॉ. राधेकृष्ण पाण्डेय जी

को

सादर समर्पित

— शैलजा

प्राक्कथन

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।।

अथर्ववेद से उद्भूत स्थापत्य विद्या संस्कृत वाङ्मय में अनेक स्थलों पर प्राप्त होती है। कुछ महापुराणों एवं उपपुराणों में; यथा—मत्स्य, अग्नि, गरुड तथा विष्णु-धर्मोत्तर आदि में; गृह्यसूत्र, आगमग्रन्थों, तन्त्रसमुच्चय आदि तान्त्रिकग्रन्थों, बृहत्संहिता आदि ज्योतिषग्रन्थों में स्थापत्य विद्या से सम्बद्ध पर्याप्त विवेचन प्राप्त होते हैं। आगे चल कर यह विद्या स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित होती है। मत्स्यपुराण (२५२. २-४) में भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र तथा बृहस्पति शिल्पशास्त्र के उपदेष्टा कहे गये हैं। उनमें विश्वकर्मा औदीच्य अथवा नागर वास्तु-परम्परा के तथा मय द्राविड-परम्परा के दीपस्तम्भ आचार्य हैं।

मय की प्रमुख रचना 'मयमत' है। इसका काल चोल राजाओं का काल माना गया है।[१] दक्षिण भारतीय वास्तु-परम्परा अथवा द्राविड रीति का यह मानक ग्रन्थ है। द्राविड परम्परा के प्रायः सभी ग्रन्थों का उपजीव्य यह ग्रन्थ अपने भीतर समग्र वास्तु-शास्त्र एवं शिल्पशास्त्र को समेटे है।

द्राविड वास्तु में उपपीठ, अधिष्ठान आदि भवन के मूलभाग एवं शिखरभाग विशिष्ट स्थान रखते हैं। पूरे भवन को वेश्मपुरुष माना जाता है। उपपीठ, अधिष्ठान आदि वेश्मपुरुष के पदभाग अथवा पैर हैं। मध्यभाग वेश्मपुरुष का शरीर तथा शिखर वेश्मपुरुष का शिर होता है, जिस पर वेश्मपुरुष के शिर का अलंकरण होता है। इस प्रकार वास्तुमण्डल में जिस वास्तुपुरुष को स्थापित किया जाता है, वह मानों भवन के रूप में उठ खड़ा होता है। भवन वास्तुपुरुष का विग्रह होता है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के किसी भाग में विकार आ जाय तो वह कष्टकर होता है, उसी प्रकार भवन अथवा वेश्मपुरुष की रचना करते समय यदि किसी भाग में दोष होता है तो वह गृह अपने भीतर निवास करने वालों के लिये कष्टकारी होता है। अतः वास्तुविद् मुनियों ने इस पर अत्यधिक ध्यान दिया है।

---

१. ब्रूनो डेगेन्स द्वारा सम्पादित 'मयमतम्' की भूमिका

'मयमत' ग्रन्थ में वास्तु के स्थान पर 'वस्तु' पद का प्रयोग किया है। मय के अनुसार वस्तु ही मूल है। इनके अनुसार वस्तु से उत्पन्न पदार्थ 'वास्तु' है। इन्होंने पृथिवी को प्रथम वस्तु माना है। इसके अतिरिक्त प्रासाद, यान एवं शयन भी वास्तु की श्रेणी में परिगणित हैं।

अमर्त्याश्चैव मर्त्याश्च यत्र यत्र वसन्ति हि।
तद्वस्त्विति मतं तज्ज्ञैस्तद्भेदञ्च वदाम्यहम्।।

भूप्रासादयानानि शयनं च चतुर्विधम्।
भूरेव मुख्यवस्तु स्यात्तत्र जातानि यानि हि।।

(मयमत-२.१-२)

अतः उन्होंने वास्तुशास्त्र के स्थान पर सभी जगह 'वस्तुशास्त्र' का प्रयोग किया है; जबकि अन्य ग्रन्थकार 'वास्तुशास्त्र' पद का प्रयोग करते हैं।

इस ग्रन्थ का अन्य वैशिष्ट्य नींव में गर्भन्यास है। प्रत्येक स्थान के लिये भवन के गर्भ में रखे जाने वाले पदार्थों एवं सम्पूर्ण भवन के गर्भ में रखे जाने वाले पदार्थों (गर्भन्यास) का स्वतन्त्र रूप से एवं प्रकरण के अनुसार विवेचन किया गया है।

असुरराज मय शैव मत में अपनी पूर्ण आस्था रखते हैं। प्रतिमा-लक्षण संज्ञक अध्याय में यद्यपि सभी देवी-देवताओं की प्रतिमायें लक्षणसहित वर्णित हैं तथापि शिव की प्रतिमाओं एवं शिवलिङ्गों के लक्षण एवं निर्माण आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

विषय-वस्तु

अनेक वैशिष्ट्यों से युक्त इस ग्रन्थ का विषयवस्तु इस प्रकार है—

यह ग्रन्थ ३६ अध्यायों में विभक्त है। इसका प्रथम अध्याय संग्रहाध्याय, दूसरा वस्तुप्रकार, तीसरा भूपरीक्षा, चौथा भूपरिग्रह, पाँचवाँ मानोपकरण, छठा दिक्परिच्छेद, सातवाँ पदविन्यास, आठवाँ बलिकर्म, नवाँ ग्रामविन्यास, दसवाँ नगरविधान, ग्यारहवाँ भूलम्बविधान, बारहवाँ गर्भविन्यास, तेरहवाँ उपपीठविधान, चौदहवाँ अधिष्ठानविधान, पन्द्रहवाँ पादप्रमाण-द्रव्यपरिग्रहविधान, अट्ठारहवाँ प्रासादोर्ध्ववर्ग, उन्तीसवाँ एकभूमिविधान तथा बीसवाँ द्विभूमिविधान है। इसके पश्चात् क्रमशः त्रिभूमिविधान, चतुर्भूम्यादि बहु-भूमिविधान, प्राकारपरिवारविधान, गोपुरविधान, मण्डप-सभाविधान, शालाविधान, चतुर्गृह-विधान, गृहप्रवेश, राजवेश्मविधान, द्वारविधान, यानाधिकार, शयनासनाधिकार, लिङ्गलक्षण, पीठलक्षण, अनुकर्मविधान तथा प्रतिमालक्षण संज्ञक अध्याय हैं। ग्रन्थ के अन्त में कूपारम्भ संज्ञक परिशिष्ट प्राप्त होता है।

१. संग्रहाध्याय—इस अध्याय का प्रारम्भ मङ्गलाचरण से होता है। इसमें सम्पूर्ण ग्रन्थ के वर्ण्य विषय का उल्लेख प्राप्त होता है।

२. वस्तुप्रकार—इस अध्याय में प्रथमत: वस्तु एवं वास्तु की परिभाषा दी गई है। मय के अनुसार वह सभी स्थान, जहाँ देवता तथा मनुष्य निवास करते हैं, वस्तु है तथा वस्तु पर जिनका निर्माण होता है, वह वास्तु है। भूमि, प्रासाद, यान एवं शयन वस्तु है। इनमें भी सर्वप्रधान भूमि है। अत: वर्ण, गन्ध तथा रसादि से भली प्रकार भूमि की परीक्षा करनी चाहिये। इसमें अनेक प्रकार की भूमियों के लक्षण एवं वर्णानुसार अनुरूपता का वर्णन किया गया है।

३. भूपरीक्षा—इस अध्याय में भूमि के प्रशस्त एवं अप्रशस्त लक्षणों का वर्णन किया गया है। इसमें आकृति, गन्ध, वृक्षादि, रंग, रस, जलप्रवाह, मिट्टी के प्रकार, भूमि से प्राप्त होने वाली वस्तुयें, भूमि के समीप-स्थित देवालय आदि, परिवेश आदि पर सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होता है।

४. भूपरिग्रह—भूमि पर निर्माण से पूर्व उसका संस्कार आवश्यक है। चयनित स्थान को भूतादि बाधा से मुक्त करना, हल चलाना, बीजवपन, बलिकर्म तथा भूमि-परीक्षण आदि का वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

५. मानोपकरण—इस अध्याय में विभिन्न प्रकार के माप—परमाणु, रथरेणु, बालाग्र, लिक्षा, यूका, यव, अङ्गुल, वितस्ति, हस्त अथवा किष्कु तथा प्राजापत्य, धनुर्मुष्टि एवं धनुर्ग्रह आदि एवं उनके भेद वर्णित हैं। इसके साथ ही उनके प्रयोग के स्थलों का भी उल्लेख किया गया है। इसके अनन्तर स्थपति, सूत्रग्राही, तक्षक एवं वर्धकि-संज्ञक शिल्पियों का लक्षणसहित वर्णन प्राप्त होता है।

६. दिक्परिच्छेद—सही दिशा के ज्ञान के विना समीचीन निर्माण सम्भव नहीं होता; अत: भूमि की दिशा के ज्ञानहेतु शङ्कु का प्रयोग वर्णित है। इसके लिये उचित समय, भूमि को तैयार करना, शङ्कु-निर्माण, शङ्कु से पड़ने वाली छाया से पूर्व आदि दिशाओं का निर्धारण एवं अपच्छाया का ज्ञान आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में रज्जु-लक्षण, खातशङ्कु-लक्षण, सूत्रविन्यास तथा अपच्छाया का वर्णन किया गया है।

७. पदविन्यास—इस अध्याय में वास्तु-पद-विन्यास का विशद् वर्णन प्राप्त होता है। इसमें बत्तीस पदविन्यासों की सूची; सकल, पेचक, पीठ, महापीठ, उपपीठ आदि कतिपय पदविन्यासों का वर्णन; वास्तुदेवों का वर्णन तथा उनके स्थानों का विवेचन किया गया है। पदविन्यासों में मण्डूकपद वास्तु (चौंसठ पद वास्तु) एवं परमशायिन (इक्यासी पद वास्तु) प्रधान हैं; अत: उनका विस्तार से वर्णन किया गया

है। इसके अतिरिक्त वास्तुपुरुष का भी वर्णन किया गया है।

८. बलिकर्म—इस अध्याय में वास्तुमण्डल के पदों में अधिष्ठित देवों की आहत्य बलि (व्यक्तिगत पूजा एवं हवनादि) तथा साधारण बलि (सभी देवों की सामूहिक पूजा एवं पूजा के सामान्य नियम) वर्णित है।

९. ग्राम-विन्यास—इस अध्याय में ग्रामों के प्रमाण, विविध मापों पर एक दृष्टि, ग्रामादि के प्रमाण, आयादि-विचार, ग्रामादि में ब्राह्मणों की संख्या, ग्रामों के नाम, मार्ग-व्यवस्था, ग्रामों के मङ्गल एवं पुर आदि भेद, द्वार-व्यवस्था, ग्रामों में देवालय, ग्राम के प्रवेशद्वारों पर स्थापित देवता, ग्रामवास्तु के वर्ज्य स्थान, उपवन आदि के लिये श्रेणिस्थान, गृहों के लक्षण, गृहादि के विन्यास में सम्भावित दोष तथा ग्राम का शिलान्यास आदि वर्णित है।

१०. नगर-विधान—इस अध्याय में नगर के प्रमाण एवं उसके विन्यास की चर्चा की गई है। इसमें माप के अनुसार नगरों के विभिन्न भेद, नगरों के चारो ओर उनके आकार के अनुसार वप्र (चारदिवारी) का निर्माण, वर्ज्य स्थान, मार्गविन्यास आदि का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त राजधानी का विशद् विवेचन, खेट आदि नगरों का विन्यास, दुर्गों के सात भेद एवं उनके विन्यास, नगरयोजना तथा बाजार आदि के विन्यास का वर्णन प्राप्त होता है।

११. भूलम्ब-विधान—इस अध्याय में भवन की आकृति के अनुसार भूलम्ब (तल) का वर्णन किया गया है। इसमें तलों के अनुसार भवन के माप एवं भवन का सर्वाधिक माप वर्णित है।

१२. गर्भविन्यास—इस अध्याय में देवों, ब्राह्मणों तथा अन्य जातियों के भवनों में शिलान्यास तथा नींव में रखी जाने वाली वस्तुओं का विशद् वर्णन प्राप्त होता है। इसके अन्तर्गत फेला (पिटारी), गर्भस्थापन (नींव के गर्त में शिलान्यास-सामग्री रखना), शिवालय का गर्भस्थापन, विष्णु, ब्रह्मा, षण्मुख आदि देवों के मन्दिरों में गर्भस्थापन, मनुष्यों के आवास का गर्भस्थापन, गर्भस्थापन का मन्त्र, वापी आदि का शिलान्यास तथा इष्टकाविन्यास वर्णित है।

१३. उपपीठ-विधान—भवन के निर्माण में उपपीठ (कुर्सी) का निर्माण उसकी ऊँचाई, शोभा एवं रक्षा-हेतु होता है। इसके ऊपर अधिष्ठान आदि स्थापित होते हैं। इनके वेदिभद्र, प्रतिभद्र तथा सुभद्रभेद लक्षणसहित विस्तार से वर्णित है।

१४. अधिष्ठान-विधान—इस अध्याय में अधिष्ठान के लिये भूमि तैयार करना, उसका माप, ऊँचाई में अधिष्ठान के विविध अंगों की योजना के अनुसार पादबन्ध, उरगबन्ध, प्रतिक्रम, पद्मकेसर, पुष्पपुष्कल, श्रीबन्ध, मञ्चबन्ध, प्रतिबन्ध तथा कलशाधिष्ठान-

योजना का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अधिष्ठान के सामान्य लक्षण, उसके पर्याय, निर्गम-मान तथा प्रतिच्छेदविधि का भी वर्णन किया गया है।

१५. पादप्रमाण-द्रव्यपरिग्रह-विधान—इस अध्याय में स्तम्भ के लक्षण, पर्याय, उसके प्रमाण, स्तम्भों के भेद, स्तम्भदण्ड का लक्षण, कलश का लक्षण, पोतिका का माप एवं उसके अंग, स्तम्भ के विशेष लक्षण, स्तम्भ के निर्माणहेतु काष्ठ, प्रस्तर एवं इष्टका का संग्रह, इस हेतु चुनने योग्य वृक्ष, शिला एवं इष्टका के लक्षण, त्याज्य वृक्ष, वृक्ष-ग्रहण करने से पूर्व किया जाने वाला पूजन-कार्य तथा काष्ठा-नयन, मुहूर्त्तस्तम्भ एवं इष्टका-निर्माण वर्णित है।

१६. प्रस्तरकरण—इस अध्याय में उत्तर से प्रारम्भ होकर वृतिपर्यन्त प्रस्तर के अंगों का वर्णन किया गया है। इसमें उत्तर वाजन, प्रमालिका, दण्डिका, वलय, गोपान, कायपाद, वाजन, कपोत तथा प्रस्तर के ऊर्ध्वभाग का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त तुलाबन्ध, प्रस्तर का प्रमाण, लेप, विषम एवं सम मान, द्वार, वेदि, जालक तथा भित्ति का विवेचन किया गया है।

१७. सन्धिकर्म-विधान—इस अध्याय में सन्धि की परिभाषा एवं सन्धि की विधि समझाते हुये सन्धि के भेद, सन्धि के नियम, मल्ललीला, सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, स्वस्तिबन्ध, वर्धमान तथा सन्धि के अन्य भेदों का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त स्तम्भ की सन्धियाँ, शयित सन्धियाँ, विद्ध तथा कील वर्णित हैं। अध्याय के अन्त में सन्धि के दोषों का निरूपण किया गया है।

१८. प्रासादोर्ध्ववर्गाः—इसके अन्तर्गत भवन के शीर्षभाग, उसके अंगों तथा अलंकरणों का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत गललक्षण, शिखरों के भेद, शिखरों की आकृति, स्तूपिका की ऊँचाई, लुपाओं की संख्या, पुष्कर, लुपा-प्रमाण, लुपाओं के पाँच भेद, शिखर के अंगों के प्रमाण, आच्छादन, वलयसन्धि, घटिका, लुपा के ऊपर आच्छादन, स्तूपिका की कील, ललाटभूषण, स्तूपिका, लेप एवं सुधा-कर्म, चित्रकर्म, मूर्ध्नेष्टिका, स्तूपिकाकील, मूर्ध्नेष्टकास्थापन आदि वर्णित हैं। तदनन्तर आचार्य को दान एवं दक्षिणा देना, प्रासाद में रत्न स्थापित करना, कर्मसमाप्ति, स्तूपिका-कील के वृक्षों का विवेचन, सम्प्रोक्षण कर्म, अधिवास मण्डप, कुम्भस्थापन, वास्तुदेवता बलि, चक्षुमोक्षण, सम्प्रोक्षण, स्तूपिकाकुम्भ, दक्षिणादान, सम्प्रोक्षण की आवश्यकता, सम्प्रोक्षणकाल तथा कलशस्थापन वर्णित हैं।

१९. एकभूमिविधान—इस अध्याय में एक तल के प्रासादों के चार प्रकार के प्रमाण वर्णित हैं। इसमें मुखमण्डप, भवनों के पर्याय, गर्भगृह का प्रमाण, स्तूपिका-प्रमाण, द्वार, नाल-प्रमाण, अलंकरण, मन्दिरों के भेद एवं विमानतल के देवता वर्णित हैं।

२०. द्विभूमिविधान—इस अध्याय में द्वितल प्रासाद के पाँच प्रमाण वर्णित हैं। इसके अन्तर्गत स्वस्तिक, विपुलसुन्दर, कूट, कैलासादि भेद, भवनों के भेद, खण्ड भवन तथा तोरण वर्णित हैं।

२१. त्रिभूमिविधान—इसके अन्तर्गत त्रितल भवन के पाँच भेद, स्वस्तिक, विमलाकृति, हस्तिपृष्ठ, मुखमण्डप, पुनः हस्तिपृष्ठ, स्तम्भतोरण, पुनः हस्तिपृष्ठ, भद्रकोष्ठ, वृत्तकूट, सुमङ्गल, गान्धार, श्रीभोग, कूटकोष्ठादि, धामभेद, नालीगृह (गर्भगृह), वेदिका, तोरणादि-विधान एवं सोपान वर्णित हैं।

२२. चतुर्भूम्यादिबहुभूमिविधान—इस अध्याय में चतुर्भौम देवालय के पाँच भेद—सुभद्रक, श्रीविशाल, भद्रकोष्ठ, जयावह तथा भद्रकूट वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त कपोतपञ्जर, पुनः भद्रकूट, मनोहर, आवन्तिक एवं सुखावह का वर्णन है। चार तल के अतिरिक्त पाँच तल, छः से ग्यारह तल, बारह तल, खण्डहर्म्य तथा कूटकोष्ठादि का वर्णन प्राप्त होता है।

२३. प्राकार-परिवार-विधान—इसमें प्राकार या चारदिवारी की आवश्यकता, प्राकार का प्रमाण, प्राकार की भित्ति, आवृतमण्डप, भित्ति के शीर्षालंकार, अधिष्ठान की ऊँचाई, परिवारालय-विधान, अष्ट परिवार, द्वादश परिवार, षोडश परिवार, बत्तीस परिवार, मालिकापंक्ति, पीठलक्षण, ध्वजस्थान, प्राकाराश्रित स्थान, शक्तिस्तम्भ, अन्य स्थान, विष्णु परिवार तथा वृषलक्षण वर्णित हैं।

२४. गोपुर-विधान—इस अध्याय में अत्यन्त छोटे-छोटे, मध्यम तथा उत्तम प्रकार के भवनों या देवालयों को दृष्टि में रखकर गोपुर-निर्माण पर प्रकाश डाला गया है। प्रधान रूप से गोपुर के पाँच भेद प्राप्त होते हैं, जो द्वारशोभा, द्वारशाला, द्वारप्रासाद, द्वारहर्म्य एवं गोपुर संज्ञक कहे गये हैं। इनका प्रमाणसहित वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रसंग में द्वारमान, अधिष्ठान आदि का प्रमाण, गोपुर के श्रीकर आदि पन्द्रह भेद, एकतल गोपुर, द्वितल, त्रितल, चतुस्तल, पञ्चतल, षट्तल तथा सप्ततल गोपुरों का वर्णन किया गया है। तदनन्तर गोपुर का विस्तारमान एवं उनके कूट-कोष्ठादि अंगों का विवेचन, द्वार-विस्तारमान, गोपुर के अलंकरण प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् द्वारशोभा, गोपुर के श्रीकर, रतिकान्त, कान्तविजय भेद; द्वारशाला के विजयविशाल, विशालालय, विप्रतिकान्त भेद; द्वारप्रासाद गोपुर के श्रीकान्त, श्रीकेश तथा केशविशाल भेद; द्वारहर्म्य गोपुर के स्वस्तिक, दिशास्वस्तिक तथा मर्दल संज्ञक भेद; द्वारगोपुर संज्ञक गोपुर के मात्राकाण्ड संज्ञक भेद निरूपित हैं।

२५. मण्डप-सभा-विधान—इस अध्याय में मण्डप तथा सभा का लक्षण एवं भेद निरूपित है। सर्वप्रथम देवों, ब्राह्मणों एवं अन्य वर्ण के अनुकूल मण्डप की

चर्चा की गई है। इसके पश्चात् मनुष्य के अनुकूल स्थान, मण्डप का प्रयोजन, मण्डप के नाम, उसके प्रमाण, स्तम्भमान, अधिष्ठान की ऊँचाई, उपपीठ की ऊँचाई, मण्डप के लक्षण, मण्डप का अर्थ, प्रपालक्षण तथा रङ्गलक्षण वर्णित है। मण्डप के प्रकारों में मालिका, मेरुक, विजय, सिद्ध एवं यागमण्डप वर्णित हैं। यागमण्डप के सन्दर्भ में कुण्ड के लक्षण तथा उसके भेदों—योनिकुण्ड, अर्धचन्द्र, द्व्यस्त्र, वृत्त, षट्कोण, पद्म, अष्टास्त्र, सप्तास्त्र तथा पञ्चास्त्र का निरूपण किया गया है। इसके अनन्तर सिद्ध, पद्मक, भद्रक, शिव, वेद, अलंकृत, दर्भ, कौशिक, कुलधारण, सुखाङ्ग, सौम्य, गर्भ, माल्य, माल्याद्भुत, धन, सुभूषण, आहल्य, सुगाख्य, कोण, खर्वट, श्रीरूप, मङ्गल, मार्ग, सौभद्र, सुन्दर, साधारण, सौख्य, ईश्वरकान्त, श्रीभद्र तथा सर्वतोभद्र आदि मण्डपों का लक्षणसहित प्रमाणवर्णन किया गया है। मण्डप के मुखभाग की लम्बाई के पश्चात् पुन: मण्डपों के भेद, जलक्रीड़ा-मण्डप, मण्डप के अनुकूल वृक्ष, मुखमण्डप, मण्डप का गर्भस्थान, अलिन्द्र, मालिका आदि निरूपित हैं।

सभा-विधान के प्रसंग में सभाओं के भेद एवं कूटलक्षण वर्णित हैं। सभाभेदों में मल्लवसन्त, पञ्चवसन्तक, एकवसन्तक, सर्वतोभद्र, पार्वतकूर्म, माहेन्द्र, सोमवृत्त, शुक-विमान तथा श्रीप्रतिष्ठित वर्णित हैं।

२६. शाला-विधान—इसके अन्तर्गत शाला का विस्तार, उसकी लम्बाई, ऊँचाई, एकशाल गृह के सामान्य लक्षण का वर्णन प्राप्त होता है। तदनन्तर शाला के भेदों में प्रथम दण्डक, द्वितीय दण्डक, तृतीय दण्डक, चतुर्थ दण्डक, पञ्चम दण्डक, मौलिक, स्वस्तिक तथा चतुर्मुख आदि वर्णित हैं। पुन: दण्डक आदि के सामान्य लक्षण वर्णित हैं। द्विशाल भवनों के चतुर्मुख, स्वस्तिक, दण्डवक्त्र भेद; त्रिशाल भवनों के मेरुकान्त, मौलिभद्र भेद तथा त्रिशाल भवन का प्रमाण प्राप्त होता है। चतुश्शाल भवनों के प्रमाण एवं भेद तथा उसके दैर्घ्य का प्रमाण वर्णित है। इनके भेदों में प्रथम सर्वतोभद्र, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम सर्वतोभद्र वर्णित हैं। इसके पश्चात् विमान आदि के लक्षण तथा वर्धमान के सात भेद वर्णित हैं। नन्द्यावर्त संज्ञक चतुश्शाल गृह के पाँच भेद, स्वस्तिक भवन, रुचक भवन, चतुश्शाल भवन की सामान्य विधि, सप्तशालादि, गर्भस्थान, वंशद्वार, विहारशाल, शालापाद-प्रमाण, आयादि लक्षण तथा खलूरी का निरूपण किया गया है।

२७. चतुर्गृह-विधान—इस अध्याय में चतुश्शाल भवनों का विस्तार से निरूपण प्राप्त होता है। इसमें प्रथमत: वाटभित्ति (चारदिवारी), खलूरिखा, भिन्नाभिन्न गृह, गृहविन्यास, मध्यमण्डल का प्रमाण, मध्यवेदिका, मध्यमण्डप का लक्षण, अन्नागार आदि स्थान, सुखालय, चतुश्शाल का सामान्य प्रमाण, अन्नालय, धान्यालय, धनालय, गृह के ऊर्ध्व भाग का वर्णन, वास्तुमण्डप-प्रमाण, गर्भस्थान तथा मुहूर्त-स्तम्भ निरूपित

हैं। इसके पश्चात् भवन के सामान्य नियम, अलिन्द्र, गृहस्वामी का स्थान, भोगविन्यास, चुल्ली(चूल्हा)-लक्षण, चूली की संख्या तथा पुनः भोगविन्यास वर्णित है। तदनन्तर वस्तुभेदों में दिशिभद्रक, गरुड़पक्ष, कायभार, तुलानीय; द्वारों का प्रमाण, गृहनिर्माणकर्म का काल, द्वारस्थान, वासविन्यास एवं गृहारम्भ-काल निरूपित है।

२८. **गृहप्रवेश**—यह अध्याय गृहनिर्माण के पश्चात् गृहप्रवेश से सम्बद्ध धार्मिक कृत्यों का निरूपण करता है। इसमें अधिवास, कलशस्थापन, बलिविधान, स्थपति-निर्गमन, गृहपति एवं गृहिणी का प्रवेश आदि कर्म वर्णित हैं।

२९. **राजवेश्म-विधान**—इस अध्याय में राजवेश्म के प्रमाण, अधमवेश्म (छोटे राजभवन) का विन्यास, गोपुर, गृहविन्यास, परिखा, पुनः गृहविन्यास, प्रथम आवरण (प्राकार), द्वितीय आवरण, तृतीय आवरण, नगर, नगरभित्ति, राजवेश्म के गोपुर, वेश्मतल लम्बविधान, नरेन्द्रवेश्म, प्राकार, वेश्मविन्यास आदि वर्णित हैं। सौबल संज्ञक वेश्म का प्रथम आवरण, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम आवरण वर्णित हैं। तदनन्तर अधिराज मन्दिर, नगर के भेद, हस्तिशाला, अश्वशाला, विभिन्न प्रकार के भवन, मन्त्रशाला, प्रसाधन कक्ष, अभिषेकशाला, तुलाभारस्थान तथा हिरण्यगर्भस्थान का विवेचन किया गया है।

३०. **द्वार-विधान**—इस अध्याय में द्वार के माप, योग (चौखट) का प्रमाण, कवाट, शुभ एवं अशुभ द्वार, द्वार के स्थान, गोपुर-प्रमाण तथा गोपुर के प्रकारों में एकतल गोपुर, द्वितल गोपुर एवं उनके रतिकान्त, कान्तविजय तथा सुमङ्गल भेद, त्रितल गोपुर तथा उनके मर्दल, मात्रखण्ड, श्रीनिकेतन संज्ञक भेद, सप्ततल गोपुर के भद्रकल्याण, सुभद्र तथा भद्रसुन्दर संज्ञक भेद, षट्तल गोपुर, पञ्चतल गोपुर, चतुस्तल गोपुर एवं उनके सामान्य नियम वर्णित हैं।

३१. **यानाधिकार**—इस अध्याय में यान एवं शयन के भेद, शिबिकाभेद, पीठा, अन्य शिबिकायें तथा रथ का वर्णन लक्षण एवं प्रमाणसहित प्राप्त होता है।

३२. **शयनासनाधिकार**—इसमें लक्षण एवं प्रमाणसहित शयन, पर्यङ्क, आसन, सिंहासन, पूजा-पाठ एवं आयादि का वर्णन किया गया है।

३३. **लिङ्गलक्षण**—इस अध्याय में सकल (अभिव्यक्त अंग), निष्कल (बिना अंग आदि के) तथा मिश्र लिङ्ग का वर्णन प्राप्त होता है। सकल बेर (प्रतिमा), निष्कल (लिङ्ग, पिण्डी) तथा मिश्रमुख लिङ्ग होता है। इस प्रसंग में शिलालक्षण, उचित काल एवं विधि से शिलासंग्रह; इसका मन्त्र, लिङ्ग का प्रमाण, लिङ्ग का स्थान, नागर, द्राविड़ तथा वेसर लिङ्ग, हस्तमाप से लिङ्गप्रमाण, द्वारादि के अनुसार लिङ्गमान, आयादि, लिङ्गलक्षण, सर्वतोभद्र आदि लिङ्गप्रमाण, सुरार्चित आदि लिङ्गों के भेद,

आर्ष लिङ्ग, स्वयम्भू लिङ्ग, शिरोवर्तन, लक्षणोद्धरण, नागरलिङ्ग—द्राविड तथा वेसर लिङ्ग के लक्षणोद्धरण, सूत्र का व्यास एवं गहराई, सामान्य विधि, सूत्राग्रलक्षण, स्फाटिक लिङ्ग, मृण्मय लिङ्ग, लिङ्ग-स्थापन तथा लिङ्ग-स्थापन का फल निरूपित हैं।

३४. पीठलक्षण—इस अध्याय में पीठलक्षण के प्रसंग में पीठद्रव्य, पीठप्रमाण, पीठ का आकार, पीठों के नाम, भद्रपीठ, पद्मपीठ, वज्रपद्मपीठ, महाब्जपीठ, श्रीकरपीठ, पीठपद्मपीठ, महावज्र तथा सौम्यपीठ तथा श्रीकाम्यपीठ वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त पीठों के सामान्य लक्षण, ब्रह्मशिला, नन्द्यावर्त शिला, प्रतिमाओं के पीठ, पीठों के मान से प्रासाद का प्रमाण, बेर (प्रतिमा) के प्रमाण से प्रासाद का प्रमाण, अष्टबन्ध (गारा) का संग्रहण तथा गर्भगृह में बेर के स्थान निरूपित हैं।

३५. अनुकर्म-विधान—इस अध्याय में अनुकर्म-विधान के अन्तर्गत भवन का जीर्णोद्वार, लिङ्गजीर्णोद्वार, पीठजीर्णोद्धार, बेरजीर्णोद्धार, सामान्य विधि, ग्रामादिकों का जीर्णोद्धार, बाल (अस्थायी लिङ्ग) का स्थापन आदि वर्णित हैं।

३६. प्रतिमा-लक्षण—इस अध्याय में ब्रह्मा, विष्णु, वराह, त्रिविक्रम, नारसिंह, अनन्तशायी, महेश्वर, षोड़श मूर्तियाँ, सुखासनमूर्ति, वैवाहमूर्ति, सोमास्कन्दमूर्ति, वृषारूढ़मूर्ति, त्रिपुरान्तकमूर्ति, नृत्तमूर्तियाँ, चन्द्रशेखरमूर्ति, अर्धनारीश्वरमूर्ति, हरिहरमूर्ति, चन्द्रेशानुग्रहमूर्ति, कामारिमूर्ति, कालनाशमूर्ति, दक्षिणामूर्ति, भिक्षाटनमूर्ति, कङ्कालमूर्ति, मुखलिङ्ग, षण्मुख, गणाधिप, सूर्य, दिक्पाल—इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, चन्द्र, ईशान, काम, अश्विनद्वय, वसुगण, मरुद्गण, रुद्र, विद्येश्वर, क्षेत्रपाल, चण्डेश्वर, आदित्य, सप्तर्षि, सप्तरोहिणी, गरुड, शास्ता, मातृकायें, वीरभद्र, ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, विनायक, मातृकाओं की स्थापना, चामुण्डी, परिवार, लक्ष्मी, यक्षिणी, कात्यायनी, दुर्गा, सरस्वती, ज्येष्ठा, भूमि, पार्वती, सप्तमाता, बुद्ध, जिन, सामान्य विधि, बेर के प्रमाण, जङ्गम बेर के प्रमाण तथा द्वारपाल की मूर्तियों के लक्षण प्रमाणसहित वर्णित हैं।

परिशिष्ट—इसमें कूप के निर्माण के विषय में विविध विद्वानों के मत उद्धृत हैं।

इस प्रकार विषयवस्तु की दृष्टि से मयमत ग्रन्थ में प्रथम 'वस्तु' (अथवा वास्तु) भूमि है। तदनन्तर ग्राम-नगरादि का स्थान आता है। इसके पश्चात् देवों एवं चारो वर्णों के लिये भूमि, भवन, यान तथा शयनासन का स्थान आता है। तीसरे एवं चौथे अध्याय में भूमि के परीक्षण का वर्णन प्राप्त होता है। तदनन्तर माप के विभिन्न प्रकारों एवं ईकाइयों का निरूपण किया गया है। चार प्रकार के शिल्पी—स्थपति, सूत्रग्राही, तक्षक तथा वर्धकि निर्माणकार्य के अभिन्न अंग हैं; अतः इनका ग्रन्थ में विस्तार से वर्णन किया गया है। निर्माणहेतु दिशा का सटीक ज्ञान एवं कार्य के अनुसार वास्तुपद-

विन्यास आवश्यक होता है। अत: ग्रन्थ में इनका विवेचन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त ग्राम, नगर, भवन, नींव में गर्भविन्यास, उपपीठ, अधिष्ठान, स्तम्भ, द्रव्य-संग्रह, प्रस्तरकरण, सन्धिकर्म, कलश, छत एवं शिखर आदि का निरूपण किया गया है। देवालय, राजभवन-मर्यादा, गोपुर, मण्डप, सभागृह, शालगृह, अलिन्द्र, आँगन आदि वास्तु के अंग हैं। इनका भी विवेचन ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

भवन की सम्पूर्णता यान-शयनादि उपस्करों के विना पूर्ण नहीं होती; अत: ग्रन्थकार ने इन्हें भी वास्तु का वर्ण्य विषय बनाया है। इसी प्रकार प्रासाद की परिकल्पना देवविग्रह से रहित अकल्पनीय होती है। अत: ग्रन्थकार ने सकल (प्रतिमा), निष्कल (लिङ्ग) एवं मिश्र (मुखलिङ्ग) का लक्षणसहित प्रतिपादन किया है। महादेव शिव के प्रति अनन्य भक्ति होने के कारण ग्रन्थकार ने पौरुष लिङ्ग, स्वयम्भू लिङ्ग, धारालिङ्ग, स्फाटिक लिङ्ग आदि का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया है। अन्य देवी-देवताओं का भी विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार मय ने वास्तुशास्त्र के सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है।

ग्रन्थ पर शैव मत का प्रभाव

मयमत ग्रन्थ पर शैव मत का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रो० कपिला वात्स्यायन (मयमतम् ग्रन्थ की भूमिका, ब्रूनो डेगेन्स द्वारा सम्पादित) ने इस पर कामिकागम, मुख्यत: पूर्व कामिकागम का प्रभाव माना है। शैव सिद्धान्त पर आधारित इस ग्रन्थ में शैवागमों का प्रभाव परिलक्षित होता है; तथापि बुद्ध एवं जिन तथा अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमा का लक्षण एवं वर्णन ग्रन्थकार के अन्य दार्शनिक धाराओं के प्रति दृष्टिकोण का परिचायक है।

ग्रन्थ के प्रकाशन

इस ग्रन्थ का सम्भवत: प्रथम प्रकाशन गणपति शास्त्री द्वारा १९११ में अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि के ग्रन्थांक ६५ में हुआ था। वर्तमान समय में यह ग्रन्थ अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण स्थिति में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् १९७०-७६ में फ्रेञ्च इन्स्टिट्यूट आफ इन्डोलॉजी (वर्तमान समय में फ्रेञ्च इन्स्टिट्यूट) पाण्डिचेरी से प्रकाशित हुआ। १९८५ में सीताराम भारतीय इन्स्टिट्यूट आफ साइन्टिफिक रिसर्च, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् इन्दिरा गाँधी नेशनल सेण्टर फार द आर्ट्स, नई दिल्ली से कलामूलशास्त्र ग्रन्थमाला-१४ में इस ग्रन्थ का प्रकाशन ब्रूनो डेगेन्स के अंग्रेजी अनुवाद के साथ हुआ।

इतने प्रकाशनों के पश्चात् भी हिन्दीभाषी पाठकों के लिये इस ग्रन्थ का अध्ययन दुष्कर ही बना रहा। अत: इस ग्रन्थ को हिन्दी भाषा में भावानुवाद, विशिष्ट व्याख्यात्मक

टिप्पणी, पारिभाषिक शब्दावली एवं विषय को समझने में सहायक चित्रावली के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

कृतवेदिता पुष्पाञ्जलि

मेरी प्रथम पुष्पाञ्जलि पराम्बा-सहित भगवान् शिव के चरणों में समर्पित है, जिनकी कृपा के विना यह कार्य सम्भव नहीं था। मयमत ग्रन्थ के कर्ता दैत्यराज मय तथा सभी पूर्व सूरियों को मैं नमन करती हूँ, जिनके आशीर्वाद से एवं ग्रन्थों के अवलोकन से मैं इस ग्रन्थ की ग्रन्थियों को सुलझा सकी।

इस कार्य की योजना उपस्थित करने वाले तथा भरपूर सामग्री सुलभ कराने वाले चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन परिवार के श्री नवनीतदास जी गुप्त जी मेरी कृतज्ञता के अत्यधिक पात्र हैं। विषय-विशेषज्ञ न होते हुये भी मेरे शैक्षणिक कार्य में अत्यधिक रुचि रखते हुये हर कदम पर उत्साहित करने वाले अपने पति डॉ. राधेकृष्ण पाण्डेय की मैं अत्यधिक आभारी हूँ, जिनके द्वारा प्रदत्त पूर्ण सहयोग एवं मनोबल के कारण मैं इस कार्य को हर बाधा पार करते हुये पूर्ण कर सकी।

गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (अधुना गंगानाथ झा परिसर), इलाहाबाद के ग्रन्थालय का मैंने इस कार्य में भरपूर प्रयोग किया है; अत: मैं सम्पूर्ण लाइब्रेरी-परिवार को धन्यवाद देती हूँ। अन्तत: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी की मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अत्यल्प समय में इस ग्रन्थ को सुन्दर कलेवर में प्रकाशित करने का भार उठाया।

मानवीय दुर्बलताओं के कारण इस ग्रन्थ में हुई त्रुटियों के लिये सभी सुधिजनों से क्षमा-प्रार्थना करती हुई—

विदुषां वशंवदा
शैलजा पाण्डेय

विषयानुक्रमणी

पञ्चविंशोऽध्यायः

(मण्डपसभाविधानम्)

॥ श्रीः॥

दानवराजमयप्रणीतं

मयमतम्

शिवार्पिताहिन्दीव्याख्योपेतम्

M.Katyayana

अथ प्रथमोऽध्यायः

(संग्रहाध्यायः)

✹ मङ्गलाचरणम् ✹

प्रणम्य शिरसा देवं सर्वज्ञं जगदीश्वरम्।
तं पृष्ट्वास्मादलं श्रुत्वा शास्ति शास्त्रं यथाक्रमम्॥१॥

सर्वस्व के ज्ञाता, संसार के स्वामी देवता को सिर झुका कर प्रणाम करने के पश्चात् मैं (मय) ने उनसे (वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित) प्रश्न किया एवं उनसे पर्याप्त शास्त्र-श्रवण करने के पश्चात् क्रमानुसार उस शास्त्र का उपदेश करता हूँ।।१।।

तैतिलानां मनुष्याणां वस्त्वादीनां सुखोदयम्।
प्राज्ञो मुनिर्मयः कर्त्ता सर्वेषां वस्तुलक्षणम्॥२॥

देवों एवं मनुष्यों के सभी प्रकार के वास्तु आदि (भूमि, भवन एवं उपस्कर आदि) के विद्वान् स्थपति मय मुनि सुख प्रदान करने वाले सभी प्रकार के वास्तु के लक्षण का उपदेश करते हैं।।२।।

✹ ग्रन्थविषयसूचना ✹

आदौ वस्तुप्रकारं च भूपरीक्षापरिग्रहम्।
मानोपकरणं चैव शङ्कुस्थापनमार्गकम्॥३॥

वास्तुकार्य के प्रारम्भिक चरण में प्रथमतः ध्यातव्य तथ्य है—सर्वप्रथम भूमि एवं भवन के प्रकार (भेदों) का ज्ञान, तत्पश्चात् भूमि के गुण-दोषों की परीक्षा। उपयुक्त

भूमि के चयन के पश्चात् उसका मापन एवं इसके पश्चात् भूमि में शङ्कु की स्थापना की जाती है।।३।।

सपदं सुरविन्यासं बलिकर्मविधिं तथा।
ग्रामादीनां च विन्यासं लक्षणं नगरादिषु ॥४॥

इसके पश्चात् भूमि में वास्तुपद का विन्यास किया जाता है एवं पदों में वास्तु-देवों की स्थापना की जाती है। वास्तुदेवों का बलिकर्म विधि (किस देवता की पूजा किस सामग्री से की जाय, यही बलिकर्म विधि है) से पूजन किया जाता है। तत्पश्चात् नगर आदि में विविध प्रकार के ग्रामों का लक्षण एवं उनके विन्यास का वर्णन किया गया है (इसी भाँति नगर-योजना पर भी विचार किया गया है)।।४।।

भूलम्बस्य विधानं च गर्भविन्यासलक्षणम्।
उपपीठविधिं चैवाधिष्ठानानां तु लक्षणम् ॥५॥

इसके पश्चात् इस ग्रन्थ में भूलम्ब (गृह के तल), गर्भ-विन्यास, उपपीठ एवं गृह के अधिष्ठान के लक्षणों का वर्णन किया गया है।।५।।

स्तम्भानां लक्षणं चैव प्रस्तारस्य विधिक्रमम्।
सन्धिकर्मविधानं च शिखराणां तु लक्षणम् ॥६॥

भवननिर्माण के प्रसङ्ग में स्तम्भों का लक्षण, गृह की प्रस्तारविधि, भवन के विभिन्न अङ्गों की आपस में सन्धि एवं भवन के शिखरों के लक्षण वर्णित हैं।।६।।

एकभूमिविधानं च द्वितलस्य तु लक्षणम्।
त्रितलस्य विधानं च चतुर्भूम्यादिलक्षणम् ॥७॥

भवन के तलों के प्रसङ्ग में (विशेषत: मन्दिरनिर्माण में) एक तल का विधान, दूसरे तल का विधान, तीसरे तल का विधान एवं चतुर्थ तल आदि का विधान लक्षणों-सहित वर्णित है।।७।।

सप्रालं परिवाराणां गोपुराणां तु लक्षणम्।
मण्डपादिविधिं चैव शालानां चैव लक्षणम् ॥८॥

देवालय के सेवकों के आवास, गोपुर (मन्दिर का प्रवेश-मार्ग), मण्डपादिकों का विधान एवं शालाओं का लक्षण प्राप्त होता है।।८।।

गृहविन्यासमार्गं च गृहवेशनमेव च।
राजवेश्मविधानं च द्वारविन्यासलक्षणम् ॥९॥

इसके पश्चात् गृह-विन्यास-मार्ग, गृहप्रवेश, राजगृह का विधान एवं द्वारविन्यास का लक्षण वर्णित है।।९।।

यानानां शयनानां च लक्षणं लिङ्गलक्षणम् ।
पीठस्य लक्षणं सम्यगनुकर्मविधिं तथा ॥१०॥

तदनन्तर यान के लक्षण, शयन के लक्षण, लिङ्ग (देवलिङ्ग) एवं उनके पीठ के लक्षण एवं उसके अनुरूप उचित कर्म की विधि वर्णित है।।१०।।

प्रतिमालक्षणं देवदेवीनां मानलक्षणम् ।
चक्षुरुन्मीलनं चैव संक्षिप्याह यथाक्रमम् ॥११॥

देवालय के प्रसङ्ग में मूर्ति के लक्षण, देवता एवं देवियों के प्रमाण का लक्षण, नेत्रों के उन्मीलन की विधि क्रमानुसार संक्षेप में वर्णित है।।११।।

✱ ग्रन्थप्रामाण्यकथनम् ✱

पितामहाद्यैरमरैर्मुनीश्वरै-
र्यथा यथोक्तं सकलं मयेन तत् ।
तथा तथोक्तं सुधियां दिवौकसां
नृणां च युक्त्याखिलवस्तुलक्षणम् ॥१२॥

इति मयमते वास्तुशास्त्रे संग्रहाध्यायः प्रथमः

ब्रह्मा आदि देवों ने एवं श्रेष्ठ मुनियों ने जिस प्रकार विद्वानों, देवों एवं मनुष्यों के सम्पूर्ण भवनलक्षणों का उपदेश किया है, उसी प्रकार मय ऋषि ने उन सभी लक्षणों का वर्णन प्रस्तुत किया है।।१२।।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

(वस्तुप्रकारः)

✱ वस्तुभेदाः ✱

अमर्त्याश्चैव मर्त्याश्च यत्र यत्र वसन्ति हि।
तद् वस्त्विति मतं तज्ज्ञैस्तद्भेदं च वदाम्यहम् ॥१॥

आवास एवं भूमि के प्रकार—अमर (देव) एवं मरणधर्मा (मनुष्य) जहाँ-जहाँ निवास करते हैं, विद्वज्जन उसे वस्तु (वास्तु) कहते हैं। उन निवासस्थलों के भेदों का मैं (मय ऋषि) वर्णन करता हूँ।।१।।

भूमिप्रासादयानानि शयनं च चतुर्विधम्।
भूरेव मुख्यवस्तु स्यात्तत्र जातानि यानि हि ॥२॥

वास्तु चार प्रकार के होते हैं—भूमि, प्रासाद (देवालय), यान एवं शयन। इनमें प्रधान वास्तु भूमि ही है; क्योंकि शेष इसी से उत्पन्न होते हैं।।२।।

प्रासादादीनि वास्तूनि वस्तुत्वाद् वस्तुसंश्रयात्।
वस्तून्येव हि तान्येव प्रोक्तान्यस्मिन् पुरातनैः ॥३॥

प्रासाद आदि वास्तु प्रधान वस्तु (वास्तु) भूमि से उत्पन्न होने एवं उस पर आश्रित होने के कारण वास्तु ही हैं। इसी कारण प्राचीन आचार्यों ने इन्हें वास्तु की संज्ञा प्रदान की है।।३।।

वर्णगन्धरसाकारदिक्शब्दस्पर्शनैरपि।
परीक्ष्यैव यथायोग्यं गृहीतावधिनिश्चिता ॥४॥

(चारो वास्तुओं में प्रथमतः प्रधान वास्तु पर विचार करना चाहिये।) भवन-प्रासादादि के निर्माण के लिये भूमि की परीक्षा वर्ण (रंग), गन्ध, रस (स्वाद), आकृति, दिशा, शब्द एवं स्पर्श के द्वारा करनी चाहिये। परीक्षा के पश्चात् ही निर्माण-कार्य की आवश्यकता के अनुसार भूमि-ग्रहण करना चाहिये।।४।।

✱ भूमिभेदाः ✱

या सा भूमिरिति ख्याता वर्णानां च विशेषतः।
द्विविधं तत् समुद्दिष्टं गौणमङ्गीत्यनुक्रमात् ॥५॥

प्रत्येक वर्ण (ब्राह्मणादि) के अनुसार भूमि का वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से भूमि क्रमशः दो प्रकार की होती है—गौण एवं अङ्गी (प्रधान)।।५।।

ग्रामादीन्येव गौणानि भवन्त्यङ्गी मही मता।
सभा शाला प्रपा रङ्गमण्डपं मन्दिरं तथा ॥६॥

भूमि अङ्गी होती है तथा ग्रामादि गौण के अन्तर्गत आते हैं। सभागार, शाला, प्रपा (प्याऊ), रङ्गमण्डप एवं मन्दिर (प्रासाद होते हैं)।।६।।

प्रासाद इति विख्यातं शिबिका गिल्लिका रथम्।
स्यन्दनं चैवमानीकं यानमित्युच्यते बुधैः ॥७॥

इन्हें प्रासाद कहते हैं। शिबिका, गिल्लिका, रथ, स्यन्दन एवं आनीक को यान कहा जाता है।।७।।

मञ्चं मञ्चिलिका काष्ठं पञ्जरं फलकासनम्।
पर्यङ्कं बालपर्यङ्कं शयनं चैवमादिकम् ॥८॥

शयन के अन्तर्गत मञ्च (सिंहासन), मञ्चिलिका (दीवान), काष्ठ (काठ के आसन), पञ्जर (पिंजरा), फलकासन (बेञ्च), पर्यङ्क (पलंग), बालपर्यङ्क आदि ग्रहण किये जाते हैं।।८।।

✹ भूप्राधान्ये हेतुः ✹

चतुर्णामधिकाराणां भूरेवादौ प्रवक्ष्यते।
भूतानामादिभूतत्वादाधारत्वाज्जगत्स्थितेः ॥९॥

उपर्युक्त चारो में प्रथम स्थान भूमि का कहा जाता है; क्योंकि भूतों (पञ्च महाभूतों) में प्रथम स्थान भूमि का है, संसार की स्थिति इसी पर है एवं यही सबका आधार है।।९।।

✹ वर्णानुरूपा भूमिः ✹

चतुरस्रं द्विजातीनां वस्तु श्वेतमनिन्दितम्।
उदुम्बरद्रुमोपेतमुत्तरप्रवणं वरम् ॥१०॥

ब्राह्मणों के लिये प्रशस्त भूमि के लक्षण इस प्रकार हैं—भूमि चौकोर (लम्बाई-चौड़ाई का प्रमाण सम) हो, मिट्टी का रंग श्वेत हो, उदुम्बर के वृक्ष से (गूलर) युक्त हो एवं भूमि का ढलान उत्तर दिशा की ओर रहे।।१०।।

कषायमधुरं सम्यक् कथितं तत् सुखप्रदम्।
व्यासाष्टांशाधिकायामं रक्तं तिक्तरसान्वितम् ॥११॥

कषाय-मधुर स्वाद वाली भूमि (ब्राह्मणों के लिये) सुखद कही गयी है। क्षत्रियों के लिये श्रेष्ठ भूमि के लक्षण इस प्रकार हैं—भूमि लम्बाई में चौड़ाई से आठ भाग अधिक हो, मिट्टी का रंग लाल हो एवं स्वाद में तिक्त हो।।११।।

प्राङ्‌निम्नं तत् प्रविस्तीर्णमश्वत्थद्रुमसंयुतम् ।
प्रशस्तं भूभृतां वस्तु सर्वसम्पत्करं सदा ॥१२॥

पूर्व की ओर ढलान वाली, विस्तृत, पीपल के वृक्ष से समन्वित भूमि राजाओं (क्षत्रियों) के लिये शुभ एवं सर्वदा सभी प्रकार की सम्पत्ति प्रदान करने वाली कही गई है।।१२।।

षडंशेनाधिकायामं पीतमम्लरसान्वितम् ।
प्लक्षद्रुमयुतं पूर्वावनतं शुभदं विशाम् ॥१३॥

लम्बाई चौड़ाई से छः भाग अधिक हो, मिट्टी का रंग पीला हो, उसका स्वाद खट्टा हो, प्लक्ष (पाकड़) के वृक्ष से युक्त हो एवं पूर्व दिशा की ओर ढलान हो—ऐसी भूमि वैश्य वर्ण के लिये प्रशस्त कही गई है।।१३।।

चतुरंशाधिकायामं वस्तु प्राक्प्रवणान्वितम् ।
कृष्णं तत् कटुकरसं न्यग्रोधद्रुमसंयुतम् ।
प्रशस्तं शूद्रजातीनां धनधान्यसमृद्धिदम् ॥१४॥

लम्बाई चौड़ाई से चार भाग अधिक हो, पूर्व दिशा की ओर ढलान हो, मिट्टी का रंग काला हो तथा स्वाद कड़वा हो, भूमि पर बरगद के वृक्ष हों। इस प्रकार की भूमि शूद्र वर्ण वालों को धन-धान्य एवं समृद्धि प्रदान करती है।।१४।।

एवं प्रोक्तो वस्तुभेदो द्विजानां भूपानां वै वैश्यकानां परेषाम् ।
योग्यं सर्वं भूसुराणां सुराणां भूपानां तच्छेषयोरुक्तनीत्या ॥१५॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे वस्तुप्रकारो
नाम द्वितीयोऽध्यायः

इस प्रकार ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के अनुरूप वास्तु (भूमि) के प्रकार का वर्णन किया गया है। देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के लिये सभी प्रकार की भूमियाँ प्रशस्त होती हैं (यह उपर्युक्त मत का विकल्प है); किन्तु शेष दो (वैश्य एवं शूद्र) को अपने अनुरूप भूमि का ही चयन करना चाहिये।।१५।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

वास्तु के प्रकार (श्लोक-१-३)

वास्तु के अन्तर्गत जिन विषयों का अध्ययन अभिप्रेत है, उनका उल्लेख अन्य वास्तुग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। उनमें से कुछ उल्लेखनीय प्रसङ्ग इस प्रकार हैं—

(क) मानसार के अनुसार पृथिवी, भवन, यान एवं पर्यङ्क (आसन) वस्तु अथवा वास्तु हैं—

तैतिलाश्च नराश्चैव यस्मिन्यस्मिन् परिस्थिताः।
तद्वस्तु सूरिभिः प्रोक्तं तथा वै वक्ष्यतेऽधुना।।

धराहर्म्यादि यानं च पर्यङ्कादि चतुर्विधम्।
धरा प्रधानवस्तु स्यात्तत्तज्जातिषु सर्वशः।। (३.१-२)

(ख) समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार देश, पुर, निवास, सभा तथा वेश्मासन वास्तु के अन्तर्गत परिगणित हैं—

देशः पुरं निवासश्च सभा वेश्मासनानि च।
यद्यदीदृशमन्यच्च तत्तच्छ्रेयस्करं मतम्।।

वास्तुशास्त्रादृते तस्य न स्याल्लक्षणनिश्चयः।
तस्माल्लोकस्य कृपया शास्त्रमेतदुदीर्यते।। (१.४-५)

(ग) विश्वकर्मा के अनुसार देवों, मनुष्यों एवं गज आदि पशुओं की निवास-भूमि एवं भवन-निर्माण में प्रयुक्त इष्टका तथा शिला आदि वास्तु पद से अभिहित हैं—

देवतानां नराणाञ्च गजगोवाजिनामपि।
निवासभूमिश्शिल्पज्ञैर्वास्तुसंज्ञमितीर्यते ।।१।।

* * * * * * * * * * * *

इष्टिका च शिला दारुरयःकीलादयोऽप्यमी।
वास्तुकर्मणि चान्यत्र वास्तुसंज्ञमुदीरितम्।।६१।।

(विश्वकर्मवास्तुशास्त्र-७)

इनके अतिरिक्त (२.३२-४०) वास्तु के शिल्पगत भेदों में ग्राम, पुरी, खेट, कर्वट, दुर्ग, प्रासाद, हर्म्य, न्यायशाला, सभा, कोशागार, अन्तःपुर, शस्त्रागार, क्रीडागृह, तोरण, मञ्चिक, अधिष्ठान, उपपीठ, गोपुर, सङ्कीर्णभवन, पताका, पारिभद्रक, चारों वर्णों के गृह, वेदिका, पोतिका, स्तम्भ, मण्डप, विमान एवं प्राकार आदि का वर्णन प्राप्त होता है।

अथ तृतीयोऽध्याय:

(भूपरीक्षा)

❋ अनिन्द्या भू: ❋

देवानां तु द्विजातीनां चतुरस्रायता: श्रुता: ।
वस्त्वाकृतिरनिन्द्या सावाक्प्रत्यग्दिक्समुन्नता ॥१॥

देवों एवं ब्राह्मणों के लिये आयताकार भूमि भी प्रशस्त होती है। भूमि की आकृति अनिन्दनीय होनी चाहिये एवं उसे दक्षिण तथा पश्चिम में ऊँची होनी चाहिये।।१।।

हयेभवेणुवीणाब्धिदुन्दुभिध्वनिसंयुता ।
पुन्नागजातिपुष्पाब्जधान्यपाटलगन्धकै: ॥२॥

भूमि अश्व, गज, वेणु, वीणा, समुद्र (जल) एवं दुन्दुभि वाद्य की ध्वनि से युक्त होनी चाहिये तथा पुन्नाग (नागकेसर), जाति-पुष्प (चमेली), कमल, धान्य एवं पाटल (गुलाब) के सुगन्ध से सुवासित होनी चाहिये।।२।।

पशुगन्धसमा श्रेष्ठा सर्वबीजप्ररोहिणी ।
एकवर्णा घना स्निग्धा सुखसंस्पर्शनान्विता ॥३॥

पशु के गन्ध के समान एवं जिस पर सभी प्रकार के बीज उगें, ऐसी भूमि श्रेष्ठ होती है। भूमि एक रंग की, सघन, कोमल एवं छूने में सुख प्रदान करने वाली होनी चाहिये।।३।।

बिल्वो निम्बश्च निर्गुण्डी पिण्डित: सप्तपर्णक: ।
सहकारश्च षड्वृक्षैरारूढा या समस्थला ॥४॥

जिस समतल भूमि पर बेल, नीम, निर्गुण्डी, पिण्डित, सप्तपर्णक (सप्तच्छद) एवं सहकार (आम)—ये छ: वृक्ष हों एवं भूमि समतल हो।।४।।

श्वेता रक्ता च पीता च कृष्णा कापोतसन्निभा ।
तिक्ता च कटुका चैव कषायलवणाम्लका ॥५॥

रंग में श्वेत, लाल, पीली तथा कपोत के समान काली, स्वाद में तिक्त, कड़वी, कसैली, नमकीन, खट्टी—।।५।।

मधुरा षड्रसोपेता सर्वसम्पत्करी धरा।
प्रदक्षिणोदकवती वर्णगन्धरसैः शुभा ॥६॥

एवं मीठी—इन छः स्वादों वाली भूमि सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ प्रदान करती है। रंग, गन्ध एवं स्वाद से युक्त जिस भूमि पर जलधारा का प्रवाह दाहिनी ओर हो, वह भूमि शुभ होती है।।६।।

पुरुषाञ्जलिमात्रे तु दृष्टतोया मनोरमा।
निष्कपाला निरुपला कृमिवल्मीकवर्जिता ॥७॥

(उत्खनन करने पर) पुरुषाञ्जलि-प्रमाण (पुरुष-प्रमाण) पर जल दिखाई पड़े, मन को अच्छी लगने वाली, कपालास्थि-विहीन, कंकड़-पत्थररहित, कीटों एवं दीमक की बाँबी आदि से विहीन—।।७।।

अस्थिवर्ज्या नसुषिरा तनुवालुकसंयुता।
अङ्गारैर्वृक्षमूलैश्च शूलैश्चापि पृथग्विधैः ॥८॥

हड्डी आदि से रहित, छिद्ररहित, महीन बालू वाली, जले कोयले, वृक्ष के मूल एवं किसी प्रकार के शूल से रहित—।।८।।

पङ्कसङ्करकूपैश्च दारुभिर्लोष्टकैरपि।
शर्कराभिरयुक्ता या भस्माद्यैस्तु तुषैरपि ॥९॥

कीचड़, धूल, कूप, काष्ठ, मिट्टी के ढेले एवं बालू, राख आदि से तथा भूसे से रहित—।।९।।

*** निन्द्या भूः ***

सा शुभा सर्ववर्णानां सर्वसम्पत्करी धरा।
दध्याज्यमधुगन्धा च तैलासृग्गन्धिका च या ॥१०॥

भूमि सभी वर्ण वालों के लिये शुभ एवं समृद्धि प्रदान करने वाली होती है। जो भूमि दधि, घृत, मधु (मद्य), तेल तथा रक्त गन्ध वाली होती है (वह भी प्रशस्त होती है)।।१०।। निन्द्या भूः

शवमीनपक्षिगन्धा सा धरा निन्दिता वरैः।
सभाचैत्यसमीपस्था नृपमन्दिरसंश्रिता ॥११॥

शव, मछली एवं पक्षी के गन्ध वाली भूमि अग्राह्य होती है। इसी प्रकार सभागार, चैत्य (ग्राम का प्रधान वृक्ष) एवं राजभवन के निकट की भूमि गृहनिर्माण की दृष्टि से त्याज्य होती है।।११।।

देवालयसमीपस्था　　　　कण्टकिद्रुमसंयुता ।
वृत्तत्रिकोणविषमा　　वज्राभा　　कच्छपोन्नता ॥१२॥

देवालय के निकट, काँटेदार वृक्ष से युक्त, वृत्ताकार, त्रिकोण, विषम (जिसकी आकृति असमान हो), वज्र के सदृश (कई कोण वाली) तथा कछुये के समान आकृति (बीच में ऊँची) वाली भूमि गृहनिर्माण के लिये प्रशस्त नहीं होती है।।१२।।

चण्डालावासगच्छाया　　　चर्मकारालयाश्रिता ।
एकद्वित्रिचतुर्मार्गा　　　　तरिताव्यक्तमार्गका ॥१३॥

जिस भूमि पर चाण्डाल (शव आदि से आजीविका चलाने वाले) के गृह की छाया पड़े, चर्म द्वारा आजीविका चलाने वाले के गृह के पास, एक, दो, तीन एवं चार मार्गो पर (एक-दो राजमार्गों, तिराहे एवं चौराहे) पर स्थित तथा जहाँ ठीक मार्ग न हों, ऐसे स्थान पर गृह-निर्माण प्रशस्त नहीं होता।।१३।।

निम्नं　यत्　पणवाकारं　पक्षीव　मुरजोपमम् ।
मत्स्याभं　तु　चतुष्कोणे　महावृक्षसमायुतम् ॥१४॥

मध्य में दबी, पणव (ढोल के सदृश एक वाद्य), पक्षी, मुरज (एक वाद्य) तथा मछली के समान आकार की भूमि तथा जहाँ चारो कोनों पर महावृक्ष लगे हों, ऐसी भूमि गृहनिर्माण के लिये उचित नहीं होती है।।१४।।

चैत्यवृक्षयुतं　　　　सालचतुष्कोणसमाश्रितम् ।
भुजङ्गनिलयं　　चैव　　सङ्करारामरमेव　　च ॥१५॥

ग्रामादि के प्रधान वृक्ष, जिसके चारो कोनों पर साल वृक्ष हों, सर्प के आवास के निकट एवं मिश्रित जाति के वृक्षों के बाग के पास की भूमि गृह-निर्माण के लिये अप्रशस्त होती है।।१५।।

श्मशानं　　चाश्रमस्थानं　　कपिसूकरसन्निभम् ।
वनोरगनिभं　　टङ्कं　　शूर्पोलूखलसन्निभम् ॥१६॥

श्मशान के क्षेत्र, आश्रमस्थान, बन्दर एवं सुअर के आकार की, वनसर्प के सदृश, कुठार की आकृति वाली, शूर्प एवं ऊखल की आकृति वाली भूमि त्याज्य होती है।।१६।।

शङ्खाभं　शङ्कुनाभं　च　बिडालकृकलासवत् ।
ऊषरं　　कृमिभिर्जुष्टं　　गृहगौलिसमाकृति ॥१७॥

शङ्ख, शङ्कु, विडाल, गिरगिट तथा छिपकली की आकृति वाली, ऊसर एवं कीड़े

लगी भूमि गृह-निर्माण के लिये त्याज्य होती है।।१७।।

अन्यदेवंविधं वस्तु निन्दितं वस्तुपाठकैः।
बहुप्रवेशमार्गं च मार्गविद्धं च गर्हितम् ॥१८॥

इसी प्रकार अन्य आकृति वाली भूमि, बहुत से प्रवेशमार्ग वाली एवं मार्ग से विद्ध भूमि विद्वानों द्वारा निन्दित है।।१८।।

यत् कर्म विहितं मोहादेवम्भूते तु वस्तुनि।
तन्महादोषहेतुः स्यात्सर्वथा तद्विवर्जयेत् ॥१९॥

यदि अज्ञानतावश ऐसी भूमि पर गृह बन भी जाय तो इससे महान् दोष उत्पन्न होता है। अत: सभी प्रकार से ऐसी भूमि का परित्याग करना चाहिये।।१९।।

✵ सर्वोत्कृष्टा भूः ✵

श्वेतासृक्पीतकृष्णा हयगजनिनदा षड्रसा चैकवर्णा
गोधान्याम्भोजगन्धोपलतुषरहितावाक्प्रतीच्युन्नता या।
पूर्वोदग्वारिसारा वरसुरभिसमा शूलहीनास्थिवर्ज्या
सा भूमिः सर्वयोग्या कणदररहिता सम्मताद्यैर्मुनीन्द्रैः ॥२०॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे भूपरीक्षा नाम तृतीयोऽध्यायः

श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण वर्ण वाली, अश्व एवं गज के निनाद से युक्त, मधुर आदि छ: स्वादों वाली, एक वर्ण की, गो-धान्य एवं कमल के गन्ध से युक्त, पत्थर एवं भूसे से रहित, दक्षिण एवं पश्चिम में ऊँची, पूर्व एवं उत्तर में ढलान वाली, श्रेष्ठ सुरभि के सदृश, शूल एवं अस्थि से रहित, कणद (धूल, बालू आदि) रहित भूमि सभी के लिये अनुकूल होती है, ऐसा सभी श्रेष्ठ मुनियों का विचार है।।२०।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

भूमि के प्रकार (श्लोक १-२०)

(क) शिल्परत्न पूर्वभाग, तृतीय अध्याय में भूमिपरिग्रह के प्रसङ्ग में चार प्रकार की भूमि—पूर्णा, सुपा (सुपद्मा), भद्रा एवं धूम्रा का उल्लेख प्राप्त होता है—

पूर्णा सुपद्मा च तथैव भद्रा धूम्रा च भूमिर्विहिता चतुर्धा।
वक्ष्ये च तासामपि लक्षणानि संक्षेपतो भूमिपरिग्रहार्थम्।। (३.४)

पूर्णा भूमि—

प्लक्षन्यग्रोधनिम्बार्जुनवकुलकुलस्थापनसाशोकनिष्पा-
वाङ्कोलैर्मालतीचम्पकतिलखदिरैः कोद्रवैर्मुद्रिता वा।
भूमिर्या भूधराधीश्वरशिखरगता पार्श्वसंस्थाथवाद्रेः
पूर्णा सा पुष्टिदात्री सुरनिलयसमा कल्पने स्वल्पतोया।। (३.५)

सुपद्मा भूमि—

कर्पूरागरुनालिकेरतिलकैर्दर्भैः कदम्बार्जुनै-
र्मालेयैः क्रमुकेक्षुकेतककुशैः कुन्दारविन्दोत्पलैः।
पूर्वोदक्प्लवशालिनी बहुजला वा या दरीदृश्यते
सेयं शान्तिकरी सुरेशयजने सूक्ता सुपद्मा मही।। (३-६)

भद्रा भूमि—

तीरं वारिनिधेः श्रिताथ सरितस्तीर्थस्य वा दक्षिणे
व्रीहिक्षेत्रविचित्रिताप्यदिशि यज्ञार्हाङ्घ्रिपैरङ्किता।
कीर्णा पुष्पफलप्रवालतरुभिर्योद्यानहृद्यापि वा
भद्रा सा परिगीयते वसुमती प्रीतिप्रदा यज्वनाम्।। (३-७)

धूम्रा भूमि—

अर्कैर्वेणुविभीतकैः स्नुहियुतैः श्लेष्मातकैः पीलुभिः
सङ्कीर्णा बहुशर्करा च कठिना गर्भान्विता सोषरा।
गृध्रश्येनवराहवायसशवाशाखामृगैः सन्ततं
जुष्टा यष्टुरनिष्टदा निगदिता धूम्रा मही सूरिभिः।। (३-८)

इसके अतिरिक्त भूमि के चार भेद और प्राप्त होते हैं—वारुणी, ऐन्द्री, आग्नेयी एवं वायवी—

वारुण्यैन्द्री तथाग्नेयी वायवी भूश्चतुर्विधा। (३-९)

वारुणी भूमि—

या कोमलतरुव्राता स्वतः पुष्पितकानना।
जलाशयैश्च सर्वत्र युक्ता भूर्वारुणी स्मृता।। (३-१०)

माहेन्द्री भूमि—

या क्षीरवृक्षबहुला सौम्ये यस्या जलं महत्।
व्रीहिक्षेत्रं च याम्यायां सा माहेन्द्री क्षितिः स्मृता।। (३-११)

आग्नेयी भूमि—

गृध्रकङ्कवराहर्क्षश्येनगोमायुवायसैः ।
संयुक्ता दूरपानीया भूराग्नेयी विनिन्दिता।। (३-१२)

वायवी भूमि—

अक्षस्नुहिकलिङ्गार्कपीलुश्लेष्मातकण्टकैः ।
युक्ता या निर्जला भूमिरशुभा वायवी स्मृता।। (३-१३)

वर्ण, गन्ध स्वाद के अनुसार भूमि—

विप्रादिक्रमतः कुशेषुवनदूर्वाकाशयुक्ता भुव-
स्तुल्यातानवितानसिन्धुररसाब्ध्यंशाधिदीर्घा अपि।
श्वेतापाटलपीतमेचकरुचश्चाज्यासृगन्नासवा-
मोदाः स्वादुकषायतिक्तकटुकास्वादान्विताश्च स्मृताः।। (३-१४)

(ख) विष्णुसंहिता (द्वादश पटल) में भी सुपद्मा, भद्रिका, पूर्णा एवं धूम्रा भूमि की चर्चा प्राप्त होती है तथा गुण के अनुसार तीन भेद—उत्तमा, अधमा एवं मध्यमा प्राप्त होते हैं—

त्रिधोत्तमाधमा मध्या चतुर्धा जातिभेदतः।
सुपद्मा भद्रिका पूर्णा धूम्रेत्यपि तथैव भूः।।२।।

वर्ण, गन्ध एवं स्वादादि के अनुसार भूमि—

विप्रादीनां स्मृता भूमिः सर्वेषा वोत्तमस्य या।
सिता रक्ता च पीता च कृष्णा विप्रादिभूस्तथा।।७।।

मधुरा च कषाया च तिक्ता च कटुका क्रमात्।
घृतासृक्चरुविड्गन्धा बहुवर्णा तु वर्जिता।।८।।

ग्रन्थकार ने (श्लोक-१०-१४) निन्दित भूमि के दोषों की भी चर्चा की है, जो मयमत के वर्णन की पुष्टि करता है।

(ग) विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (पञ्चम अध्याय) में गुणभेद के अनुसार उत्तमा, मध्यमा एवं अधमा (श्लोक-६) तीन प्रकार की भूमि का उल्लेख प्राप्त होता है। रस, वर्ण, स्पर्श, गन्ध एवं अन्य लक्षणों के अनुसार भूमि के भेद इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

ब्राह्मणी भूमि—

माधुर्यमृत्तिका भूमिर्देवविप्रहितप्रदा।
तथोदुम्बरवृक्षाढ्या श्वेतवर्णा च भूरपि।।८।।
(उदीच्याञ्च जलोपेता भूरियं चोत्तमा मता।)

क्षत्रिया भूमि—

कषायमृत्तिका भूमी रक्तवर्णा च भूरपि।।९।।

पूर्वभागजलोपेता तथाश्वत्थद्रुमान्विता।
विपुला लोहयुग्भूमिः क्षत्रियाणां हितप्रदा।।१०।।

वैश्यवर्णा भूमि—

नातिकृष्णा न रक्ता च प्लक्षद्रुमसमन्विता।
दक्षिणायां जलोपेता नातिनिम्नोन्नतस्थला।।११।।
भूरियं वैश्यजातीनां बलसम्पत्करा मता।

शूद्रा भूमि—

कटुमृत्स्ना कृष्णवर्णा वटवृक्षसमन्विता।।१२।।
वारुण्यामुदकोपेता शूद्राणां क्षेमकारिणी।

इनके अतिरिक्त भूमि के उत्तम गुणों का वर्णन (१४-२१) प्राप्त होता है एवं इसी के साथ भूमि के दोष (२३-२७) भी वर्णित हैं, जिनमें भूकम्प से प्रभावित एवं अग्नि से दग्ध भूमि का परित्याग विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

कम्पेन भेदिता भूमिरग्निदग्धा च सर्वतः। (५-२७)

अप्रशस्त भूमि की चर्चा समराङ्गणसूत्रधार (८.५२-६२) में विस्तार से प्राप्त होती है। अन्य वास्तुग्रन्थों में भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

(भूपरिग्रहः)

✵ भूग्रहणे कर्त्तव्यानि ✵

आकारवर्णशब्दादिगुणोपेतं भुवः स्थलम् ।
संगृह्य स्थपतिः प्राज्ञो दत्त्वा देवबलिं पुनः ॥१॥

निर्माण-हेतु भुमि का ग्रहण—आकार, रंग एवं शब्द आदि गुणों से युक्त भूमि का चयन करने के पश्चात् बुद्धिमान स्थपति को देवबलि (वास्तुदेवों की पूजा) करनी चाहिये। इसके पश्चात्—।।१।।

स्वस्तिवाचकघोषेण जयशब्दादिमङ्गलैः ।
अपक्रामन्तु भूतानि देवताश्च सराक्षसाः ॥२॥

वह स्वस्तिवाचक घोष एवं जय आदि मंगलकारी शब्दों के साथ इस प्रकार कहे—राक्षसों के साथ देवता एवं भूत (मानवेतर प्राणी) दूर हो जायँ।।२।।

वासान्तरं व्रजन्त्वस्मात् कुर्यां भूमिपरिग्रहम् ।
इति मन्त्रं समुच्चार्य विहिते भूपरिग्रहे ॥३॥

वे इस भूमि से अन्यत्र स्थान पर जाकर अपना निवास बनायें। हम इस भूमि को (गृहनिर्माण-हेतु) ग्रहण कर रहे हैं। इस मन्त्र का उच्चारण करते हुये ग्रहण की गई भूमि पर (अधोलिखित कार्य करना चाहिये)।।३।।

कृष्ट्वा गोमयमिश्राणि सर्वबीजानि वापयेत् ।
दृष्ट्वा तानि विरूढानि फलपक्वगतानि च ॥४॥

उस भूमि में हल चलवा कर गोबरमिश्रित सभी प्रकार के बीजों को उसमें बो देना चाहिये। उन बीजों को उगा हुआ एवं उनमें पके हुये फल देख कर—।।४।।

सवृषाश्च सवत्साश्च ततो गास्तत्र वासयेत् ।
यतो गोभिः परिक्रान्तमुपघ्राणैश्च पूजितम् ॥५॥

वृषभ एवं बछड़ों के साथ गायों को वहाँ बसा देना चाहिये; क्योंकि गायों के वहाँ चलने एवं सूँघने से वह भूमि पवित्र हो जाती है।।५।।

संहृष्टवृषनादैश्च निर्धौतकलुषीकृतम् ।
वत्सवक्त्रच्युतैः फेनैः संस्कृतं प्रस्नवैरपि ॥६॥

प्रसन्न वृषों के नाद से एवं बछड़ों के मुख से गिरे हुये फेन से भूमि परिष्कृत हो जाती है एवं उसके सभी दोष धुल जाते हैं।।६।।

स्नातं गोमूत्रसेकैश्च गोपुरीषैः सलेपनम् ।
च्युतरोमन्थनोद्गारैर्गोष्पदैः कृतकौतुकम् ॥७॥

गोमूत्र से सींची गई तथा गोबर से लीपी हुई, शरीर रगड़ने से गिरे हुये रोमों से युक्त तथा गायों के पैरों द्वारा किये गये खेल से भूमि (शुद्ध हो जाती है।)।।७।।

गोगन्धेन समाविष्टं पुण्यतोयैः शुभं पुनः ।
तथा पुण्यतिथोपेते नक्षत्रविषये शुभे ॥८॥

गाय के गन्ध से युक्त, इसके पश्चात् पुण्यजल से पुनः पवित्र की गई भूमि पर (निर्माणकार्य के लिये) शुभ तिथि से युक्त नक्षत्र का विचार करना चाहिये।।८।।

करणे च सुलग्ने च मुहूर्त्ते च बुधेप्सिते ।
अक्षतैः श्वेतपुष्पैश्च बलिकर्म विधीयते ॥९॥

विद्वानों द्वारा सुविचारित शुभ करण, मुहूर्त एवं सुन्दर लग्न में अक्षत एवं श्वेत पुष्पों से वास्तुदेवों का पूजन करना चाहिये।।९।।

ब्राह्मणैश्च यथाशक्त्या वाचयेत् स्वस्तिवाचकम् ।
वस्तुमध्ये ततस्तस्मिन् खानयेद् वसुधातलम् ॥१०॥

ब्राह्मणों द्वारा यथाशक्ति स्वस्तिवाचन कराना चाहिये। इसके पश्चात् वास्तुक्षेत्र के मध्य में पृथिवीतल की खुदाई करनी चाहिये।।१०।।

अरत्निमात्रगम्भीरं चतुरस्रसमन्वितम् ।
दिग्भागस्थमसम्भ्रान्तमसंक्षिप्तसमुच्छ्रयम् ॥११॥

वास्तु के मध्य में एक हाथ गहरा, चौकोर, जिसकी दिशायें ठीक हों, दोषरहित गड्ढा खोदना चाहिये। यह गड्ढा सँकरा नहीं होना चाहिये तथा न ही बहुत गहरा होना चाहिये।।११।।

अर्चयित्वा यथान्यायं तं कूपमभिवन्द्य च ।
चन्दनाक्षतमिश्रेण सर्वरत्नोदकेन च ॥१२॥

इसके पश्चात् यथोचित विधि से पूजा करके तथा उस गड्ढे की वन्दना करने के पश्चात् चन्दन एवं अक्षतमिश्रित तथा सभी रत्नों से युक्त जल को—।।१२।।

पयसा तु ततः प्राज्ञो निशादौ परिपूरयेत्।
तस्य कूपस्य चाभ्याशे शुचिर्भूत्वा समाहितः॥१३॥
भूमौ दर्भावकीर्णायां संविशेत् प्राक्शिरा बुधः।

बुद्धिमान् मनुष्य को रात्रि के प्रारम्भ में गड्ढे में डालते हुये उसे जल से पूर्ण करना चाहिये। इसके पश्चात् पवित्र होकर सावधान मन से गड्ढे के पास भूमि पर कुश बिछा कर पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठ जाना चाहिये।।१३।।

अयं मन्त्रः—

अस्मिन् वस्तुनि वर्धस्व धनधान्येन मेदिनि! ॥१४॥
उत्तमं वीर्यमास्थाय नमस्तेऽस्तु शिवा भव।
उपवासमुपक्रामेदेतं मन्त्रं जपंस्ततः ॥१५॥

उपवास करते हुये इस मन्त्र का जप करना चाहिये। मन्त्र इस प्रकार है—हे पृथिवी, इस भूमि पर उत्तम समृद्धि स्थापित कर इसे धन-धान्य से वृद्धि प्रदान करो। तुम कल्याणकारी बनो, तुम्हें प्रणाम।।१४-१५।।

❋ उत्तमादिभूलक्षणम् ❋

अह्न आदौ परीक्षेत तं कूपं स्थपतिर्बुधः।
सावशेषं जलं दृष्ट्वा तद् ग्राह्यं सर्वसम्पदे॥१६॥

बुद्धिमान् स्थपति को दिन होने पर प्रथमतः उस गड्ढे की परीक्षा करनी चाहिये। इसमें जल बचा हुआ देख कर सभी प्रकार की सम्पत्तियों के लिये उस भूमि को निर्माणहेतु ग्रहण करना चाहिये।।१६।।

क्लिन्ने वस्तुविनाशाय शुष्के धान्यधनक्षयः।
पूरिते तन्मृदा खाते समता मध्यमा मता॥१७॥

भूमि यदि गीली रहे तो उस पर निर्मित गृह में विनाश होता है। यदि शुष्क रहे तो उस गृह में धन-धान्य की हानि होती है। यदि उस गड्ढे के खोदने से निकली मिट्टी से उसे भरा जाय एवं पूरी मिट्टी उसमें समा जाय तो भूमि को मध्यम श्रेणी का समझना चाहिये।।१७।।

उत्तमा भूर्मृदाधिक्या हीना हीना मृदा मही।
तन्मध्यावटसन्दृष्टप्रदक्षिणचरोदकाम् ।
सुरभिप्रतिमां भूमिं गृह्णीयात् सर्वसम्पदे॥१८॥

यदि मिट्टी से गड्ढा भर जाय एवं मिट्टी बच भी जाय अर्थात् मिट्टी अधिक हो तो

भूमि उत्तम, यदि गड्ढा भी न भरे एवं मिट्टी समाप्त हो जाय अर्थात् मिट्टी गड्ढा भरने में कम पड़े तो भूमि हीन कोटि की होती है। उस गड्ढे के मध्य में यदि जल दाहिनी ओर घूम कर बहे तो इस प्रकार की सुरभि की मूर्ति के सदृश वाली भूमि सर्वसम्पत्ति-कारक होती है।।।१८।।

एवं यथोक्तविधिना विविधं विदित्वा
ग्रामाग्रहारपुरपत्तनखर्वटानि ।
स्थानीयखेटनिगमानि तथेतराणि
यः संविविक्षुरवनीग्रहणं विदध्यात् ॥१९॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे भूपरिग्रहो
नाम चतुर्थोऽध्यायः

इसे निर्माण-हेतु ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार पूर्वोक्त विधि से विविध प्रकार की भूमियों का ज्ञान कर व्यक्ति को ग्राम, अग्रहार, पुर, पत्तन, खर्वट, स्थानीय, खेट, निगम एवं अन्य की स्थापना के लिये भूमि का ग्रहण करना चाहिये।।१९।।

अथ पञ्चमोऽध्याय:

(मानोपकरणम्)

सर्वेषामपि वास्तूनां मानेनैव विनिश्चय: ।
तस्मान्मानोपकरणं वक्ष्ये संक्षेपत: क्रमात् ॥१॥

भूमि-मापन के उपकरण—सभी प्रकार के वास्तुओं (भूमि एवं भवन) का निर्धारण मान या प्रमाण से ही किया जाता है; अत: मैं (मय ऋषि) संक्षेप में मापन के उपकरणों के विषय में बतलाता हूँ।।१।।

परमाणुक्रमाद् वृद्धं मानाङ्गुलमिति स्मृतम् ।
परमाणुरिति प्रोक्तं योगिनां दृष्टिगोचरम् ॥२॥

(मापन की प्रथम इकाई) अङ्गुल-माप परमाणुओं के क्रमश: वृद्धि से होती है। परमाणुओं का दर्शन योगी-जनों को होता है, ऐसा शास्त्रों में कहा गया है।।२।।

परमाणुभिरष्टाभी रथरेणुरुदाहृत: ।
रथरेणुश्च वालाग्रं लिक्षायूकायवास्तथा ॥३॥

आठ परमाणुओं के मिलने से एक 'रथरेणु' (धूल का कण), आठ रथरेणुओं के मिलने से एक 'बालाग्र' (बाल की नोक), आठ बालाग्र से एक 'लिक्षा', आठ लिक्षा से एक 'यूका' एवं आठ यूका से एक 'यव' रूपी माप बनता है।।३।।

क्रमशोऽष्टगुणै: प्रोक्तो यवाष्टगुणितोऽङ्गुलम् ।
अङ्गुलं तु भवेन्मात्रं वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलम् ॥४॥

उपर्युक्त माप क्रमश: आठ गुना बढ़ते हुये 'यव' बनते हैं। यव का आठ गुना 'अङ्गुल' माप होता है। बारह अङ्गुल माप को 'वितस्ति' (बित्ता) कहते हैं।।४।।

तद्द्वयं हस्तमुद्दिष्टं तत् किष्क्विति मतं वरै: ।
पञ्चविंशतिमात्रं तु प्राजापत्यमिति स्मृतम् ॥५॥

दो वितस्ति का एक 'हस्त' होता है, जिसे 'किष्कु' भी कहा गया है। पच्चीस हाथ का एक 'प्राजापत्य' होता है।।५।।

षड्विंशतिर्धनुर्मुष्टि: सप्तविंशद्धनुर्ग्रह: ।
याने च शयने किष्कु: प्राजापत्यं विमानके ॥६॥

छब्बीस हाथ की एक 'धनुर्मुष्टि' तथा सत्ताईस हाथ से एक 'धनुर्ग्रह' माप बनता है। यान (वाहन) तथा शयन (आसन एवं शय्या) में किष्कु माप तथा विमान में प्राजापत्य माप का प्रयोग होता है।।६।।

वास्तूनां तु धनुर्मुष्टिर्ग्रामादीनां धनुर्ग्रहः ।
सर्वेषामपि वास्तूनां किष्कुरेवाथवा मतः ।।७।।

वास्तुनिर्माण में 'धनुर्मुष्टि' माप का तथा ग्रामादि के मापन में 'धनुर्ग्रह' प्रमाण का प्रयोग होता है। अथवा सभी प्रकार के वास्तु-कर्म में 'किष्कु' प्रमाण का प्रयोग किया जा सकता है।।७।।

रत्निश्चैवमरत्निश्च भुजो बाहुः करः स्मृतः ।
हस्ताश्चतुर्धनुर्दण्डो यष्टिश्चैव प्रकीर्तितः ।।८।।

हस्त माप को 'रत्नि', 'अरत्नि', 'भुज', 'बाहु' एवं 'कर' कहते हैं। चार हस्त से 'धनुर्दण्ड' माप बनता है। इसी को 'यष्टि' भी कहते हैं।।८।।

दण्डेनाष्टगुणा रज्जुर्दण्डैर्ग्रामं च पत्तनम् ।
नगरं निगमं खेटं वेश्मादीन्यपि मानयेत् ।।९।।

आठ दण्ड (यष्टि) को 'रज्जु' कहा जाता है। दण्डमाप से ही ग्राम, पत्तन, नगर, निगम, खेट एवं वेश्म (भवन) आदि का मापन करना चाहिये।।९।।

गृहादीनां तु हस्तेन याने च शयने बुधैः ।
वितस्तिना विधातव्यं क्षुद्राणामङ्गुलेन तु ।।१०।।

गृहादि का माप हस्त से, यान एवं शयन का मापन वितस्ति (बित्ता) से एवं छोटी वस्तुओं का मापन अङ्गुल से करना चाहिये, ऐसा विद्वानों का मत है।।१०।।

यवेनाल्पीयसां मानमेवं मानक्रमं विदुः ।
मध्यमाङ्गुलिमध्यस्थपर्वमात्रायतं तु यत् ।।११।।

'यव' माप से अत्यन्त छोटी वस्तुओं का मापन किया जाता है। यह मध्यमा अङ्गुलि में बीच वाले पर्व के बराबर (अङ्गुलि के मध्य के जोड़ के ऊपर बनी यव की आकृति) होता है।।११।।

कर्तुर्मात्राङ्गुलं प्रोक्तं यागादीनां प्रशस्यते ।
देहलब्धाङ्गुलं यत्तदुपरिष्टाद् विधीयते ।।१२।।

इस माप को 'मात्राङ्गुल' कहते हैं। इसका प्रयोग यज्ञ में किया जाता है एवं यह माप यज्ञकर्ता की अङ्गुलि से लिया जाता है। इसे 'देहलब्धाङ्गुल' भी कहते हैं।।१२।।

एवमेवं विदित्वा तु स्थपतिर्मानयेद् दृढम्।

इस प्रकार माप का ज्ञान करने के पश्चात् स्थपति को दृढ़तापूर्वक (सावधानी पूर्वक) मापनकार्य करना चाहिये।।

❋ शिल्पिलक्षणम् ❋

भवन्ति शिल्पिनो लोके चतुर्धा स्वस्वकर्मभिः ॥१३॥

संसार में अपने-अपने कार्यों के अनुसार चार प्रकार के शिल्पी होते हैं।।१३।।

स्थपतिः सूत्रग्राही च वर्धकिस्तक्षकस्तथा।
प्रसिद्धदेशसङ्कीर्णजातिजोऽभीष्टलक्षणः ॥१४॥

चार प्रकार के शिल्पी—स्थपति, सूत्रग्राही, वर्धकि (बढ़ई) एवं तक्षक (छीलने, काटने एवं आकृतियाँ उकेरने वाले) होते हैं। ये सभी (स्थापत्यादि कर्म के लिये) प्रसिद्ध स्थान वाले, सङ्कीर्ण जाति से उत्पन्न एवं अपने कार्यों के लिये अभीष्ट गुणों से युक्त होते हैं।।१४।।

❋ स्थपतिः ❋

स्थपतिः स्थापनार्हः स्यात् सर्वशास्त्रविशारदः।
न हीनाङ्गोऽतिरिक्ताङ्गो धार्मिकस्तु दयापरः ॥१५॥

'स्थपति'संज्ञक शिल्पी को भवन की स्थापना में योग्य एवं (गृह-निर्माण के सहायक) अन्य शास्त्रों का भी ज्ञाता होना चाहिये। शारीरिक दृष्टि से सामान्य से न कम अङ्गों वाला तथा न ही अधिक अङ्गों वाला (अर्थात् सर्म्पूण रूप से स्वस्थ), धार्मिक वृत्ति वाला एवं दयावान होना चाहिये।।१५।।

अमात्सर्योऽनसूयश्चातन्द्रितस्त्वभिजातवान्।
गणितज्ञः पुराणज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥१६॥

स्थपति को द्वेषरहित, ईर्ष्यारहित, सावधान, आभिजात्य गुणों से युक्त, गणित तथा पुराणों का ज्ञाता, सत्यवक्ता एवं इन्द्रियों को वश में रखने वाला होना चाहिये।।१६।।

चित्रज्ञः सर्वदेशज्ञश्चान्नदश्चाप्यलुब्धकः।
अरोगी चाप्रमादी च सप्तव्यसनवर्जितः ॥१७॥

स्थपति को चित्रकर्म (गृह के नक्शा आदि बनाने) में निपुण, सभी देशों का ज्ञाता (स्थान के भूगोल का ज्ञाता), (अपने सहायकों को) अन्न देने वाला, अलोभी, रोगरहित, आलस्य एवं भूल न करने वाला तथा सात प्रकार के व्यसनों (वाचिक आघात पहुँचाना, सम्पत्ति के लिये हिंसा का मार्ग अपनाना, शारीरिक चोट पहुँचाना,

शिकार, जुआ, स्त्री एवं सुरापान—अर्थशास्त्र-८.३.२३,३२) से रहित होना चाहिये।

✷ सूत्रग्राही ✷

सुनामा दृढबुद्धिश्च वास्तुविद्याब्धिपारगः ।
स्थपतेस्तस्य शिष्यो वा सूत्रग्राही सुतोऽथवा ॥१८॥

'सूत्रग्राही' स्थपति का पुत्र या शिष्य होता है। उसे यशस्वी, दृढ़ मानसिकता से युक्त एवं वास्तु-विद्या में पारंगत होना चाहिये।।१८।।

स्थपत्याज्ञानुसारी च सर्वकर्मविशारदः ।
सूत्रदण्डप्रपातज्ञो मानोन्मानप्रमाणवित् ॥१९॥

सूत्रग्राही को स्थपति की आज्ञानुसार कार्य करने वाला एवं (स्थापत्यसम्बन्धी) सभी कार्यों का ज्ञाता होना चाहिये। उसे सूत्र एवं दण्ड के प्रयोग का ज्ञाता एवं विविध प्रकार के मापन मान-उन्मान (लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई एवं उनके उचित अनुपात) का ज्ञाता होना चाहिये।।१९।।

✷ तक्षकः ✷

शैलदार्विष्टकादीनां सूत्रग्राहिवशानुगः ।
तक्षणात् स्थूलसूक्ष्माणां तक्षकः स तु कीर्तितः ॥२०॥

पत्थर, काष्ठ एवं ईंट आदि को मोटा एवं पतला काटने के कारण वह शिल्पी 'तक्षक' कहलाता है। यह सूत्रग्राही की इच्छानुसार कार्य करता है।।२०।।

✷ वर्धकिः ✷

मृत्कर्मज्ञो गुणी शक्तः सर्वकर्मस्वतन्त्रकः ।
तक्षितानां तक्षकानामुपर्युपरि युक्तितः ॥२१॥

वर्धकि मृत्तिका के कर्म (गृहनिर्माण) का ज्ञाता, गुणवान, अपने कार्य में समर्थ, अपने क्षेत्र से सम्बद्ध सभी कार्यों को स्वतन्त्रतापूर्वक करने वाला, तक्षक द्वारा काटे-छाँटे गये सभी टुकड़ों को युक्तिपूर्वक जोड़ सकता है।।२१।।

वृद्धिकृद् वर्धकिः प्रोक्तः सूत्रग्राह्यनुगः सदा ।
कर्मिणो निपुणाः शुद्धा बलवन्तो दयापराः ॥२२॥

सर्वदा सूत्रग्राही के अनुसार कार्य करने वाला शिल्पी 'वर्धकि' कहा जाता है। इस प्रकार ये सभी शिल्पी कार्य करने वाले, अपने कार्यों में कुशल, शुद्ध, बलवान, दयावान होते हैं।।२२।।

गुरुभक्ताः सदा हृष्टाः स्थपत्याज्ञानुगाः सदा ।
तेषामेव स्थपत्याख्यो विश्वकर्मेति संस्मृतः ॥२३॥

ये सभी शिल्पी अपने गुरु (प्रधान स्थपति) का सम्मान करने वाले, सदा प्रसन्न रहने वाले एवं सदैव स्थपति की आज्ञा का अनुसरण करने वाले होते हैं। उनके लिये स्थपति ही विश्वकर्मा माना जाता है।।२३।।

एभिर्विना हि सर्वेषां कर्म कर्तुं न शक्यते।
तस्मादेतत् सदा पूज्यं स्थपत्यादिचतुष्टयम् ॥२४॥

उपर्युक्त (सूत्रग्राही, तक्षक एवं वर्धकि) शिल्पियों के विना स्थपति (भवन-निर्माणसम्बन्धी) सभी कार्य नहीं कर सकता है। इसलिये स्थपति आदि चारो शिल्पियों का सदा सत्कार करना चाहिये।।२४।।

एभिः स्थपत्यादिभिरत्र लोके विना ग्रहीतुं सुकृतं न शक्यम्।
तैरेव सार्धं गुरुणाऽथ तस्माद् भजन्ति मोक्षं भवतस्तु मर्त्याः ॥२५॥

इति मयमते मानोपकरणं नाम पञ्चमोऽध्यायः

इस संसार में इन स्थपति आदि को ग्रहण किये विना कोई भी (निर्माणसम्बन्धी) सुन्दर कार्य सम्भव नहीं है। अतः तीनों शिल्पियों को उनके गुरु (प्रधान स्थपति) के साथ ग्रहण करना चाहिये। इसी से मनुष्य संसार (शीत, धूप, वर्षा एवं गृह के अभाव में होने वाले कष्टों) से मुक्ति प्राप्त करते हैं।।२५।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

माप-विधान (श्लोक १-१२)

१. माप के विवरण के विषय में मत्स्यपुराण (अ. २५८) उल्लेखनीय है। इसके अनुसार जाली के भीतर से सूर्य-रश्मियों के प्रविष्ट होने पर जो उड़ता हुआ धूलिकण स्पष्ट दिखाई पड़ता है, उसे 'त्रसरेणु' कहते हैं। आठ त्रसरेणु का एक बालाग्र, आठ बालाग्र से एक लिख्या, आठ लिख्या से एक यूका, आठ यूका से एक यव तथा आठ यव से एक अङ्गुल होता है—

जालान्तरप्रविष्टानां भानूनां यद्रजःस्फुटम्।
त्रसरेणुः स विज्ञेयो बालाग्रं तैरथाष्टभिः।।१७।।

तदष्टकेन लिख्या तु यूका लिख्याष्टकैर्मता।
यवो यूकाष्टकं तद्वदष्टभिस्तैस्तदङ्गुलम्।।१८।।

२. राजवल्लभमण्डन (१.३९) के अनुसार बारह अङ्गुल का एक ताल (बालिश्त, बित्ता), दो ताल का एक हस्त, पौने दो हाथ का एक किष्कु, चार हाथ का चाप, दो सहस्र दण्ड का क्रोश, उसका दुगुना गव्यूतिका, दो गव्यूतिका का एक योजन तथा सौ योजन का एक कोटि होता है—

तालो द्वादशमात्रिकापरिमितस्तालद्वयं स्यात्करः
पादोनद्विकरोऽपि किष्कुरुदितश्चापं चतुर्भिः करैः।
क्रोशो दण्डसहस्रयुग्ममुदितो द्वाभ्यां च गव्यूतिका
ताभ्यां योजनमेव भूमिरखिला कोटिः शतं योजनैः।।

३. मापन के मूल में यव-मान प्रधान है। इससे अङ्गुल-माप प्राप्त होता है। समराङ्गणसूत्रधार एवं अपराजितपृच्छा में तीन प्रकार के—ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ अङ्गुल माप प्राप्त होते हैं; जो आठ, सात एवं छः यवों से निर्मित होते हैं—

(क) अष्टाभिः सप्तभिः षड्भिरङ्गुलानि यवोदरैः।
ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि तच्चतुर्विंशतिः करः।।
सोऽष्टभिः पर्वभिर्युक्तः करः कार्यो विजानता।
करस्यार्धं चतुःपर्वं शेषं स्यात् भक्तमङ्गुलैः।।
(समराङ्गणसूत्रधार ९.५-६)

(ख) ज्येष्ठं चाष्टयवैः प्रोक्तं मध्यमं सप्तभिर्यवैः।
स्यात्कनिष्ठं षड्यवैस्तु चतुर्विंशतिभिः करैः।।
(अपराजितपृच्छा-४१.९)

इसके अतिरिक्त अपराजितपृच्छा (अ. ४१) में परमाणु, केशाग्र, लिक्षा, यूका एवं यव मान की चर्चा भी प्राप्त होती है।

४. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (७.७२-७७) में मान की चर्चा प्राप्त होती है। परमाणु मान के अतिरिक्त शालि, व्रीहि, अङ्गुल, वितस्ति, हस्त, धनुर्मुष्टि, दण्ड, नृपदण्ड एवं ब्रह्मदण्ड का वर्णन प्राप्त होता है—

तस्मान्मानवमानन्तु प्रोच्यते फलदायि तत्।
शालिव्रीहिस्तु सर्वत्र सिद्धमानोदयो मतः।।७३।।
तैर्व्रीहिभिस्त्रिभिर्युक्तमङ्गुलं मानवं मतम्।
द्वादशाङ्गुलसंयुक्तो वितस्तिरभिधीयते।।७४।।
वितस्तिद्वयसंयुक्तं हस्तमानमुदीरितम्।
हस्तमानद्वयोपेतो धनुर्मुष्टिरितीरिता।।७५।।

धनुर्मुष्टिद्वयोपेतो दण्ड इत्यभिधीयते।
दण्डद्वयेन संयुक्तो नृपदण्ड इतीरितः।।७६।।

नृपदण्डद्वयोपेतो ब्रह्मदण्ड इति स्मृतः।
इत्यादि बहुधा मानं शास्त्रेषूक्तं मनीषिभिः।।७७।।

५. मानसार (२.२०-२६) में परमाणु, रथधूलि, वालाग्र, लिक्षा, यूका एवं यव की चर्चा प्राप्त होती है। छः, सात एवं आठ यव के माध्यम से कनिष्ठ, मध्यम एवं उत्तम अङ्गुल-मान प्राप्त होता है। अङ्गुल-मान से वितस्ति, किष्कु, हस्त, धनुर्ग्रह, धनुर्दण्ड, रज्जु आदि मान प्राप्त होते हैं। यवमान से प्राप्त मान इस प्रकार हैं—

मानमात्रं त्रिधा प्रोक्तं यववृद्धिविशेषतः।
षट्सप्ताष्टयवैरेतत्कनिष्ठो मध्यमोत्तमम्।।२४।।

अङ्गुलैर्द्वादशभिर्युक्तं वितस्तिः परिकीर्तितम्।
वितस्तियुग्मं किष्कुः स्यात्प्राजापत्योऽङ्गुलाधिका।।२५।।

षड्विंशत्यङ्गुलो हस्तो धनुर्मुष्टिरिति स्मृतम्।
सप्तविंशतिकाङ्गुल्यं हस्तमुक्तं धनुर्ग्रहः।।२६।।

चतुर्हस्तं धनुर्दण्डं दण्डाष्टं रज्जुमेव च।।२७।।

६. शिल्परत्न (२.१-१६) में भी मान का वर्णन किया गया है। यहाँ परमाणु, त्रसरेणु, बालाग्र, लिक्षा, जूका, यवमान प्राप्त होता है। छः, सात एवं आठ यवमान से अङ्गुलमान तथा शाली-मान से अङ्गुलमान की चर्चा की गई है। मात्राङ्गुल से मुष्टि, वितस्ति, किष्कु, कर, प्राजापत्य, धनुर्मुष्टि, चापग्रह, वैदेहक, वैपुल्य आदि करभेद, दण्ड, क्रोश, योजन, वंश, रज्जु, गजदण्ड, अरत्नि, अरणि, प्रादेश, ताल, गोकर्ण आदि मानों का वर्णन प्राप्त होता है।

शिल्पिलक्षण (श्लोक-१३-२४)

अन्य वास्तुग्रन्थों में स्थपति, सूत्रधार आदि शिल्पियों के लक्षण इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

१. समराङ्गणसूत्रधार (४४.१-२२) में स्थपति की विशेषताओं की विस्तार से चर्चा प्राप्त होती है। इसके अनुसार इसे शास्त्र, कर्म, प्रज्ञा से एवं शील से युक्त होना चाहिये। शास्त्रों में इसे सामुद्रिक, गणित, ज्योतिष, छन्द, सिरा, शिल्प एवं यन्त्रकर्म का ज्ञाता होना चाहिये—

शास्त्रं कर्म तथा प्रज्ञा शीलं च क्रिययान्वितम्।
लक्ष्यलक्षणयुक्तार्थशास्त्रनिष्ठो नरो भवेत्।।२।।

सामुद्रं गणितं चैव ज्योतिषं छन्द एव च।
सिराज्ञानं तथा शिल्पं यन्त्रकर्मविधिस्तथा।।३।।

एतान्यङ्गानि जानीयाद्वास्तुशास्त्रस्य बुद्धिमान्।।४।।

इसको शास्त्र के साथ कार्य का भी ज्ञान होना चाहिये—

यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः।।८।।

स मुह्यति क्रियाकाले दृष्ट्वा भीरुरिवाहवम्।
केवलं कर्म यो वेत्ति शास्त्रार्थं नाधिगच्छति।।९।।

सोऽचक्षुरिव नीयेत विवशोऽन्येन वर्त्मसु।।१०।।

स्थपति का शीलवान होना अत्यावश्यक चारित्रिक गुण है—

ज्ञानवांश्च तथा वाग्मी कर्मस्वपि च निष्ठितः।
एवं युक्तोऽपि न श्रेयान् यदि शीलविवर्जितः।।१६।।

२. राजवल्लभमण्डन (१.४१) में भी उपर्युक्त मत की पुष्टि प्राप्त होती है—

सुशीलः चतुरो दक्षः शास्त्रज्ञो लोभवर्जितः।
क्षमायुक्तो द्विजश्चैव सूत्रधारः स उच्यते।।

३. मनुष्यालयचन्द्रिका (१.११-१३) में स्थपति, सूत्रग्राही, तक्षक एवं वर्धक संज्ञक शिल्पियों के लक्षण इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

चतुर्धा कारवः—

स्थपतिः सूत्रग्राही तक्षकसंज्ञश्च वर्धकिः क्रमशः।
स्वोचितकर्मणि दक्षा ग्राह्यास्ते कारवश्चतुर्धेति।।११।।

स्थपतिः—

सर्वशास्त्रविहितक्रियापटुः सर्वदावहितमानसः शुचिः।
धार्मिको विगतमत्सरादिको यः स च स्थपतिरस्तु सत्यवाक्।।१२।।

अन्ये कारवः—

जानीयात् स्थापनार्हं स्थपतिमथ गुणैः प्रायशस्तेन तुल्यः
सूत्रग्राही सुतो वा स्थपतिमतिगतिप्रेक्षकः शिष्यको वा।
स्थूलानां तक्षणात्तक्षक इति कथितः सन्ततं हृष्टचित्तो
दार्वाद्यन्योऽन्यसम्मेलनपटुरुदितो वर्धकिः सावधानः।।१३।।

४. मानसार (२.१-१७) में स्थपतियों के उद्भव, उनके प्रकार, उनके वैशिष्ट्य आदि सभी पर अत्यन्त विस्तार से चिन्तन किया गया है। प्रथम स्थपति इस सृष्टि के सर्जक 'महाविश्वकर्मा' थे—

परः शिवसकाशाद्धि ब्रह्मा चेन्द्रोऽपि लोककृत्।।१।।

स महाविश्वकर्मेति त्वीश्वरेणैव कीर्तितः।
स एवायं विश्वकर्मा ब्रह्माण्डं सृजते मुहुः।।२।।

इस विश्वकर्मा के चार मुख थे। पूर्व दिशा के मुख का नाम विश्वभू, दक्षिणमुख विश्वविद्, उत्तरमुख विश्वस्थ एवं पश्चिममुख विश्वस्रष्टा था—

विश्वभूरिति नामैतत्पूर्ववक्त्रं प्रकीर्तितम्।
दक्षिणे विश्वविद्वक्त्रं विश्वस्थश्च तथोत्तरे।।४।।

पश्चिमे विश्वस्रष्टाख्यं वक्त्रमेवं चतुर्विधम्।
एतेभ्यः प्रथमो जातो विश्वकर्माचतुष्टयः।।५।।

इनसे चार कारवों (स्थपतियों, विश्वकर्माचतुष्टय)—विश्वकर्मा, मय, त्वष्टा एवं मनु की उत्पत्ति हुई। ये चारो क्रमशः इन्द्र, सुरेन्द्र, वैश्रवण एवं नल के पुत्र (२.७-८) कहे गये—

पूर्वानने विश्वकर्मा जायते दक्षिणे मयः।
उत्तरस्य मुखे त्वष्टा पश्चिमे तु मनुः स्मृतः।।६।।

विश्वकर्मा के पुत्र को स्थपति, मय के पुत्र को सूत्रग्राही, त्वष्टा के पुत्र को वर्धकी एवं मनु के पुत्र को तक्षक कहा गया है—

विश्वकर्माख्यनाम्नोऽस्य पुत्रः स्थपतिरुच्यते।
मयस्य तनयः सूत्रग्राहीति परिकीर्तितः।।९।।

त्वष्टुर्देव-ऋषेः पुत्रो वर्धकीरिति प्रकथ्यते।
मनोः पुत्रस्तक्षकः स्यात्स्थपत्यादिचतुष्टयम्।।१०।।

इनमें स्थपति को सभी शास्त्रों का ज्ञाता, सूत्रग्राही को मानसूत्र धारण करने वाला, वर्धकी को मानकर्म का ज्ञाता एवं तक्षक को छीलने-काटने का विशेषज्ञ कहा गया है—

स्थपतिः सर्वशास्त्रज्ञः सूत्रग्राहीति सूत्रधृत्।।१२।।

वर्धकीर्मानकर्मज्ञः तक्षणात्तक्षकः स्मृतः।।१३।।

५. वास्तुविद्या (१.१२-२०) में चारो स्थपति आदि का लक्षण इस प्रकार प्राप्त होता है—

स्थपति—

स्थपतिः स्थापनार्हः स्यात्सर्वशास्त्रविशारदः।
न हीनाङ्गोऽतिरिक्ताङ्गो धार्मिकस्तु दयापरः।
अमात्सर्योऽनसूयश्च तान्त्रिकस्त्वभिज्ञातवान्।।१३।।

गणितज्ञः पुराणज्ञः आनन्दात्माप्यलुब्धकः।
चित्रज्ञः सर्वदेशज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः।।१४।।

अरोगी चाप्रमादी च सप्तव्यसनवर्जितः।
सुनामा दृढबन्धुश्च वास्तुविद्याब्धिपारगः।।१५।।

सूत्रग्राही—

स्थपतेस्तस्य शिष्यो वा सूत्रग्राही सुतोऽथवा।
स्थपत्याज्ञानुसारी च सर्वकर्मविशारदः।।१६।।

सूत्रदण्डप्रमाणज्ञो मानोन्मानप्रमाणवित्।
तक्षितानां तक्षकेणाप्युपर्युपरि युक्तितः।।१७।।

वर्धकी (वर्धकि)—

वृद्धिकृद् वर्धकिः प्रोक्तः सूत्रग्राह्यनुगः सदा।।१८।।

तक्षक—

तक्षणात्स्थूलसूक्ष्माणां तक्षकः स तु कीर्तितः।।१८।।

मृत्कर्मज्ञो गुणी शक्तः सर्वकर्मस्वतन्त्रकः।
गुरुभक्तः सदा हृष्टः स्थपत्याद्यनुगः सदा।।१९।।

शिल्परत्न (१.२९-३३) में वर्णित स्थपति, सूत्रग्राही, तक्षक एवं वर्धकी के लक्षण वास्तुविद्या में वर्णित लक्षणों के ही सदृश हैं।

अथ षष्ठोऽध्याय:

(दिक्परिच्छेद:)

वक्ष्येऽहं दिक्परिच्छेदं शङ्कुनार्कोदये सति।
उत्तरायणमासे तु शुक्लपक्षे शुभोदये ॥१॥

दिशा-निर्धारण—मैं (मय) दिशा के निर्धारण के विषय में कहता हूँ। यह कार्य उत्तरायण मास में शुभ शुक्ल पक्ष में सूर्योदय होने पर शङ्कु द्वारा करना चाहिये।।१।।

प्रशस्तपक्षनक्षत्रे विमले सूर्यमण्डले।
गृहीतवास्तुमध्ये तु समं कृत्वा भुव: स्थलम् ॥२॥

शुभ पक्ष एवं नक्षत्र में सूर्यमण्डल के निर्मल रहने पर ग्रहण किये गये वास्तु के मध्य की भूमि को समतल करना चाहिये।।२।।

जलेन दण्डमात्रेण समं तु चतुरस्रकम्।

जिस स्थान पर शङ्कुस्थापन करना हो, उस स्थान से चारो दिशाओं में दण्डप्रमाण से चौकोर किये गये भूखण्ड को जल द्वारा समतल करना चाहिये।।

✷ शङ्कुलक्षणम् ✷

तन्मध्ये स्थापयेच्छङ्कुं तन्मानमधुनोच्यते ॥३॥

उस समतल भूमि के मध्य में शङ्कुस्थापन करना चाहिये। अब शङ्कु के प्रमाण का वर्णन किया जा रहा है।।३।।

अरत्निमात्रमायाममग्रमेकाङ्गुलं भवेत्।
मूलं पञ्चाङ्गुलं व्यासं सुवृत्तं निर्व्रणं वरम् ॥४॥

शङ्कु का लक्षण इस प्रकार है—यह एक हाथ लम्बा हो, शीर्ष पर इसका माप एक अङ्गुल हो तथा मूल भाग में इसका व्यास पाँच अङ्गुल हो। इसकी गोलाई सुन्दर हो, किसी प्रकार का इसमें व्रण न हो अर्थात् इसका काष्ठ कटा-फटा न हो एवं श्रेष्ठ हो।।४।।

अष्टादशाङ्गुलं मध्यं कन्यसं द्वादशाङ्गुलम्।
आयामसदृशं नाहं मूलेऽग्रे तु नवाङ्गुलम् ॥५॥

(उपर्युक्त माप उत्तम शङ्कुमान का है।) मध्यम शङ्कु अट्ठारह अङ्गुल लम्बा एवं कनिष्ठ शङ्कु बारह या नौ अङ्गुल लम्बा होता है। लम्बाई के समान ही इसका मूल एवं अग्र भाग में भी माप रखना चाहिये।।५।।

दन्तं वै चन्दनं चैव खदिरः कदरः शमी।
शाकश्च तिन्दुकश्चैव शङ्कुवृक्षा उदीरिताः ॥६॥

दन्त (मौलसिरी), चन्दन, खैर या कत्था, कदर, शमी, शाक (सागौन) एवं तिन्दुक (तेंदू) के वृक्ष शङ्कु-वृक्ष कहलाते हैं अर्थात् इनके काष्ठ से शङ्कुनिर्माण करना चाहिये।।६।।

अन्यैः सारद्रुमैः प्रोक्तं तस्याग्रं चित्रवृत्तकम्।
शङ्कुं कृत्वा दिनादौ तु स्थापयेदात्तभूतले ॥७॥

इनके अतिरिक्त कठोर काष्ठ वाले वृक्षों से भी शङ्कु-निर्माण किया जा सकता है। शङ्कु का अग्र भाग चित्रवृत्तक (दोषहीन गोलाई) होना चाहिये। शङ्कु-निर्माण के पश्चात् प्रातःकाल भूतल के पूर्व निर्धारित स्थल पर उसे स्थापित करना चाहिये।।७।।

शङ्कुद्विगुणमानेन तन्मध्ये मण्डलं लिखेत्।
पूर्वापराह्णयोश्छाया यदि तन्मण्डलान्तगा ॥८॥

शङ्कु-प्रमाण का दुगुना माप लेकर शङ्कु को केन्द्र बना कर वृत्त खींचना चाहिये। दिन के पूर्वाह्ण एवं अपराह्ण में उस मण्डलाकृति पर शङ्कु की छाया पड़ती है।।८।।

तद्बिन्दुद्वयगं सूत्रं पूर्वापरदिशीष्यते।
बिन्दुद्वयान्तरभ्रान्तशफराननपुच्छगम् ॥९॥

उपर्युक्त छायायें जिन-जिन बिन्दुओं पर पड़ती हैं, उन बिन्दुओं को सूत्र से मिलाना चाहिये। इससे पूर्व एवं पश्चिम दिशा का ज्ञान होता है (पूर्वाह्ण में जहाँ छाया पड़ती है, वह पश्चिम दिशा एवं अपराह्ण में जहाँ छाया पड़ती है, वह पूर्व दिशा होती है)। पूर्वोक्त बिन्दुओं को केन्द्र बनाकर मछली की आकृति बनानी चाहिये।।९।।

दक्षिणोत्तरगं सूत्रमेवं सूत्रद्वयं न्यसेत्।
उदगाद्यपरान्तानि पर्यन्तानि विनिक्षिपेत् ॥१०॥

दो सूत्रों को बिन्दुओं के केन्द्र में इस प्रकार रखना चाहिये कि वे दक्षिण से उत्तर तक जायँ। इसी प्रकार दूसरे सूत्र को उत्तर से दक्षिण तक ले जाना चाहिये।

कहने का तात्पर्य यह है कि एक बिन्दु को केन्द्र बनाकर चाप की आकृति उत्तर से दक्षिण तक बनानी चाहिये। पुनः दूसरे बिन्दु को केन्द्र बनाकर दूसरी चापाकृति

बनानी चाहिये। मण्डल के दो छोरों पर ये चापाकृतियाँ एक-दूसरे को काटती हैं। इस प्रकार मत्स्य की आकृति बनती है।।१०।।

सूत्राणि स्थपतिः प्राज्ञः प्रागुत्तरमुखानि च।

इन सूत्रों से बुद्धिमान स्थपति उत्तर एवं दक्षिण दिशा का निर्धारण करते हैं। (पूर्व के बाँयीं ओर उत्तर दिशा एवं दाहिनी ओर दक्षिण दिशा होती है। इस प्रकार भूमि में दिशा का ज्ञान होता है)।

❋ अपच्छाया ❋

कन्यायां वृषभे राशावपच्छायात्र नास्ति हि ॥११॥

अशुद्ध छाया—जब सूर्य कन्या या वृषभ राशि में होता है, उस समय सूर्य की अपच्छाया नहीं पड़ती है (अर्थात् इस स्थिति में शङ्कु की छाया सीधे पूर्व और पश्चिम दिशा पर पड़ती है)।।११।।

विशेष—सूर्य की छाया बारहों महीनों में एक समान नहीं होती है। अतः सूर्य के नक्षत्रों के सङ्क्रमण के अनुसार शुद्ध रूप से पूर्व एवं पश्चिम का निर्धारण किस प्रकार किया जाय एवं अपच्छाया से बचा जाय, इसका उपाय आगे के श्लोकों में वर्णित है।

मेषे च मिथुने सिंहे तुलायां द्व्यङ्गुलं नयेत्।
कुलीरे वृश्चिके मत्स्ये शोधयेच्चतुरङ्गुलम् ॥१२॥

मेष, मिथुन, सिंह एवं तुला राशि में सूर्य के रहने पर जहाँ शङ्कु की छाया पड़े, उससे दो अङ्गुल पीछे हट कर पूर्व एवं पश्चिम का निर्धारण करना चाहिये। जिस समय सूर्य कर्क, वृश्चिक एवं मीन राशि पर हों, उस समय चार अङ्गुल हट कर दिशानिर्धारण करना चाहिये।।१२।।

धनुःकुम्भे षडङ्गुल्यं मकरेऽष्टाङ्गुलं तथा।
छायाया दक्षिणे वामे नीत्वा सूत्रं प्रचारयेत् ॥१३॥

धनु एवं कुम्भ पर सूर्य के रहने पर छः अङ्गुल एवं मकर पर आठ अङ्गुल हट कर शङ्कु की छाया के दाहिने एवं बाँयें सूत्र का प्रयोग करना चाहिये।।१३।।

❋ रज्जुलक्षणम् ❋

अष्टयष्ट्यायता रज्जुस्तालकेतकवल्कलैः।
कार्पासपट्टसूत्रैश्च दर्भैर्न्यग्रोधवल्कलैः ॥१४॥

माप-सूत्र का लक्षण—रज्जु अथवा सूत्र को आठ दण्ड लम्बा होना चाहिये।

इसका निर्माण ताल, केतक के रेशे, कपास, कुश अथवा न्यग्रोध (बरगद) के छाल से होना चाहिये।।१४।।

अङ्गुलाग्रसमस्थूला त्रिवर्तिर्ग्रन्थिवर्जिता ।
देवद्विजमहीपानां शेषयोश्च द्विवर्त्तिका ॥१५॥

देवता, ब्राह्मण एवं राजा (क्षत्रिय) के वास्तु-मापन के लिये रज्जु को अङ्गुल के अग्र भाग के बराबर मोटा, तीन बत्तियों से निर्मित एवं विना गाँठ का बनाना चाहिये। वैश्य एवं शूद्र के लिये रज्जु दो बत्तियों से बँटा होना चाहिये।।१५।।

✵ खातशङ्कुलक्षणम् ✵

खदिरः खादिरश्चैव मधूकः क्षीरिणी तथा ।
खातशङ्कुद्रुमाः प्रोक्ता अन्यं वा सारदारुजम् ॥१६॥

गड्ढे में गाड़े जाने वाले शङ्कु का लक्षण—गड्ढे में गाड़े जाने वाले शङ्कु जिन वृक्षों के काष्ठ से बनते हैं, उनके नाम हैं—खदिर, खादिर, महुआ, क्षीरिणी तथा अन्य कठोर काष्ठ वाले वृक्ष।।१६।।

एकादशाङ्गुलाद्येकविंशन्मात्रं तु दैर्घ्यतः ।
पूर्णमुष्टिस्तु नाहं स्यान्मूलं सूचीनिभं भवेत् ॥१७॥

इसकी लम्बाई ग्यारह अङ्गुल से लेकर इक्कीस अङ्गुल तक होनी चाहिये एवं व्यास एक मुट्ठी होना चाहिये। इसका मूल सूई की भाँति नुकीला होना चाहिये।।१७।।

गृहीत्वा वामहस्तेन प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
दक्षिणेनाष्ठीलं गृह्य ताडयेदष्टभिः क्रमात् ॥१८॥
प्रहारैः स्थपतिः प्राज्ञस्तत् कुर्यात् स्थापकाज्ञया ।

स्थपति पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके स्थापक की आज्ञा से बाँयें हाथ में खातशङ्कु लेकर एवं दाहिने हाथ में हथौड़ा लेकर क्रमशः आठ बार शङ्कु पर प्रहार करे।१८।।

✵ सूत्रविन्यासम् ✵

प्रमाणसूत्रमित्युक्तं प्रमाणैर्निश्चितं हि यत् ॥१९॥

सूत्र को भूमि पर फैलाना—चूँकि इस सूत्र से भवन-निर्माणसम्बन्धी कार्य में प्रमाण या माप निश्चित किया जाता है; अतः इसे 'प्रमाणसूत्र' कहा जाता है।।१९।।

तद्बहिः परितो भागे सूत्रं पर्यन्तमिष्यते ।
गर्भसूत्रादिविन्यासससूत्रं देवपदोचितम् ॥२०॥

पदविन्याससूत्रं हि विन्यासः सूत्रमिष्यते ।

प्रमाणसूत्र के कार्यक्षेत्र के बाहर के चारो ओर के क्षेत्र का जिससे मापन किया जाता है, उस सूत्र को 'पर्यन्त सूत्र' कहते हैं। जिस सूत्र से निश्चित स्थान का निर्धारण, देवताओं के पद का निर्धारण तथा वास्तुपद का विन्यास किया जाता है, उसे 'विन्यास-सूत्र' कहते हैं।।२०।।

गृहाणां दक्षिणे गर्भस्तत्पार्श्वे सूत्रपातनम् ॥२१॥

गृह के दक्षिण भाग में गृह का गर्भ होता है, अतः उसी के पास से सूत्रपात प्रारम्भ करना चाहिये।।२१।।

तत्सूत्राच्छङ्कुमानेन नीत्वा शङ्कुं निखानयेत् ।
उपानं निष्क्रमार्थं वा भित्त्यर्थं वाऽथ तद्भवेत् ॥२२॥

उस सूत्र से शङ्कु का मान लेते हुये शङ्कु को भूमि में गाड़ना चाहिये। इसी से प्रवेशमार्ग (अथवा गृह से बाहर निकलने का मार्ग) या भित्ति-निर्माण के लिये मापन करना चाहिये।।२२।।

नगरग्रामदुर्गेषु वाय्वादी रज्जुपातनम् ।
अवाच्याशाद्युदीच्यन्तं प्राक्प्रत्यग्गतसूत्रकम् ॥२३॥

नगर, ग्राम एवं दुर्ग के मापन के लिये सर्वप्रथम सूत्रपात वायव्य कोण (उत्तर-पश्चिम) में करना चाहिये। इसके पश्चात् दक्षिण से उत्तर तथा पूर्व से पश्चिम सूत्रपात करना चाहिये।।२३।।

प्रतीच्याशादिपूर्वान्तं विसृजेद् दक्षिणोत्तरम् ।
ब्रह्मस्थानात् पूर्वगतं तत् त्रिसूत्रं तदुच्यते ॥२४॥

इसके पश्चात् पश्चिम से पूर्व एवं उत्तर से दक्षिण तक सूत्रप्रपात करना चाहिये। जिस सूत्र से ब्रह्मा के पद से प्रारम्भ कर पूर्व दिशा तक मापन किया जाता है, उसे 'त्रिसूत्र' कहते हैं।।२४।।

ततो धनं पश्चिमगं धान्यं दक्षिणगं ततः ।
ब्रह्मस्थानादुत्तरगं सुखमित्यभिधीयते ॥२५॥

इसके पश्चात् ब्रह्मस्थान से पश्चिम की ओर जाने वाले सूत्र को 'धन', दक्षिण की ओर जाने वाले सूत्र को 'धान्य' एवं उत्तर की ओर जाने वाले सूत्र को 'सुख' कहते हैं।।२५।।

सुखप्रमाणं यत् सूत्रं तत्प्रमाणमिहोच्यते ।

एकहस्तं द्विहस्तं वा त्रिहस्तं परितोऽधिकम्।
विमानं मण्डपव्यासात् खानयेत् तद्बलार्थकम् ॥२६॥

जिस सूत्र से सुखप्रमाण प्राप्त होता है, उसका माप यहाँ वर्णित है। बल के लिये केन्द्र के चारो ओर मण्डप के व्यास से एक हाथ, दो हाथ या तीन हाथ की दूरी लेते हुये उत्खनन करना चाहिये।।२६।।

✵ पुनरपच्छाया ✵

द्व्येकं नो नैकनेत्रे नयनगुणयुगं चाब्धिरुद्राक्षमक्षी
नैत्रेकं नो न चन्द्रं नयननयनकं वह्निवेदाब्धिबाणम्।
षट्षट्सप्ताष्टकाष्टैर्मुनिरसरसकं भूतवेदाब्ध्यजाक्षं
नेत्रं मात्रञ्च मेषादिषु दशदशकेऽस्मिन्दिने त्यज्य युञ्ज्यात् ॥२७॥

पुनः दोषयुक्त छाया—पूर्व एवं पश्चिम के निर्धारण के लिये प्रत्येक माह प्रत्येक दस दिन के काल-खण्ड में संख्याओं का संयोजन इस प्रकार करना चाहिये—सूर्य का सङ्क्रमण मेष राशि में होने पर दो, एक, शून्य; वृष में होने पर शून्य, एक, दो; मिथुन में होने पर दो, तीन, चार; कर्क में होने पर चार, तीन, दो; सिंह में होने पर दो, एक, शून्य; कन्या में होने पर शून्य, एक, दो; तुला में होने पर दो, तीन, चार; वृश्चिक में होने पर चार, पाँच, छः; धनु में होने पर छः, सात, आठ; मकर में होने पर आठ, सात, छः; कुम्भ में होने पर छः, पाँच, चार तथा मीन में होने पर चार, तीन एवं दो।।२७।।

समीक्ष्य भानोर्गमनं सराशिकं
त्यजेत् पुरोक्ताङ्गुलिमन्त्रयुक्तितः।
ततस्तु काष्ठादुपगृह्य तद्वशाद्
विसृज्य सूत्रं विदधीत च स्थलम् ॥२८॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे दिक्परिच्छेदो
नाम षष्ठोऽध्यायः

राशि के साथ सूर्य की गति का विचार एवं युक्तिपूर्वक समीक्षा करते हुये पूर्वोक्त अङ्गुलियों को छोड़ देना चाहिये। इसके अनुसार सीमा एवं दिशा आदि का शङ्कु द्वारा ग्रहण करते हुये स्थान को तैयार करना चाहिये।।२८।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

दिशानिर्धारण (श्लोक-१-२)

दिशा-निर्धारण के सन्दर्भ में ज्योतिष-परक विचार अनेक वास्तु-ग्रन्थों में अत्यन्त विस्तार से प्राप्त होते हैं। इनमें मानसार (अ. ५६) अजिताङ्गम (९), ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (क्रिया-२४.१.२४), विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (३), अपराजितपृच्छा (६३), राजवल्लभमण्डन (१), मनुष्यालयचन्द्रिका (२), काश्यपशिल्प (१) आदि उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

शङ्कुलक्षण (श्लोक-३-१०)

उपर्युक्त ग्रन्थों में दिशा-निर्धारण के सन्दर्भ में शङ्कु के काष्ठ, मान एवं आकृति का भी उल्लेख प्राप्त होता है। मयमत (६.७) में शङ्कु का शीर्षभाग चित्रवृत्तक (गोला-कार) कहा गया है। मानसार (६.८) में इसे छत्राकार कहा गया है—

सुवृत्तं निर्व्रणं चैव छत्राकारं तदग्रकम्।

अपच्छाया (श्लोक ११-१३)

सूर्य की राशियों पर सङ्क्रान्ति के अनुसार शङ्कु की छाया अलग-अलग स्थान पर पड़ती है। इससे सटीक पूर्व-पश्चिम दिशा का ज्ञान करना कठिन होता है। इन श्लोकों में सूर्य की राशियों पर सङ्क्रान्ति के अनुसार छाया पूर्व से कितना हट कर पड़ती है एवं कितने अङ्गुल छाया से हट कर सही दिशा प्राप्त होती है, इसका वर्णन किया गया है। इस प्रसङ्ग पर विचार विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (अ. ३), अपराजितपृच्छा (अ. ६३), मनुष्यालयचन्द्रिका (अ. २), मानसार (अ. ६), काश्यपशिल्प (अ. १) आदि ग्रन्थों में विस्तार से किया गया है।

अथ सप्तमोऽध्यायः

(पदविन्यासः)

वक्ष्येऽहं पदविन्यासं सर्ववस्तुसनातनम् ।

वास्तुपद-विन्यास—मैं (मर ऋषि) सभी वास्तुमण्डलों के पद-विन्यास का वर्णन करता हूँ।

✻ द्वात्रिंशत् पदानि ✻

सकलं पेचकं पीठं महापीठमतः परम् ॥१॥

उपपीठमुग्रपीठं स्थण्डिलं नाम चण्डितम् ।
मण्डूकपदकं चैव पदं परमशायिकम् ॥२॥

तथासनं च स्थानीयं देशीयोभयचण्डितम् ।
भद्रं महासनं पद्मगर्भं च त्रियुतं पदम् ॥३॥

व्रतभोगपदं चैव कर्णाष्टकपदं तथा ।
गणितं पादमित्युक्तं पदं सूर्यविशालकम् ॥४॥

सुसंहितपदं चैव सुप्रतीकान्तमेव च ।
विशालं विप्रगर्भं च विश्वेशं च ततः परम् ॥५॥

तथा विपुलभोगं च पदं विप्रतिकान्तकम् ।
विशालाक्षपदं चैव विप्रभक्तिकसंज्ञकम् ॥६॥

पदं विश्वेशसारं च तथैवैश्वरकान्तकम् ।
इद्रकान्तपदं चैव द्वात्रिंशत् कथितानि वै ॥७॥

बत्तीस प्रकार के पदविन्यास होते हैं। उनके नाम हैं—सकल, पेचक, पीठ, महापीठ, उपपीठ, उग्रपीठ, स्थण्डिलचण्डित, मण्डूक, परमशायिक, आसन, स्थानीय, देशीय, उभयचण्डित, भद्रमहासन, पद्मगर्भ, त्रियुत, व्रतभोग, कर्णाष्टक, गणित, सूर्यविशालक, सुसंहित, सुप्रतीकान्त, विशाल, विप्रगर्भ, विश्वेश, विपुलभोग, विप्रति-कान्त, विशालाक्ष, विप्रभक्तिक, विश्वेशसार, ईश्वरकान्त एवं इन्द्रकान्त।।१-७।।

सकलं पदमेकं स्यात् पेचकं तु चतुष्पदम् ।
पीठं नवपदं चैव महापीठं द्विरष्टकम् ॥८॥

'सकल' पदविन्यास एक पद से बनता है। 'पेचक' चार पद, 'पीठ' नौ पद एवं 'महापीठ' सोलह पद से बनते हैं।।८।।

पञ्चविंशत्युपपीठं षट्षडेवोग्रपीठकम्।
स्थण्डिलं सप्तसप्तांशं मण्डूकं चाष्टकाष्टकम्॥९॥

'उपपीठ' का पदविन्यास पच्चीस पदों से, 'उग्रपीठ' छत्तीस पदों से, 'स्थण्डिल' उनचास पदों से एवं 'मण्डूक' चौसठ पदों से होता है।।९।।

परमशायिपदं चैव नन्दनन्दपदं भवेत्।
आसनं शतभागं स्यादेकविंशच्छतं पदम्॥१०॥

'परमशायिक' इक्यासी पदों से एवं 'आसन' सौ पदों से बनता है। एक सौ इक्कीस पदों से—।।१०।।

स्थानीयं स्याच्चतुश्चत्वारिंशच्छतपदाधिकम्।
देशीयं नवषष्ट्यंशं शतं चोभयचण्डितम्॥११॥

'स्थानीय' पदों की रचना होती है। 'देशीय' पदविन्यास एक सौ चौवालीस पदों से तथा 'उभयचण्डित' एक सौ उनहत्तर पदों से होता है।।११।।

षण्णवत्यधिकं चैव शतं भद्रं महासनम्।
सपञ्चविंशद् द्विशतं पद्मगर्भमिति स्मृतम्॥१२॥

'भद्र-महासन' में एक सौ छियानबे पद होते हैं तथा 'पद्मगर्भ' में दो सौ पच्चीस पद होते हैं।।१२।।

षडाधिक्यं तु पञ्चाशद्द्विशतं त्रियुतं पदम्।
द्विशतं सनवाशीति व्रतभोगमिति स्मृतम्॥१३॥

'त्रियुत' में दो सौ छप्पन पद होते हैं एवं 'व्रतभोग' में दो सौ नवासी पद होते हैं।।१३।।

त्रिशतं च चतुर्विंशत् कर्णाष्टकपदं तथा।
त्रिशतं चैकषष्ट्यंशं गणितं पादसंज्ञितम्॥१४॥

'कर्णाष्टक' में तीन सौ चौबीस पद तथा 'गणित' वास्तु-पद में तीन सौ एकसठ पद होते हैं।।१४।।

चतुःशतपदं सूर्यविशालं परिकीर्तितम्।
सुसंहितपदं चैकचत्वारिंशच्चतुःशतम्॥१५॥

'सूर्यविशाल' में चार सौ पद कहे गये हैं एवं 'सुसंहित' पद-विन्यास में चार सौ एकतालीस पद होते हैं।।१५।।

सवेदाशीतिचत्वारः शतं सुप्रतिकान्तकम् ।
नवविंशत्पञ्चशतं विशालं पदमीरितम् ॥१६॥

'सुप्रतीकान्त' में चार सौ चौरासी पद तथा 'विशाल' में पाँच सौ उन्तीस पद कहे गये हैं।।१६।।

षट्सप्ततिः पञ्चशतं विप्रगर्भमिति स्मृतम् ।
विश्वेशं षट्शतं पश्चात् पञ्चविंशत्पदं स्मृतम् ॥१७॥

'विप्रगर्भ' पदविन्यास पाँच सौ छिहत्तर तथा 'विश्वेश' छः सौ पच्चीस पदों से निर्मित होते हैं।।१७।।

षट्सप्ततिः षट्शतकं विपुलभोगमिति स्मृतम् ।
नवविंशतिकं सप्तशतं विप्रतिकान्तकम् ॥१८॥

'विपुलभोग' में छः सौ छिहत्तर एवं 'विप्रतिकान्त' में सात सौ उन्तीस पद होते हैं।।१८।।

विशालाक्षपदं वेदाशीतिः सप्तशताधिकम् ।
सैकाष्टपञ्चयुक्तं चाष्टशतं विप्रभक्तिकम् ॥१९॥

'विशालाक्ष' में सात सौ चौरासी पद तथा 'विप्रभक्तिक' में आठ सौ इकतालीस पद होते हैं।।१९।।

विश्वेशसारमित्युक्तमेवं नवशतं पदम् ।
सैकषष्ट्यां नवशतं पदमीश्वरकान्तकम् ॥२०॥

'विश्वेशसार' में नौ सौ पद एवं 'ईश्वरकान्त' में नौ सौ इकसठ पद होते हैं।।२०।।

चतुर्विंशतिसंयुक्तं सहस्रपदसंकुलम् ।
इन्द्रकान्तमिति प्रोक्तं तन्त्रविद्भिः पुरातनैः ॥२१॥

'इन्द्रकान्त' पदविन्यास में एक हजार चौबीस पद होते हैं। ये तन्त्रशास्त्र के प्राचीन विद्वानों के मत हैं।।२१।।

* सकलम् *

आद्यं पदं सकलमेकपदं यतीना-
मिष्टं हि विष्टरमहाशनवह्निकार्यम् ।

पित्र्यामरादियजनं गुरुपूजनं च
भान्वार्कितोयशशिनामकसूत्रयुक्ते ॥२२॥

प्रथम वास्तुपद-विन्यास में केवल एक पद होता है। यह यतियों के लिये अनुकूल होता है। इसमें अग्निकार्य होता है एवं इसमें कुश बिछाया जाता है। इस पर पितृपूजन, देवपूजन एवं गुरुपूजन का कार्य सम्पन्न होता है। इसके चारो ओर खींची गई रेखायें भानु, अर्कि, तोय एवं शशि कहलाती हैं।।२२।।

✵ पेचकम् ✵

पैशाचभूतसविषग्रहरक्षकास्ते
पूज्या हि पेचकपदे चतुरंशयुक्ते।
तस्मिन् विधेयमधुना विधिना विधिज्ञैः
शैवं तु निष्कलमलं सकलञ्च युक्त्या ॥२३॥

पेचकसंज्ञक पद-विन्यास में चार पद होते हैं। इसमें पिशाच, भूत, विषग्रह एवं राक्षसों की पूजा होती है। विधियों के ज्ञाता विधिपूर्वक इस प्रकार के कार्यों के लिये इस पदविन्यास को बनाते हैं एवं इसमें सभी विधियों का पालन करते हुये निर्मल एवं निष्कल शिव को प्रतिष्ठित करते हैं।।२३।।

✵ पीठम् ✵

अथ पीठपदे नवभागयुते दिशि दिश्यथ वेदचतुष्टयकम्।
विदुरीशपदाद्युदकं दहनं गगनं पवनं पृथिवी ह्यबहिः ॥२४॥

पीठसंज्ञक पद-विन्यास में नौ पद होते हैं। इसके चारो दिशाओं में चारो वेद, ईशान आदि (कोणों) में क्रमशः उदक (जल), दहन (अग्नि), गगन (आकाश) एवं पवन (वायु) होते हैं तथा मध्य में पृथिवी होती है।।२४।।

✵ महापीठम् ✵

षोडशांशं महापीठं पञ्चपञ्चामरान्वितम्।
ईशो जयन्त आदित्यो भृशोऽग्निर्वितथो यमः ॥२५॥

महापीठ पद-विन्यास में सोलह पद होते हैं एवं इसमें पच्चीस देवता होते हैं। इन पदों में (ईशान कोण से प्रारम्भ कर क्रमशः) देवता इस प्रकार होते हैं—ईश, जयन्त, आदित्य, भृश, अग्नि, वितथ, यम।।२५।।

भृङ्गश्च पितृसुग्रीवौ वरुणः शोषमारुतौ।
मुख्यः सोमोऽदितिश्चेति बाह्यदेवाः प्रकीर्तिताः ॥२६॥

भृङ्ग, पितृ, सुग्रीव, वरुण, शोष, मारुत, मुख्य, सोम एवं अदिति बाह्य पदों के देवता कहे गये हैं।।२६।।

आपवत्सार्यसावित्रा विवस्वानिन्द्रमित्रकौ ।
रुद्रजो भूधरश्चान्तर्मध्ये ब्रह्मा स्थितः प्रभुः ॥२७॥

अन्दर के पदों के देवता आपवत्स, आर्य, सावित्र, विवस्वान्, इन्द्र, मित्र, रुद्रज एवं भूधर हैं। केन्द्र में ब्रह्मा स्थित होते हैं, जो सबके स्वामी कहे गये हैं।।२७।।

*** उपपीठादि ***

तत्पार्श्वयोर्द्वयोरेकभागेनैकेन वर्धनात् ।
उपपीठं भवेदत्र देवतास्ताः पदे स्थिताः ॥२८॥

उपपीठ वास्तु-विन्यास में वे (पूर्वोक्त) देवता अपने पदों के अतिरिक्त अपने दोनों पार्श्वों में एक-एक पद की वृद्धि प्राप्त करते हुये स्थित होते हैं।।२८।।

तत्तत्पार्श्वद्वयोश्चैवमेकैकांशविवर्धनात् ।
इन्द्रकान्तपदं यावत्तावद्युञ्जीत बुद्धिमान् ॥२९॥

बुद्धिमान् (स्थपति) को चाहिये कि उन देवों के दोनों पार्श्वों में एक-एक पद की वृद्धि तब तक करे, जब तक इन्द्रकान्त पद न बन जाय।।२९।।

समानि यानि भागानि चतुःषष्टिवदाचरेत् ।
असमान्यपि सर्वाणि चैकाशीतिपदोक्तवत् ॥३०॥

जिन वास्तु-विन्यासों में सम संख्या में पद हों, उन्हें चौंसठ पद वाले वास्तु के समान एवं विषम संख्या में पद हों तो इक्यासी पद वाले वास्तु के समान (देवों को) रखना चाहिये।।३०।।

पदानामपि सर्वेषां मण्डूकं चापि तत्परम् ।
चण्डितं सर्ववस्तूनामाहत्यं च यतस्ततः ॥३१॥

सभी वास्तु-विन्यासों में मण्डूकसंज्ञक वास्तुपद-विन्यास सभी निर्माण-कार्यों के लिये उपयुक्त होता है; क्योंकि यह (तान्त्रिक) विधि पर आधारित होता है।।३१।।

तस्मात् संक्षिप्य तन्त्रेभ्यो वक्ष्येऽहमपि तद् द्वयम् ।
चतुःषष्टिपदे चैकाशीतौ सकलनिष्कले ॥३२॥

इसलिये मैं (मय ऋषि) तन्त्रों से संक्षेप में विषय ग्रहण कर सकल एवं निष्कल चौंसठ एवं इक्यासी दो पदविन्यासों का वर्णन करता हूँ।।३२।।

सूत्रे च पदमध्ये च ब्रह्माद्याः स्थापिताः सुराः ।
प्रागुदग्दिक्समारभ्यैवोच्यन्ते देवताः पृथक् ॥३३॥

(उपर्युक्त दोनों पदविन्यासों में) वास्तुपद के मध्य में ब्रह्मा आदि देवता स्थापित किये जाते हैं। ईशान कोण से प्रारम्भ कर पृथक्-पृथक् स्थापित किये जाने वाले देवता का यहाँ वर्णन किया जा रहा है।।३३।।

❋ दैवतस्थानानि ❋

ईशानश्चैव पर्जन्यो जयन्तश्च महेन्द्रकः।
आदित्यः सत्यकश्चैव भृशश्चैवान्तरिक्षकः ॥३४॥

वास्तुदेवों के स्थान—(ईशान कोण से प्रारम्भ करते हुये देवता इस प्रकार हैं—) ईशान, पर्जन्य, जयन्त, महेन्द्रक, आदित्य, सत्यक, भृश तथा अन्तरिक्ष।।३४।।

अग्निः पूषा च वितथो राक्षसश्च यमस्तथा।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृषश्च पितृदेवताः ॥३५॥

(आग्नेय कोण से नैर्ऋत्य कोण के देवता इस प्रकार हैं—) अग्नि, पूषा, वितथ, राक्षस, यम, गन्धर्व, भृङ्गराज, मृष तथा पितृदेवता।।३५।।

दौवारिकश्च सुग्रीवः पुष्पदन्तो जलाधिपः।
असुरः शोषरोगौ च वायुर्नागस्तथैव च ॥३६॥

(पश्चिम से वायव्य तक तथा उत्तर के देवता इस प्रकार हैं—) दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, जलाधिप (वरुण), असुर, शोष, रोग, वायु एवं (उत्तर दिशा में) नाग।।३६।।

मुख्यो भल्लाटकश्चैव सोमश्चैव मृगस्तथा।
अदितिश्चोदितिश्चैव द्वात्रिंशद् बाह्यदेवताः ॥३७॥

(उत्तर दिशा के देवता हैं—) मुख्य, भल्लाटक, सोम, मृग, अदिति एवं उदिति—ये बत्तीस बाह्य पदों के देवता हैं।।३७।।

आपश्चैवापवत्सश्चैवान्तः प्रागुत्तरे स्मृतौ।
सविन्द्रश्चैव साविन्द्रश्चान्तः प्राग्दक्षिणे स्मृतौ ॥३८॥

अन्तःदेवों में पूर्वोत्तर (ईशान) में आप एवं आपवत्स देवता तथा पूर्व-दक्षिण (आग्नेय कोण) में सविन्द्र एवं साविन्द्र देवता होते हैं।।३८।।

इन्द्रश्चैवेन्द्रराजश्च दक्षिणापरतः स्थितौ।
रुद्रो रुद्रजयश्चैव पश्चिमोत्तरतो दिशि ॥३९॥

दक्षिण-पश्चिम (नैर्ऋत्य कोण) में इन्द्र एवं इन्द्रराज तथा पश्चिमोत्तर (वायव्य कोण) में रुद्र एवं रुद्रजय देवता कहे गये हैं।।३९।।

ब्रह्मा मध्ये स्थितः शम्भुस्तन्मुखस्थाश्चतुःसुराः ।
आर्यो विवस्वान् मित्रश्च भूधरश्चैव कीर्तिताः ॥४०॥

मध्य में स्थित ब्रह्मा शम्भु हैं तथा आर्य, विवस्वान्, मित्र एवं भूधर—ये चार देवता उनकी ओर मुख करके स्थित होते हैं।।४०।।

चरकी च विदारी च पूतना पापराक्षसी ।
ईशानादि बहिः स्थाप्याश्चतुष्कोणे स्त्रियः स्मृताः ।
नपदा बलिभोक्तारः शेषाणां पदमुच्यते ॥४१॥

ईशान आदि चारो कोणों के बाहर क्रमशः चार स्त्री-देवताओं—चरकी, विदारी, पूतना एवं पापराक्षसी की स्थापना होनी चाहिये। ये चारो विना पद के ही बलि (वास्तु के निमित्त हविष्) ग्रहण करती हैं। शेष देवों का पद कहा गया है।।४१।।

विंशत्सूत्रैः सन्धिभिः सप्तवेदैः
षट्षट्संख्याभिश्चतुष्कैश्च षट्कैः ।
अर्कैः शूलैर्वेदसंख्याः सिराभिः
संयुक्तं स्यादष्टकेनैकमेतत् ॥४२॥

इस प्रकार इक्यासी संख्याओं का एक पद वास्तुचक्र में मण्डलदेवताओं का होता है, जिसका विवरण अग्रलिखित है—२० + ७ + ६ + ६ + ६ + ६ + ६ +१२ + ४ + ८ = ८१ अर्थात् खड़ी और पड़ी दश-दश रेखायें होने से इक्यासी पद का वास्तुचक्र सम्पन्न होता है।।४२।।

✵ मण्डूकपदम् ✵

चतुःषष्टिपदे मध्ये ब्रह्मणश्च चतुष्पदम् ॥४३॥

चौंसठ पद वाले मण्डूक पद में मध्य के चार पद में ब्रह्मा होते हैं।।४३।।

आर्यकादिचतुर्देवाः प्रागादित्रित्रिभागिनः ।
आपाद्यष्टामराः कोणेष्वर्धार्धपदभागिनः ॥४४॥

(ब्रह्मा के पश्चात् उनके चारो ओर) आर्यक आदि चार देवता (आर्य, विवस्वान्, मित्र, भूधर) पूर्व से आरम्भ होकर तीन-तीन पद में स्थित होते हैं। आप आदि आठ देवता (आप, आपवत्स, सविन्द्र, साविन्द्र, इन्द्र, इन्द्रराज, रुद्र एवं रुद्रजय) ब्रह्मा के चारो कोणों में आधे-आधे पद में प्रतिष्ठित होते हैं।।४४।।

महेन्द्रराक्षसाद्याश्च पुष्पभल्लाटकादयः ।
दिशि दिश्यथ चत्वारो देवा द्विपदभोगिनः ॥४५॥

महेन्द्र, राक्षस, पुष्प एवं भल्लाटक—ये चारो देवता दिशाओं में (क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं पूर्व में) दो-दो पद के भागी बनते हैं।।४५।।

जयन्तश्चान्तरिक्षश्च वितथश्च मृषस्तथा।
सुग्रीवो रोगमुख्यश्च दितिश्चैकैकभागिनः ॥४६॥

जयन्त, अन्तरिक्ष, वितथ, मृष, सुग्रीव, रोग, मुख्य एवं दिति को एक-एक पद प्राप्त होता है।।४६।।

ईशाद्यष्टामराः शेषाः कोणेष्वर्धपदेश्वराः।
एवं क्रमेण भुञ्जीरन् मण्डूके वास्तुदेवताः ॥४७॥

शेष बचे ईश आदि आठ देवता (ईश, पर्जन्य, अग्नि, पूषा, पितृदेवता, दौवारिक, वायु एवं नाग) कोणों पर आधा-आधा पद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मण्डूक वास्तुपद में देवताओं को स्थान प्राप्त होता है।।४७।।

स्वस्वप्रदक्षिणवशात् पदभुक्तिक्रमं विदुः।
ब्रह्माणं च निरीक्ष्यैते स्थिताः स्वस्वपदेऽमराः ॥४८॥

अपने-अपने क्रम से ये सभी देवता बाँयें से दाहिने पदों में स्थित होते हैं। सभी देवगण ब्रह्मा को देखते हुये अपने-अपने पदों में स्थान ग्रहण करते हैं।।४८।।

❋ वास्तुपुरुषविधानम् ❋

षड्वंशमेकहृदयं चतुर्मर्मं चतुःसिरम्।
मेदिन्यां वास्तुपुरुषं निकुब्जं प्राक्शिरं विदुः ॥४९॥

वास्तुपुरुष की रचना—वास्तु-पुरुष निकुब्ज पूर्व दिशा में सिर किये वास्तु-भूमि पर स्थित होता है। उसके छः वंश (अस्थियाँ), चार मर्मस्थल, चार सिरायें एवं एक हृदय होते हैं।।४९।।

तस्योत्तमाङ्गं विज्ञेयमार्यको नाम देवता।
सविन्द्रो दक्षिणभुजः साविन्द्रः कक्षमुच्यते ॥५०॥

उस वास्तुपुरुष के सिर आर्यकसंज्ञक देवता होते हैं। सविन्द्र दाहिनी भुजा एवं साविन्द्र कक्ष होते हैं।।५०।।

आपश्चैवापवत्सश्च सकक्षो वामतो भुजः।
विवस्वान् दक्षिणं पार्श्वं वामपार्श्वं महीधरः ॥५१॥

आप एवं आपवत्स कक्षसहित वाम भुजा, विवस्वान् दक्षिण पार्श्व एवं महीधर वाम पार्श्व बनते हैं।।५१।।

मध्ये ब्रह्ममयः कायो मित्रः पुंस्त्वं विधीयते।
इन्द्रश्चैवेन्द्रराजश्च दक्षिणः पाद ईरितः ॥५२॥

वास्तुपुरुष का मध्य शरीर ब्रह्मा से निर्मित होता है एवं मित्र उसके पुरुषलिङ्ग होते हैं। इन्द्र एवं इन्द्रराज वास्तुपुरुष के दक्षिण पाद कहे गये हैं।।५२।।

रुद्रो रुद्रजयो वामपादः शेते त्वधोमुखः।
वस्तुत्रिभागमध्ये तु वंशाः षट् प्रागुदङ्मुखाः ॥५३॥

रुद्र एवं रुद्रजय इसके वाम पाद हैं एवं वह अधोमुख होकर भूमि पर सोता है। इसके छः वंश (रेखायें) हैं, जो पूर्व एवं उत्तर की ओर होते हैं।।५३।।

वस्तुमध्ये तु मर्माणि ब्रह्मा हृदयमुच्यते।
निष्कूटांशाः सिरा ज्ञेया इत्येष पुरुषः स्मृतः ॥५४॥

वास्तुमण्डल के मध्य में वास्तुपुरुष के मर्मस्थल होते हैं एवं ब्रह्मा वास्तुपुरुष के हृदय हैं। वास्तुमण्डल के निष्कूट अंश (रेखायें) वास्तुपुरुष की सिरायें (रक्तवाहिनी शिरायें) होती हैं।।५४।।

गृहे गृहे मनुष्याणां शुभाशुभकरः स्मृतः।
तस्याङ्गानि गृहाङ्गैश्च विद्वान् नैवोपपीडयेत् ॥५५॥

मनुष्यों के प्रत्येक गृह में वास्तुपुरुष का निवास होता है, जो गृह में रहने वालों के शुभ एवं अशुभ परिणाम का कारक होता है। विद्वान् मनुष्य को चाहिये कि वास्तु-पुरुष के अङ्गों को गृह के अङ्गों (स्तम्भ, भित्ति आदि) से पीड़ित न करे।।५५।।

व्याधयस्तु यथासंख्यं भर्तुरङ्गे तु संश्रिताः।
तस्मात् परिहरेद् विद्वान् पुरुषाङ्गं तु सर्वथा।

वास्तुपुरुष का जो-जो अङ्ग पीड़ित होता है, गृहस्वामी के उस-उस अङ्ग में रोग होते हैं। अतः विद्वान् गृहस्वामी को वास्तुपुरुष के अंगों पर निर्माणकार्य का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

* पुनर्मण्डूकपदम् *

चत्वारिंशच्च पञ्चैते देवतानां समुच्चयः ॥५६॥

अष्टाष्टांशे कस्या[illegible]धस्तन्मुखाना-
मिष्टं गांशं व्यञ्जनं षोडशानाम्।
अष्टानां कः षोडशानां खभागं
मण्डूकाख्ये स्थण्डिले तैतिलेषु ॥५७॥

पुनः मण्डूक-पदविन्यास—वास्तु-मण्डल में ४५ देवता होते हैं। मण्डूकसंज्ञक वास्तुमण्डल में चौंसठ पद होते हैं। केन्द्र में ब्रह्मा के चार पद होते हैं। ब्रह्मा की ओर मुख किये चार देवों के तीन-तीन पद, सोलह देवों के आधे-आधे पद, आठ देवों के एक-एक पद एवं सोलह के दो पद होते हैं।।५६-५७।।

❋ परमशायिपदम् ❋

परमशायिपदे नवभागभाक्
कमलजो मुखतस्तु चतुःसुराः ।
रसपदा द्विपदा हि विदिक्स्थिता
बहिरथैकपदाः सकलामराः ।।५८।।

इति मयमते वस्तुशास्त्रे पददेवताविन्यासो
नाम सप्तमोऽध्यायः

परमशायी वास्तु-मण्डल में ब्रह्मा को नौ पद प्राप्त होते हैं। उनकी ओर मुख किये चारो देवों को छः-छः पद, कोण में स्थित देवों को दो-दो पद एवं बाहर स्थित सभी देवों को एक-एक पद प्राप्त होता है।।५८।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

बत्तीस पद-वास्तु (श्लोक १-७)

प्रायः वास्तु-ग्रन्थों में प्रचलित वास्तु-पद चौंसठ (८×८), इक्यासी (९×९) एवं शतपद वास्तु (१०×१०) हैं। मय ने बत्तीस वास्तुपदों का उल्लेख किया है। बत्तीस वास्तुपदों का उल्लेख मानसार एवं शिल्परत्न में प्राप्त होता है।

मानसार (७.१-२५) में बत्तीस वास्तुपद इस प्रकार हैं—सकल, पैशाच (पेचक), पीठ, महापीठ, उपपीठ, उग्रपीठ, स्थण्डिल, चण्डित, परमशाधिक (परमशायिक), आसन, स्थानीय, देश्य, उभयचण्डित, भद्र, महासन, पद्मगर्भ, त्रियुत, कर्णाष्टक, गणित, सूर्यविशालक, सुसंहित, सुप्रतिकान्त, विशालक, विप्रगर्भ, विश्वेश, विपुलभोग, विप्रकान्त, विशालाक्ष, विप्रभक्ति, विश्वेशसार, ईश्वरकान्त एवं चन्द्रकान्त।

ये नाम मयमत से किञ्चित् पृथक् हैं।

शिल्परत्न (पूर्व भाग-६.१-७) में वर्णित वास्तुपदों के अभिधान मयमत की सूची से अधिक निकट हैं—

सकलं पेचकं पीठं महापीठोपपीठके।।
उग्रपीठं स्थण्डिलञ्च मण्डूकपरशायिकम्।
आसनञ्च तथा स्थानीयञ्च देशीयमुच्यते।।
मयचण्डिताख्यपदं तथा भद्रमहासनम्।
पद्मगर्भं त्रियुतकं वृत्ताभोगाभिधं पुनः।।
कर्णाष्टकपदं तद्वत्तथैव गणिकापदम्।
पदं सूर्यविशालं तु सुसंहितपदं पुनः।।
सुप्रतीकान्तं तद्वद्विशालं विप्रगर्भकम्।
विश्वेशं विपुलभोगं तथा विप्रतिकान्तकम्।।
विशालाक्षं विप्रभक्तिकञ्च विश्वेशसारकम्।
तथैवेश्वरकान्ताख्यमिन्द्रकान्तपदं पुनः।।
द्वात्रिंशद्भेदसंयुक्तमेवं पदमिति स्मृतम्।

किन्तु समराङ्गणसूत्रधार (१३) एवं अपराजितपृच्छा (५७) में वास्तुपदों के भेद मयमत से भिन्न हैं। समराङ्गणसूत्रधार में तीन प्रधान वास्तुभेद माने गये हैं—इक्यासी पद, एक सौ पद एवं चौंसठ पद—

एकाशीतिपदो यः स्यात्तथा शतपदश्च यः।
चतुःषष्टिपदो यश्च वास्तुरत्नः त्रिधोदितः।।

(समराङ्गणसूत्रधार-१३.१)

अपराजितपृच्छा (५७) में वास्तुपद के ग्यारह भेद वर्णित हैं—स्वस्तिक, पुष्पक, नन्द, षोडशाक्ष, कुलतिलक, सुभद्र, मरीचिगण, भद्रक, कामद, भद्र एवं सर्वतोभद्र—

स्वस्तिकं पुष्पकं नन्दं षोडशाक्षं चतुर्थकम्।
पञ्चमं कुलतिलकञ्च सुभद्रं षष्ठमेव च।।१।।
सप्तमो मरीचिगणो भद्रकं स्यात्तथाष्टमम्।
नवमं कामदं प्रोक्तं दशमं भद्रमुच्यते।।२।।
सर्वतोभद्रनामाख्यमत ऊर्ध्वं न कारयेत्।
वास्तुन्येकादशैव स्युः प्रोक्तानि परमेश्वरैः।।३।।

वास्तुपदों के देवता (३४-४०)

मयमत में वर्णित वास्तुपद के देवों की सूची मत्स्यपुराण (२५३.२४-३३) में दी गई सूची से पृथक् है। मत्स्यपुराण के अनुसार ईशान कोण से प्रारम्भ कर देवों की सूची इस प्रकार है—शिखी, पर्जन्य, जयन्त, इन्द्र, सूर्य, सत्य, भृश, अन्तरिक्ष,

वायु, पूषा, वितथ, बृहत्क्षत (कुछ ग्रन्थों में—गृहक्षत), यम, गन्धर्व, भृङ्गराज, मृग, पितृगण, दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, जलाधिप (वरुण), असुर, शोष, पाप, रोग, अहि, मुख्य, भल्लाट, सोम, सर्प, अदिति एवं दिति। केन्द्रस्थ ब्रह्मा के चारो ओर कोणों में आप, सावित्र, जय एवं रुद्र तथा मध्य में अर्यमा, सविता, विवस्वान्, विबुधाधिप (इन्द्र), मित्र, राजयक्ष्मा, पृथिवीधर एवं आपवत्स देवता स्थित रहते हैं। प्रायः वास्तु-ग्रन्थों में देवों का यही क्रम एवं संज्ञा प्रचलित है।

अथाष्टमोऽध्याय:

(बलिकर्म)

देवानां स्वपदस्थानां बलिकर्म विधीयते।
सामान्याहत्यमार्गेण ब्रह्मादीनां यथाक्रमम् ॥१॥

अपने-अपने वास्तुपद में स्थित वास्तुदेवों का बलिकर्म (पूजा एवं नैवेद्य) होना चाहिये। इनका बलिकर्म सामान्य आहत्य मार्ग (प्रत्येक देवता के अनुसार पूजा एवं नैवेद्य) से करना चाहिये। बलिकर्म में ब्रह्मा आदि देवों की क्रमानुसार पूजा करनी चाहिये॥१॥

❋ आहत्यबलि: ❋

गन्धमाल्यैश्च धूपेन पयसा मधुसर्पिषा।
पायसौदनलाजैश्च ब्रह्मस्थानं समर्चयेत् ॥२॥

पूजन-सामग्री एवं नैवेद्य—बलिकर्म में देवों को इस प्रकार क्रम देना चाहिये—ब्रह्मस्थान की पूजा गन्ध, माल्य, धूप, दूध, मधु, घी, खीर एवं धान के लावा से करनी चाहिये॥२॥

आर्यके फलभक्ष्यं स्यान्माषान्नं च तिलानि च।
विवस्वति विनिक्षिप्तं दधि दूर्वा च मित्रके ॥३॥

(इसके पश्चात् ब्रह्मा के चारो ओर स्थित देवों की पूजा होती है।) आर्यक का बलिकर्म फलनिर्मित भोज्य पदार्थ, उड़द एवं तिल से करना चाहिये। विवस्वान् को दधि एवं मित्रक को दूर्वा प्रदान करना चाहिये॥३॥

महीधरे भवेद् दुग्धमेवमन्तर्बलि: स्मृत:।
पर्जन्यस्याज्यमैन्द्रस्य नवनीतं सपुष्पकम् ॥४॥

महीधर को दूध प्रदान करना चाहिये। इस प्रकार वास्तुमण्डल के भीतर केन्द्रस्थ देवों का बलिकर्म सम्पन्न होता है (इसके पश्चात् बाह्य कोष्ठों के देवों का बलिकर्म होता है)। पर्जन्य को घी एवं ऐन्द्र को पुष्पसहित नवनीत प्रदान करना चाहिये॥४॥

इन्द्रे कोष्ठं च पुष्पं च मधु कन्दाश्च भास्करे।
सत्यके मधुकं दद्याद् भृशाय नवनीतकम् ॥५॥

इन्द्र को कोष्ठ एवं पुष्प, सूर्य को कन्द एवं मधु, सत्यक को मधु तथा भृश को नवनीत प्रदान करना चाहिये।।५।।

माषं रजनिचूर्णं च गगनस्य बलिं ददेत्।
दुग्धाज्यं तगरं वह्नेः शिम्बान्नं पूष्णि पायसम् ॥६॥

आकाश को उड़द एवं हरताल, अग्नि को दूध, घी एवं तगरपुष्प तथा पूषा को शिम्बान्न (तरकारी) एवं पायस प्रदान करना चाहिये।।६।।

कङ्क्वन्नं वितथे शीधु राक्षसे बलिरिष्यते।
शिम्बान्नं कृसरं याम्ये गन्धर्वेऽखिलगन्धकम् ॥७॥

वितथ को पका हुआ कङ्कु, राक्षस को मदिरा, यम को तरकारी एवं खिचड़ी तथा गन्धर्व को सुगन्धि बलिरूप में प्रदान करना चाहिये।।७।।

भृङ्गराजेऽब्धिमत्स्यः स्यान्मृषे मत्स्यौदनं विदुः।
निर्ऋतौ तैलपिण्याकं बीजं दौवारिके बलिः ॥८॥

भृङ्गराज को समुद्र की मछली, मृष को मछली एवं भात, निर्ऋति को तेल में पका पिण्याक (पिण्डी या मुठिया) तथा दौवारिक को बीज की बलि देनी चाहिये।।८।।

सुग्रीवे मोदकं पुष्पदन्तके पुष्पतोयकम्।
वरुणे पायसं धान्यं शोणितेनासुरे बलिः ॥९॥

सुग्रीव को लड्डू, पुष्पदन्त को पुष्प एवं जल, वरुण को दूध एवं धान्य (अन्न) तथा असुर को रक्त प्रदान करना चाहिये।।९।।

सतिलं तण्डुलं शोषे रोगे स्याच्छुष्कमत्स्यकम्।
स्विन्नं हारिद्रकं वायौ नागे मद्यं च लाजकम् ॥१०॥

शोष को तिलयुक्त चावल, रोग को सूखी मछली, वायु को चर्बी एवं हरिद्रा (हल्दी) तथा नाग को मद्य एवं लावा प्रदान करना चाहिये।।१०।।

धान्यचूर्णं हि मुख्यस्य दधि सर्पिश्च सम्मतम्।
गुलौदनं तु भल्लाटे सोमे दुग्धौदनं ददेत् ॥११॥

मुख्य को अन्न का चूर्ण (आटा), दधि एवं घृत, भल्लाट को गुड़ में पका भात एवं सोम को दूध-भात प्रदान करना चाहिये।।११।।

शुष्कमांसं मृगे दद्याद् देवमातरि मोदकम्।
उदितौ तिलभक्ष्येण क्षीरान्नं सर्पिरीशके ॥१२॥

मृग को शुष्क मांस, देवमाता अदिति को लड्डू, उदिति को तिल-भोज्य एवं ईश

को दूध में पका अन्न एवं घृत को बलिरूप में चढ़ाना चाहिये।।१२।।

लाजं धान्यं सविन्द्रस्य साविन्द्रे गन्धतोयकम् ।
बस्तमेदस्तथा मुद्गचूर्णमिन्द्रेन्द्रराजयोः ॥१३॥

लावा एवं धान्य सविन्द्र को, सुगन्धित जल साविन्द्र को, बकरी का मेद एवं मूँग का चूर्ण इन्द्र एवं इन्द्रराज को प्रदान करना चाहिये।।१३।।

रुद्रे रुद्रजये मांसं स्विन्नमापापवत्सयोः ।
कुमुदं मत्स्यमांसं च शङ्खकच्छपमांसकम् ॥१४॥

रुद्र एवं रुद्रजय को मांस तथा चर्बी, आप एवं आपवत्स को कुमुदपुष्प, मछली का मांस, शङ्खक (शङ्ख के मध्य स्थित मांस) एवं कछुये का मांस प्रदान करना चाहिये।।१४।।

मद्यमाज्यं चरक्यास्तु विदार्या लवणो बलिः ।
पूतनायास्तिलं पिष्टमन्याया मुद्गसारकम् ॥१५॥

चरकी को मद्य एवं घृत, विदारी को लवण, पूतना को तिल एवं पिष्ट तथा पापराक्षसी को मूँग का सत्त्व प्रदान करना चाहिये।।१५।।

❋ साधारणबलिः ❋

साधारणबलिः शुद्धभोजनं सघृतं दधि ।
सर्वेषामपि देवानां गन्धादीनि ददेत् क्रमात् ॥१६॥

सामान्य रूप से सभी देवों को प्रदान की जाने वाली बलि इस प्रकार है— साधारण बलि घृत के सहित शुद्ध भोजन एवं दधि है। सभी देवों को क्रमशः गन्ध आदि प्रदान करना चाहिये।।१६।।

कन्यका वाऽथ वेश्या वा बलिधारणयोग्यकाः ।
अङ्गन्यासकरन्यासैः पूतचेता यथाक्रमम् ॥१७॥

कन्या या वेश्या को बलि-पदार्थ धारण करने योग्य माना गया है। इन्हें अङ्गन्यास एवं करन्यास द्वारा पवित्र मन (एवं शरीर) वाली बनना चाहिये।।१७।।

ओङ्कारादिनमोऽन्तेन स्वस्वनामाभिधाय च ।
दत्वा पूर्वं जलं पश्चात् साधारणबलिं ददेत् ॥१८॥

वास्तुदेवों का क्रमानुसार नाम लेना चाहिये। उनके नाम से पूर्व 'ॐ' एवं नाम के पश्चात् 'नमः' लगाना चाहिये। उन्हें प्रथमतः जल एवं उसके पश्चात् साधारण बलि देनी चाहिये।।१८।।

तत्तद्योग्यबलिं पश्चाद् देयं तोयं तथा बुधैः ।
ग्रामादीनां तु मण्डूकपदे परमशायिके ॥१९॥

इसके पश्चात् उनको विशिष्ट बलि प्रदान कर पीछे जल प्रदान करना चाहिये। विद्वानों के अनुसार ग्रामादि में मण्डूक वास्तुपद एवं परमशायिक वास्तुपद में भी बलि प्रदान करना चाहिये।।१९।।

सन्तर्प्य देवता ह्येवं पूर्वोक्तविधिना क्रमात् ।
विसर्जयेत्ततो देवान् विन्यासार्थं तु मन्त्रवत् ॥२०॥

इस प्रकार पूर्व में कही गयी विधि से देवों को उनके क्रम के अनुसार तृप्त करके उन्हें विधिपूर्वक विसर्जित करना चाहिये, जिससे वास्तुक्षेत्र का निर्माण करने के लिये विन्यास (भवननिर्माण की योजना) किया जा सके।।२०।।

ब्रह्माणं बाह्यदेवांश्च तत्तदुक्तपदे न्यसेत् ।
देवालयविधानार्थं द्वारार्थं ते प्रकीर्तिताः ॥२१॥

ब्रह्मा एवं बाह्य देवों को उनके-उनके स्थानों पर रखना चाहिये, जिससे देवालय एवं द्वार का विधान उनको ध्यान में रखते हुये किया जा सके।।२१।।

शेषाश्च निष्पदाः सर्वे रक्षार्थं तु निवेशिताः ।
एवं ग्रामादिषु प्रोक्तं रहस्यमिदमीरितम् ॥२२॥

पद से रहित शेष सभी देवों को वास्तु की रक्षा के लिये स्थान देना चाहिये। इसी विधि से ग्रामादि में भी देवों का विन्यास करना चाहिये। इस प्रकार वास्तु-पदविन्यास एवं वास्तुदेवों के पूजन के रहस्य का वर्णन किया गया है।।२२।।

कृतोपवासः स्थपतिः प्रभाते
विशुद्धदेहोऽविकलं गृहीत्वा ।
विशेषसामान्यबलिं सुराणां
यथोक्तनीत्या विदधीत सम्यक् ॥२३॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे बलिकर्मविधानो
नामाष्टमोऽध्यायः

प्रातःकाल से उपवास करते हुये स्थपति विशुद्ध शरीर एवं शान्त मन से वास्तु देवों की विशेष एवं सामान्य बलि को लेकर पूर्ववर्णित रीति से भली-भाँति पूजा करे एवं बलि प्रदान करे।।२३।।

अथ नवमोऽध्यायः

(ग्रामविन्यासः)

ग्रामादीनां मानं विन्यासं चापि वक्ष्यते विधिना।

ग्रामयोजना—अब ग्राम आदि का नियमानुसार प्रमाण एवं विन्यास (निर्माण-योजना) का वर्णन किया जा रहा है।

✹ पुनर्मानोपकरणम् ✹

दण्डानां पञ्चशतं क्रोशं तद्द्विगुणमर्धगव्यूतम् ॥१॥

पुनः प्रमाण-चर्चा— पाँच सौ दण्डों का एक क्रोश एवं उसके दुगने (दो क्रोश) का एक अर्धगव्यूत मान होता है।।१।।

गव्यूतं तद्द्विगुणं ह्याष्टसहस्रं तु योजनं विद्यात्।
अष्टधनुश्चतुरस्रा काकणिका तच्चतुर्गुणं माषम् ॥२॥

एक अर्धगव्यूत का दुगुना एक गव्यूत होता है। आठ हजार दण्ड का एक योजन होता है। आठ धनु (दण्ड) का चौकोर माप काकणिका एवं उसका चौगुना माप माष कहलाता है।।२।।

माषचतुर्वर्तनकं तत्पञ्चगुणं हि वाटिका कथिता।
वाटिकया युगगुणिता ग्रामकुटुम्बावनिः श्रेष्ठाः ॥३॥

माष का चार गुना वर्तनक एवं पाँच गुना वाटिकासंज्ञक माप होता है। वाटिका का चार गुना स्थान ग्राम में एक परिवार के लिये उत्तम होता है।।३।।

एवं भूगतमानं दण्डैस्तेषां तु वक्ष्यते मानम्।

इस प्रकार दण्डमाप के द्वारा भूमि का मान होता है। उनका मान (इस प्रकार) कहा जा रहा है।

✹ ग्रामादिमानम् ✹

ग्रामस्य शतसहस्रैर्दण्डैः पर्यन्तमानमिदमुक्तम् ॥४॥

ग्रामादि का प्रमाण—(सबसे बड़े) ग्राम का मान सौ हजार दण्ड कहा गया है।।४।।

विंशतिसहस्रदण्डात्तत्समवृद्ध्या तु पञ्चमानं स्यात् ।
ग्रामे विंशतिभागे कुटुम्बभूमिस्तदेकभागेन ॥५॥

बीस हजार दण्ड से प्रारम्भ कर सम संख्या में मानवृद्धि करते हुये ग्रामों के पाँच प्रकार के प्रमाण होते हैं। ग्राम के बीस भाग में एक भाग एक कुटुम्ब की भूमि होती है।।५।।

दण्डैः पञ्चशतैर्यद्धीनं ग्रामस्य मानमिदम् ।
तस्मात् पञ्चशतवृद्ध्या यावद्विंशत्सहस्रदण्डान्तम् ॥६॥

हीन (सबसे छोटे) ग्राम का मान पाँच सौ दण्ड का होता है। इससे प्रारम्भ कर पाँच सौ दण्ड बढ़ाते हुये बीस हजार दण्ड तक मान प्राप्त करना चाहिये।।६।।

प्रोक्तं चत्वारिंशद्भेदं ग्रामस्य मानमिदम् ।
द्विसहस्रदण्डमानं सार्धसहस्रं सहस्रदण्डं च ॥७॥

ग्राम के चालीस भेद होते हैं। यह ग्राम का मान है। (चौड़ाई में) दो हजार दण्ड, एक हजार पाँच सौ दण्ड तथा हजार दण्ड (ग्राम का मान है)।।७।।

नवशतमथ सप्तशतं पञ्चशतं त्रिशतमिति च विस्तारम् ।
नगरस्य सहस्रादिद्विसहस्रान्तं च दण्डमानं स्यात् ॥८॥

नौ सौ, सात सौ, पाँच सौ एवं तीन सौ (ग्राम का) विस्तार होता है। नगर का दण्डमान एक हजार दण्ड से प्रारम्भ कर दो हजार दण्डपर्यन्त होता है।।८।।

नगरस्याष्टसहस्रैर्दण्डैः पर्यन्तमानमिदम् ।
द्विद्विसहस्रक्षयतो द्विसहस्रान्तं चतुर्विधं मानम् ॥९॥

(सबसे बड़े) नगर का मान आठ हजार दण्ड होता है। दो-दो हजार दण्ड कम करते हुये नगर के चार प्रकार के मान प्राप्त होते हैं।।९।।

ग्रामः खेटः खर्वटमथ दुर्गं नगरमिति च पञ्चविधम् ।
दण्डैस्तेषां मानं वक्ष्येऽहं त्रित्रिभेदभिन्नानाम् ॥१०॥

ग्राम, खेट, खर्वट, दुर्ग एवं नगर—ये पाँच प्रकार के (वसति-विन्यास) होते हैं। अब मैं (मय ऋषि) दण्ड के द्वारा प्रत्येक के तीन-तीन भेद कहता हूँ।।१०।।

चतुरधिकषष्टिदण्डो ग्रामः स्याद्धीनहीनमिति कथितः ।
ग्रामस्य मध्यमस्य द्विगुणं त्रिगुणं तथोत्तमं प्रोक्तम् ॥११॥

छोटे में भी सबसे छोटा ग्राम चौंसठ दण्ड होता है। मध्यम ग्राम उसका दुगुना एवं उत्तम तीन गुना होता है।।११।।

षट्पञ्चाशद्द्विशतं हीनं खेटं सविंशति त्रिशतम्।
मध्यममुत्तममेवं सचतुरशीति त्रिशतदण्डम् ॥१२॥

छोटे खेट का माप दो सौ छप्पन, मध्यम खेट का तीन सौ बीस तथा उत्तम खेट का माप तीन सौ चौरासी दण्ड होता है।।१२।।

अष्टौ चत्वारिंशच्चतुःशतं द्वादशं च पञ्चशतम्।
षट्सप्ततिपञ्चशतं हीनं मध्योत्तमं च खर्वटकम् ॥१३॥

छोटे खर्वट का माप चार सौ अड़तालीस, मध्यम खर्वट का माप पाँच सौ बारह तथा उत्तम खर्वट का माप पाँच सौ छिहत्तर दण्ड कहा गया है।।१३।।

चत्वारिंशत्षट्शतमधमं दुर्गं चतुःसप्तशतदण्डम्।
मध्यममुत्तमदुर्गं सप्तशतं षष्टिरष्टौ हि ॥१४॥

कनिष्ठ दुर्ग छः सौ चालीस दण्ड, मध्यम दुर्ग सात सौ चार दण्ड एवं उत्तम दुर्ग सात सौ अड़सठ दण्ड का होता है।।१४।।

द्वात्रिंशदष्टशतकं नगरं षण्णवत्यष्टशतदण्डम्।
षष्टिर्नवशतमधमं मध्यममुत्कृष्टमिति यथासंख्यम् ॥१५॥

कनिष्ठ नगर आठ सौ बत्तीस दण्ड, मध्यम नगर आठ सौ छियानबे दण्ड तथा उत्तम नगर नौ सौ साठ दण्ड माप का होता है।।१५।।

षोडशदण्डविवृद्ध्या प्रत्येकं नवविधं भवति।
द्विगुणं त्रिपादमर्धं पादं तेषां मुखायतं विपुलात् ॥१६॥

सोलह दण्ड की वृद्धि करते हुये प्रत्येक के नौ भेद होते हैं। इनकी लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी, तीन चौथाई, आधी या चौथाई अधिक होती है।।१६।।

व्यासषडष्टांशैकं चतुरस्रं वा यथेष्टं स्यात्।
तस्मिन् विपुलायामे दण्डैरोजैः प्रमाणमात्तव्यम् ॥१७॥

अथवा छः या आठ भाग अधिक हो सकता है। इच्छानुसार इसकी लम्बाई-चौड़ाई समान भी हो सकती है। इनकी लम्बाई एवं चौड़ाई विषम दण्डसंख्या में होनी चाहिये।।१७।।

शेषं वाटधरार्थं ग्रामादिषु सर्ववस्तुषु च।

शेष का सम्बन्ध उस क्षेत्र से होता है, जिस पर निर्माणकार्य नहीं हुआ रहता। इस विधि का प्रयोग सभी ग्राम आदि वास्तुक्षेत्रों पर होता है।

✹ आयादि ✹

आयादिसम्पदर्थं वृद्धिं हानिं च यष्टिभिः कुर्यात् ॥१८॥

आयादि को प्राप्त करने के लिये दण्डों को बढ़ाया-घटाया जा सकता है।।१८।।

आयव्ययर्क्षयोन्यायुभिरथ तिथिभिश्च वारैश्च।
यजमानवस्तुनामजन्मर्क्षेणाविरोधिकं यत्तु ॥१९॥

जिस वास्तु का माप आय, व्यय, नक्षत्र, योनि, आयु, तिथि एवं वार के विपरीत न हो एवं न ही यजमान (गृहस्वामी) के नाम, जन्मनक्षत्र अथवा स्थान से विपरीत होना चाहिये (कहने का तात्पर्य यह है कि ग्राम आदि वसतिविन्यास के सभी विचारणीय बिन्दु गृहस्वामी एवं उसकी भूमि के अनुकूल होने चाहिये)।।१९।।

तन्मानेन समेतं गृह्णीयात् सर्वसम्पत्त्यै।
व्यासायामसमूहे वसुनिधिगुणिते दिनेशधर्महृते ॥२०॥

सभी प्रकार की सम्पत्तियों की प्राप्ति के लिये वास्तुक्षेत्र को उसके मान समेत ग्रहण करना चाहिये। वास्तुक्षेत्र के चौड़ाई एवं लम्बाई को जोड़ कर आठ से एवं नौ से गुणा करना चाहिये। प्राप्त गुणनफल में क्रमशः बारह एवं दश का भाग देना चाहिये।।२०।।

आयव्ययमवशिष्टं रामघ्नेऽष्टापहृच्छेषम्।
ध्वजधूमसिंहश्वावृषखरगजकाकाश्च योनिगणाः ॥२१॥

शेष संख्या से क्रमशः आय एवं व्यय का ज्ञान करना चाहिये। (लम्बाई एवं चौड़ाई के योग में) तीन से गुणा कर आठ से भाग देने पर जो शेष बचे, उससे योनियों की प्राप्ति होती है। ये योनियाँ ध्वज, धूम, सिंह, श्वान, वृष, खर, गज एवं काक कही गई हैं।।२१।।

अष्टौ योनय उदिता ध्वजहरिवृषहस्तिनः शुभदाः।
पुनरपि वसुभिर्गुणिते त्रिनवाहृत्या फलं वयः शिष्टम् ॥२२॥

(उपर्युक्त) आठ योनियाँ कही गई हैं। इनमें ध्वज, सिंह, वृष एवं गज प्रशस्त हैं। पुनः (लम्बाई एवं चौड़ाई के योग में) आठ का गुणा कर सत्ताईस का भाग देने पर भागफल से वय का ज्ञान होता है।।२२।।

नक्षत्रं परिणाहे त्रिंशद्‌ध्याप्ते तिथिर्यमीशहृते।
वारं सूर्यमुखं स्याद् बुद्ध्वैवं सर्ववस्तु करणीयम् ॥२३॥

लम्बाई एवं चौड़ाई के योग में तीस का भाग देने पर शेष संख्या से सौर दिनों का ज्ञान होता है। प्रथम वार रविवार होता है। सभी प्रकार के वास्तुओं में इसी प्रकार ज्ञात कर कार्य करना चाहिये।।२३।।

आयाधिकमथ सुखदं व्ययमधिकं सर्वनाशं स्यात्।
विपरीते तु विपत्त्यै तस्मात् सम्यक् परीक्ष्य कर्तव्यम्॥२४॥

आय का अधिक होना सुखदायक होता है एवं व्यय का अधिक होना नाश का कारण होता है। इसके विपरीत होना विपत्तिकारक होता है। अतः भली-भाँति इसकी परीक्षा करने के पश्चात् ही कार्य करना चाहिये।।२४।।

✵ विप्रसंख्या ✵

द्वादशसहस्रविप्रैर्यत्रिष्ठितमुत्तमोत्तमं ग्रामम्।
दशसाहस्रैर्मध्यममधमं स्यादष्टसाहस्रैः॥२५॥

ब्राह्मणों की संख्या—सर्वश्रेष्ठ ग्राम वह है, जहाँ बारह हजार ब्राह्मण हों। मध्यम ग्राम में दस हजार तथा छोटे ग्राम में आठ हजार ब्राह्मण होते हैं।।२५।।

सप्तसहस्रैर्विप्रैर्मध्यमोत्तममित्यभीष्टं स्यात्।
षट्साहस्रैर्मध्यममधमं तु पञ्चसाहस्रैः॥२६॥

सात हजार ब्राह्मण मध्यमोत्तम ग्राम में होते हैं। छः हजार ब्राह्मण मध्यम-मध्यम ग्राम में तथा पाँच हजार ब्राह्मण मध्यम के अधम ग्राम में होते हैं।।२६।।

अधमोत्तमं तु चातुःसाहस्रैस्तु त्रिसाहस्रैः।
अधमसमं द्विसहस्रैरधमाधममेव निर्दिष्टम्॥२७॥

अधमोत्तम (छोटे ग्राम में उत्तम) ग्राम में चार हजार, अधमसम (छोटे में मध्यम) ग्राम में तीन हजार तथा अधमाधम (छोटे में सबसे छोटे) ग्राम में दो हजार ब्राह्मण रहते हैं।।२७।।

साहस्रैर्द्विजसङ्घैर्नीचोत्तममाहुराचार्याः।
सप्तशतैरधममध्यममिह पञ्चशतैस्तु नीचाल्पम्॥२८॥

नीचोत्तम ग्राम में एक हजार ब्राह्मण रहते हैं। नीच-मध्यम ग्राम में सात सौ एवं नीचाल्प ग्राम में पाँच सौ ब्राह्मण होते हैं, ऐसा आचार्यों का कथन है।।२८।।

साष्टशतं तु द्विगुणं त्रिगुणं वेदाधिकं तथाशीतिः।
अष्टाष्टकपञ्चाशद् द्वात्रिंशच्च त्रिरष्टौ हि॥२९॥

ब्राह्मणों के आवास की दृष्टि से दस प्रकार के क्षुद्रक ग्राम इस प्रकार हैं—एक हजार आठ, दो हजार सोलह, तीन हजार चौबीस, चौरासी, चौंसठ, पचास, बत्तीस तथा चौबीस।।२९।।

द्वादशषोडशविप्रैर्दशभेदं क्षुद्रकं ग्रामम्।
अन्यदशक्तानां चेद् दानं दशभूसुरान्तमेकादि॥३०॥

बारह एवं सोलह ब्राह्मण (आवास) की दृष्टि से क्षुद्रक ग्राम के दस भेद होते हैं। यदि ऐसा न हो तो एक से दस ब्राह्मण को भूमि दान में देना चाहिये।।३०।।

एककुटुम्बिसमेतं कुटिकं स्यादेकभोगमिति कथितम् ।
तस्य सुखालयमिष्टं शेषाणां दण्डकादीनि ॥३१॥

जिस ग्राम में एक ब्राह्मण-परिवार रहता हो, उसे 'कुटिक' ग्राम तथा 'एकभोग' ग्राम कहते हैं। वहाँ 'सुखालय' प्रशस्त होता है तथा 'दण्डक' आदि अन्य ग्रामों में प्रशस्त होता है।।३१।।

युग्मायुग्मविभागैर्द्विविधं स्यात् सर्ववस्तुविन्यासम् ।
युग्मे सूत्रपथं स्यादसमे पदमध्यमे च वीथी स्यात् ॥३२॥
अन्योन्यसङ्करश्चेदशुभं स्यात् सर्वजन्तूनाम् ।

सभी प्रकार के वास्तु-विन्यास दो विभागों—युग्म एवं अयुग्म (सम संख्या एवं विषम संख्या) में रक्खे जाते हैं। युग्म वास्तुविन्यास में सूत्रपथ से मार्गविन्यास एवं अयुग्म विन्यास में मध्यम पद से वीथी का विन्यास किया जाता है।।३२।।

✻ ग्रामनामानि ✻

दण्डकमपरं स्वस्तिकमित ऊर्ध्वं प्रस्तरं चैव ॥३३॥
पश्चात् प्रकीर्णकं स्यान्नन्द्यावर्तं परागमथ पद्मम् ।
स्याच्छ्रीप्रतिष्ठितेनैवाष्टविधं ग्राममुद्दिष्टम् ॥३४॥

ग्रामों के नाम—ग्राम आठ प्रकार के होते हैं—दण्डक, स्वस्तिक, प्रस्तर, प्रकीर्णक, नन्द्यावर्त, पराग, पद्म एवं श्रीप्रतिष्ठित।।३३-३४।।

✻ वीथिविधानम् ✻

सर्वेषां ग्रामाणां मङ्गलवीथ्यावृता बहिस्त्वबहिः ।
ब्रह्मस्थानं ह्युदितं तस्मिन् देवालयं तु वा पीठम् ॥३५॥

मार्ग-विधान—सभी ग्राम अन्दर एवं बाहर से मङ्गलवीथी से आवृत होते हैं। ग्राम के ब्रह्मस्थान (मध्य भाग) में देवालय या पीठ (देवों के निमित्त बना चबूतरा) होता है।।३५।।

एकद्वित्रिचतुर्भिः पञ्चभिरपि कार्मुकैश्च मार्गततिः ।
प्राक्प्रत्यग्गतमार्गा ऋतुदण्डमहापथाख्यास्ते ॥३६॥

मार्गों की चौड़ाई एक, दो, तीन, चार या पाँच कार्मुक (दण्ड) होती है; किन्तु पूर्व से पश्चिम जाने वाले 'महापथ' संज्ञक मार्ग छः दण्ड चौड़े होते हैं।।३६।।

मध्यमयुक्ता वीथी ब्रह्माख्या सैव नाभिः स्यात् ।
द्वारसमेता वीथी राजाख्या च द्विपार्श्वतः क्षुद्रा ॥३७॥

ग्राम की मध्य-वीथी 'ब्रह्मवीथी' होती है। वही ग्राम की नाभि होती है। द्वार से युक्त वीथी 'राजवीथी' होती है। दोनों पार्श्वों में बनी वीथी 'क्षुद्रा' होती है।।३७।।

सर्वाः कुट्टिमकाख्या मङ्गलवीथी तथैव रथमार्गम् ।
तिर्यग्द्वारसमेता नाराचपथा इति ख्याता ।
उत्तरदिङ्मुखमार्गाः क्षुद्रार्गलवामनाख्यपथाः ॥३८॥

सभी विथियाँ 'कुट्टिमका' संज्ञक होती हैं। इसी प्रकार मङ्गलवीथी 'रथमार्ग' कहलाती है। तिर्यग् द्वार (प्रधान द्वार का सहायक द्वार) युक्त वीथियाँ 'नाराचपथा' कहलाती हैं। उत्तर की ओर जाने वाले मार्ग 'क्षुद्र', 'अर्गल' एवं 'वामन' कहे जाते हैं।।३८।।

ग्रामावृता मङ्गलवीथिकाख्या पुरावृता या जनवीथिका स्यात् ।
तयोस्तु रथ्याभिहिताभिधा स्यात् पुरातनैरन्यतमेष्वथैवम् ॥३९॥

ग्राम को घेरने वाली वीथी 'मङ्गलवीथिका' तथा पुर को आवृत करने वाली वीथी 'जनवीथिका' होती है। इन दोनों को 'रथ्या' भी कहा जाता है। प्राचीन विद्वानों के अनुसार अन्य मार्गों को भी इसी प्रकार समझना चाहिये।।३९।।

✹ ग्रामभेदाः ✹

द्विजकुलपरिपूर्णं वस्तु यन्मङ्गलाख्यं
नृपवणिगभियुक्तं वस्तु यत्तत् पुरं स्यात् ।
तदितरजनवासं ग्राममित्युच्यतेऽस्मिन्
मठमिति पठितं यत्तापसानां निवासम् ॥४०॥

ग्राम के भेद—ब्राह्मणों से परिपूर्ण वसति-विन्यास को 'मङ्गल' कहते हैं। राजा (क्षत्रिय) तथा व्यापारियों से युक्त स्थान 'पुर' कहलाता है। जहाँ अन्य जन निवास करते है, उसे 'ग्राम' कहते हैं। जहाँ तपस्वियों का निवास होता है, उसे 'मठ' कहते हैं।।४०।।

प्रागुदगग्रं मार्गं ककनीकृतदण्डवत्तु तन्मध्ये ॥४१॥

द्वारचतुष्टययुक्तं दण्डकमिति भण्यते मुनिभिः ।
दण्डवदेका वीथी साप्येवं दण्डकं प्रोक्तम् ॥४२॥

पूर्व एवं उत्तर की ओर सीधी रेखा से बने हुये दण्ड के समान मार्ग होते हैं एवं

चार द्वारों से युक्त होते हैं। ऐसे ग्राम को मुनिजन दण्डक कहते हैं। जहाँ दण्ड के सदृश एक वीथी होती है, उसे भी 'दण्डक' ग्राम कहते हैं।।४१-४२।।

नवपदयुक्ते ग्रामे परितो मार्गं पदस्य तस्य बहिः ।
तस्मात् प्रागुदगग्रात् प्राग्वीथी दक्षिणाग्रा सा ॥४३॥

नौ पदों से युक्त ग्राम में पद से बाहर चारो ओर एक मार्ग होता है। एक वीथी उत्तर-पूर्व से प्रारम्भ होकर पूर्व की ओर जाती है। वह दक्षिण से प्रारम्भ होती है।।४३।।

तस्मात् प्राग्दक्षिणतो दक्षिणवीथी प्रतीचिमुखा ।
तस्मादवागपरतः पश्चिमवीथ्यग्रमुत्तरतः ॥४४॥

दक्षिण वीथी पूर्व-दक्षिण से प्रारम्भ होकर पश्चिम की ओर जाती है। दक्षिण से पश्चिम होकर जाने वाली वीथी उत्तर की ओर जाती है।।४४।।

अपरोत्तरतस्तस्मादुत्तरवीथ्यां मुखं प्राच्याम् ।
एतत् स्वस्तिकमुदितं स्वस्त्याकृत्या चतुर्मार्गम् ॥४५॥

दूसरी वीथी उत्तर से प्रारम्भ होती है, इसलिये उत्तरवीथी है। इसका मुख पूर्व की ओर होता है। इस ग्राम को 'स्वस्तिक' कहा गया है। इसके चार मार्ग स्वस्तिक की आकृति के होते हैं।।४५।।

प्राक्प्रत्यग्गतमार्गैस्त्रिभिरुदगग्रैस्त्रिभिश्चतुर्भिरथो ।
पञ्चभिरपि षट्सप्तभिरपि युक्तं प्रस्तरं पञ्च ॥४६॥

'प्रस्तर' ग्राम पाँच प्रकार के होते हैं। इसमें पूर्व से पश्चिम तीन मार्ग जाते हैं। उत्तर से जाने वाले मार्ग तीन, चार, पाँच, छः या सात होते हैं।।४६।।

प्रागग्रैस्तु चतुर्भिर्द्वादशशिवपङ्क्तिनन्दवसुमार्गैः ।
उदगग्रैरभियुक्तं ह्येतत् प्रोक्तं प्रकीर्णकं पञ्च ॥४७॥

'प्रकीर्णक' ग्राम पाँच प्रकार के होते हैं। इसमें चार मार्ग पूर्व से पश्चिम जाते हैं। उत्तर से बारह, ग्यारह, दस, नौ या आठ मार्ग जाते हैं।।४७।।

प्राक्प्रत्यग्गतमार्गैः पञ्चभिरुदगग्रैस्त्रयोदशभिः ।
त्रिःसप्तभिरथ तिथिभिः षोडशभिः सप्तदशभिरपि मार्गैः ॥४८॥

(नन्द्यावर्त ग्राम का लक्षण इस प्रकार है—) पाँच सड़कें पूर्व से पश्चिम की ओर जाती हैं। उत्तर दिशा से तेरह, इक्कीस, पन्द्रह, सोलह एवं सत्रह मार्गों द्वारा (इस ग्राम का विन्यास किया जाता है)।।४८।।

युक्तं नन्द्यावर्तं दिक्षु चतुर्द्वारसंयुक्तम् ।
नन्द्यावर्ताकृत्या बाह्ये द्वारैरबाह्यतो मार्गैः ॥४९॥

नन्द्यावर्त ग्राम (उपर्युक्त मार्गों से) युक्त होता है। यह नन्द्यावर्त आकृति का होता है। बाहर की ओर जाने वाले मार्गों के बाहर चारो दिशाओं में चार द्वार होते हैं।।४९।।

युक्तानेकैर्युक्तं नन्द्यावर्ताभमिदमुदितम् ।
आद्यैरष्टादशभिर्द्वाविंशत्यङ्ककैरुदग्वक्त्रैः ॥५०॥

अनेक मार्गों के आपस में संयुक्त होने से अनेक मार्ग-संयोग (तिराहे, चौराहे आदि) बनते हैं। नन्द्यावर्त की आकृति के सदृश होने के कारण इस ग्राम को 'नन्द्यावर्त' कहते हैं।

पराग ग्राम का लक्षण इस प्रकार है—यहाँ अट्ठारह से बाईस संख्या तक मार्ग उत्तर से जाते हैं।।५०।।

षड्भिः प्राङ्मुखमार्गैर्युक्तं ह्येतत् परागमिति कथितम् ।
प्राक्प्रत्यग्गतमार्गैः सप्तभिरुदगग्रैस्त्रिवेदशरैः ॥५१॥

छः मार्ग पूर्व से निकलते हैं। इस ग्राम को 'पराग' कहते हैं। (पद्म ग्राम में) पूर्व-पश्चिम में सात मार्ग होते हैं तथा उत्तर से तीन, चार, पाँच—।।५१।।

षट्सप्तभिरपि युक्तैर्विंशतिभिः पञ्चधा पद्मम् ।
अष्टभिरथ पूर्वाग्रैरुदगग्रैः साष्टविंशतिभिः ॥५२॥

छः या सात मार्ग निकलते हैं तथा बीस मार्ग-संयोग बनते हैं। इस प्रकार 'पद्म'-ग्राम के पाँच भेद बनते हैं। (श्रीप्रतिष्ठित ग्राम में) आठ मार्ग पूर्व दिशा से तथा अट्ठाईस से प्रारम्भ कर—।।५२।।

आद्यैर्द्विः षोडशभिर्मार्गैरन्त्यैर्युतं यत्तु ।
तच्छ्रीप्रतिष्ठितं स्यादष्टविधं ग्राममुद्दिष्टम् ॥५३॥

बत्तीस संख्या तक मार्ग उत्तर दिशा से निकलते हैं। इसे 'श्रीप्रतिष्ठित' ग्राम कहते हैं। इस प्रकार आठ प्रकार के ग्राम होते हैं।।५३।।

अथवा श्रीवत्सादिकमुपनेतव्यं तु विन्यासम् ।
सर्वेषां ग्रामाणां नाभिं न प्रोतयेन्मतिमान् ॥५४॥

अथवा 'श्रीवत्स' आदि अन्य ग्रामों का भी विन्यास करना चाहिये। सभी ग्रामों के नाभि (केन्द्र-स्थल) को बुद्धिमान व्यक्ति को विद्ध नहीं करना चाहिये।।५४।।

ग्रामे वाऽथ गृहे वा दण्डच्छेदोऽपि नैव कर्तव्यः ।
सकलाद्यासनकान्तं विन्यासार्थं पदं बुधैर्ग्राह्यम् ॥५५॥

ग्राम अथवा गृह में दण्डच्छेद नहीं करना चाहिये। बुद्धिमान व्यक्ति को ग्राम

अथवा गृह के विन्यास हेतु सकल (एकपद वास्तु) से लेकर आसन (एक हजार पद वास्तु) तक (किसी उपयुक्त) पदविन्यास को ग्रहण करना चाहिये।।५५।।

क्षुद्रग्रामे मार्गाश्चत्वारश्चाष्ट मध्यमे ग्रामे।
द्वादश षोडश मार्गा ग्रामेषूत्कृष्टकेषु मताः ॥५६॥

छोटे ग्राम में चार मार्ग, मध्यम ग्राम में आठ मार्ग एवं उत्तम ग्राम में बारह अथवा सोलह मार्ग होते हैं।।५६।।

✵ द्वाराणि ✵

भल्लाटे च महेन्द्रे राक्षसपादे तु पुष्पदन्तपदे।
द्वारायतनस्थानं जलमार्गाश्चापि चत्वारः ॥५७॥

द्वार—भल्लाट, महेन्द्र, राक्षस एवं पुष्पदन्त पद द्वारस्थापन के स्थान हैं तथा जलमार्ग भी चार हैं।।५७।।

वितथपदेऽथ जयन्ते सुग्रीवांशे च मुख्यदेवपदे।
भृशपूषभृङ्गराजा दौवारिकशोषनागदितिजलदाः ॥५८॥

जलमार्ग के चार वास्तु-पद वितथ, जयन्त, सुग्रीव एवं मुख्य हैं! भृश, पूषा, भृङ्गराज, दौवारिक, शोष, नाग, दिति एवं जलद—।।५८।।

स्थानमुपद्वाराणामष्टौ देवा इमे कथिताः।
त्रिकरं पञ्चकरं तत् सप्तकरं द्वारविस्तरम् ॥५९॥

इन आठ वास्तुदेवों के पद उपद्वार के स्थान हैं। इन उपद्वारों का विस्तार तीन, पाँच या सात हस्त होता है।।५९।।

तारद्विगुणोत्सेधं चाध्यर्धं वाङ्घ्रिहीनं तत्।
सर्वेषां ग्रामाणां परितः परिखा बहिश्च वप्राश्च ॥६०॥

इन उपद्वारों की ऊँचाई उसकी चौड़ाई की दुगुनी, डेढ़ गुनी अथवा तीन चौथाई होनी चाहिये। सभी ग्रामों के चारो ओर बाहर परिखा (खाई) एवं वप्र (प्राचीर, घेरने वाली भित्ति) होनी चाहिये।।६०।।

ग्रामादयोऽपि नद्या दक्षिणतीरे तदन्वितायामाः।
नवनववसुवसुभागे मध्ये ब्राह्मं ततः परं दैवम् ॥६१॥

नदी के दक्षिण तट पर उससे घिरे ग्राम (उत्तम) होते हैं। इक्यासी वास्तुपद एवं चौंसठ वास्तुपद-विन्यास से युक्त ग्राम का मध्य भाग ब्राह्मक्षेत्र एवं इसके पश्चात् दैव क्षेत्र होता है।।६१।।

मानुषमथ पैशाचं क्रमशः सङ्कल्प्य युक्त्या तु।
दैविकमानुषभागे विप्राणां स्याद् गृहश्रेणी ॥६२॥

इसके पश्चात् मानुष एवं पैशाच क्षेत्र का निश्चय करना चाहिये। दैव एवं मानुष क्षेत्र में ब्राह्मणों के गृह होने चाहिये।।६२।।

कर्मोपजीविनां स्यात्पैशाचे तत्र वा द्विजावासम्।
तस्मिन् सुरगणभवनं क्रमशः प्रागादिषु स्थाप्यम् ॥६३॥

अपने कार्य के द्वारा अपनी आजीविका चलाने वालों का गृह पैशाच क्षेत्र में होना चाहिये अथवा वहाँ ब्राह्मणों का आवास होना चाहिये। उनके मध्य पूर्व आदि दिशाओं में क्रमानुसार देवालय की स्थापना करनी चाहिये।।६३।।

❋ प्रासादस्थानम् ❋

एतस्याभ्यन्तरे विप्रदेवतास्थापनं भवेत्।
शिवहर्म्यं च ग्रामाणां समं बाह्येऽथवा भवेत् ॥६४॥

वास्तु-क्षेत्र के भीतर ब्राह्मण एवं देवता की स्थापना करनी चाहिये। शिवालय की स्थापना ग्राम के बाहर होनी चाहिये अर्थात् शिवालय की स्थापना इच्छानुसार ग्राम के भीतर या बाहर कहीं भी हो सकती है।।६४।।

भृङ्गराजांशके वाऽपि पावके तु विनायकम्।
ऐशांशे शिवहर्म्यं स्यात् सौम्ये वानान्तरेषु वा ॥६५॥

भृङ्गराज के या पावक के भाग पर विनायक का मन्दिर होना चाहिये। ईश के पद पर, सोम के पद पर अथवा अन्य किसी वास्तुपद पर शिवमन्दिर की स्थापना करनी चाहिये।।६५।।

बाह्येऽस्य तु गृहश्रेणी मानेन विधिना कुरु।
शैवानां परिवाराणां प्रोक्तं स्थानमिहोच्यते ॥६६॥

देवालय के बाहर गृहों की श्रेणी पूर्ववर्णित मान के अनुसार नियमपूर्वक होनी चाहिये। शिव के परिवार-देवताओं के स्थान का यहाँ वर्णन किया जा रहा है।।६६।।

सूर्यपदे सौरं स्यादग्निपदे कालिकावेश्म।
भृशभागे विष्णुगृहं याम्यायां षण्मुखस्थानम् ॥६७॥

सूर्य के वास्तुपद पर सूर्यदेवता का स्थान एवं अग्नि के पद पर कालिका का मन्दिर होना चाहिये। भृश के वास्तुपद पर विष्णुमन्दिर तथा यम के पद पर षण्मुख (कार्तिकेय) का मन्दिर होना चाहिये।।६७।।

भृशभागे मृगांशे तु नैर्ऋत्यां केशवालयम्।
सुग्रीवांशे गणाध्यक्षः पुष्पदन्तपदेऽपि वा ॥६८॥

भृश, मृग या नैर्ऋत्य स्थान पर केशव का मन्दिर होना चाहिये। सुग्रीव के पद पर या पुष्पदन्त के पद पर गणाध्यक्ष (गणेश) का मन्दिर होना चाहिये।।६८।।

आर्यकभवनं निर्ऋते वरुणे विष्णोर्विमानं स्यात्।
स्थानकमासनशयनं धाम्न्येतस्मिन् क्रमेण चोर्ध्वतलात् ॥६९॥

आर्यक का भवन नैर्ऋत्य कोण में एवं विष्णु का विमान (देवालय) वरुण के पद पर होना चाहिये। मन्दिर में ऊपरी तल से क्रमशः विष्णु की स्थानक (खड़ी), आसन (बैठी) एवं शयन प्रतिमा होनी चाहिये।।६९।।

अथवा मूलतलं घनमुपरितले स्थानकं प्रोक्तम्।
सुगतालयमथ सुगले भृङ्गनृपे चैव जिनधाम ॥७०॥

अथवा भूतल पर बड़ी एवं भारी तथा ऊपरी तल पर स्थानक मुद्रा में विष्णुप्रतिमा होनी चाहिये। सुगल के पद पर सुगत (बुद्ध) की प्रतिमा एवं भृङ्गराज के पद पर जिन-देवालय होना चाहिये।।७०।।

मदिरालयमथ वायौ मुख्ये कात्यायनीवासः।
सोमे धनदगृहं वा मातृणामालयं तत्र ॥७१॥

वायु के पद पर मदिरा का मन्दिर, मुख्य के पद पर कात्यायनी का मन्दिर, सोम के पद पर धनद (कुबेर) का मन्दिर अथवा मातृदेवियों का मन्दिर होना चाहिये।।७१।।

ईशे शङ्करभवनं पर्जन्यांशे जयन्ते वा।
सोमे धनदगृहं वा शोषपदे वा विधातव्यम् ॥७२॥

शिवालय ईश, पर्जन्य या जयन्त के पद पर, कुबेर का मन्दिर सोम अथवा शोष के पद पर निर्मित कराना चाहिये।।७२।।

तत्र गजाननभवनं ह्यदितौ वा मातृकोष्ठं स्यात्।
मध्ये विष्णोर्धिष्ण्यं तत्र सभामण्डपं प्रोक्तम् ॥७३॥

वहीं गणेश का भवन होना चाहिये। अथवा अदिति के पद पर मातृदेवियों का मन्दिर होना चाहिये। मध्य में विष्णु का मन्दिर होना चाहिये। वहीं सभामण्डप भी होना चाहिये—ऐसा कहा गया है।।७३।।

ब्रह्मस्थानैशाने वाग्नेय्यां वा सभास्थानम्।
तदुदक्पश्चिमभागे हरिसदनं दक्षिणे परतः ॥७४॥

अथवा सभास्थल ब्रह्मा के पद पर ईशान कोण या आग्नेय कोण में होना चाहिये। विष्णुमन्दिर उत्तर-पश्चिम में अथवा दक्षिण में होना चाहिये।।७४।।

क्रूरसमेतं कर्म प्रत्ययमथ पञ्च मध्ये तु।
युग्मायुग्मपदे च ब्रह्मस्थानेऽष्टनवभागे ।।७५।।

मध्य के पाँच पदों पर निर्माणकार्य दु:खकारक होता है। वास्तुमण्डल के युग्म पद से तथा अयुग्म पद (समसंख्या एवं विषमसंख्या) से निर्मित होने पर ब्रह्मस्थान आठ भाग एवं नौ भाग से निर्मित होना चाहिये।।७५।।

व्यपनीयाजं भागं प्रागादिषु दिक्षु च क्रमशः।
नलिनकभवनं स्वस्तिकनन्द्यावर्तौ प्रलीनकं चैव ।।७६।।
यच्छ्रीप्रतिष्ठिताख्यं चतुर्मुखहर्म्यं तु पद्मसमम्।
विष्णुच्छन्दविमानं त्रितलादिद्वादशतलान्तम् ।।७७।।

ब्रह्मा के भाग को छोड़ कर पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर क्रमशः नलिनक, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, प्रलीनक, श्रीप्रतिष्ठित, चतुर्मुख एवं पद्मसम भवन का निर्माण करना चाहिये। वहाँ तीन तल से लेकर बारह तलपर्यन्त विष्णुच्छन्द विमान का निर्माण होना चाहिये।

बहिरप्येवं सौधं ग्रामादिषु तत्र विज्ञेयम्।
स्थितमासीनं शयनं यत्र यदिष्टं तु तत्र तत्स्थाप्यम् ।।७८।।

यह विष्णुमन्दिर ग्रामादि से बाहर भी हो सकता है। इसमें विष्णु की खड़ी, बैठी या शयन करती हुई मूर्ति स्थापित करनी चाहिये।।७८।।

उत्कृष्टमध्यमाधमनीचादिकं क्रमेणैवम्।
भवनं ग्रामेषूदितमिति नीचं चोत्तमे न स्यात् ।।७९।।

ग्रामों में क्रमानुसार उत्कृष्ट, मध्यम, अधम एवं नीच आदि भवन होने चाहिये; किन्तु उत्तम ग्राम में नीच भवन नहीं होना चाहिये।।७९।।

क्षुद्रे क्षुद्रविमानं यद्यत्रैवोचितं विधातव्यम्।
त्रिचतुष्पञ्चतलं तद्धीने हीने च सामान्यम् ।।८०।।

यदि ग्राम क्षुद्र हो तो वहाँ क्षुद्र विमान (छोटा मन्दिर) ही उचित है एवं वही बनाना चाहिये। तीन, चार एवं पाँच तल का देवालय हीन ग्राम में होना चाहिये तथा हीन ग्राम में सामान्य भवन होना चाहिये।।८०।।

ग्रामे वा नगरे वोत्कृष्टे देवालयं तु नीचं चेत्।
नीचा भवन्ति पुरुषाः स्त्रियोऽपि दुःशीलतां यान्ति ।।८१।।

उत्कृष्ट ग्राम अथवा नगर में यदि नीच श्रेणी का देवालय हो तो वहाँ के पुरुषों में नीच प्रवृत्ति एवं स्त्रियों में दुःशीलता होती है।।८१।।

तस्मात् सममधिकं वा तत्सङ्ख्येव प्रयोक्तव्या।
हरिहरसदनं वास्तुकमन्यत् सर्वं यथेष्टं स्यात् ॥८२॥

इसलिये ग्राम अथवा नगर की श्रेणी के समान या अधिक श्रेणी का मन्दिर निर्मित होना चाहिये। हरिहर मन्दिर अथवा अन्य सभी वास्तुनिर्मिति यथोचित होनी चाहिये।।८२।।

❋ दौवारिकाः ❋

चण्डेश्वरः कुमारो धनदः काली च पूतना चैव।
कालीसुतश्च खड्गी चैते दौवारिकाः प्रोक्ताः ॥८३॥

चण्डश्वर, कुमार, धनद, काली, पूतना, कालीसुत तथा खड्गी—ये देवता दौवारिक कहे गये हैं।।८३।।

प्राक्प्रत्यङ्मुखमैशं ग्रामादिषु तत्पराङ्मुखं शुभदम्।
विष्णुगृहं सर्वमुखं ग्रामस्यान्तर्मुखं शुभदम् ॥८४॥

ग्राम आदि में पूर्वमुख या पश्चिममुख शिव का स्थान होना चाहिये। यदि उनका मुख ग्रामादि से बाहर की ओर हो तो प्रशस्त होता है। विष्णु का मुख सभी दिशाओं में हो सकता है; किन्तु उनका मुख यदि ग्राम की ओर हो तो शुभ होता है।।८४।।

शेषं पूर्वाभिमुखं मातॄणामुत्तराभिमुखम्।
प्रत्यग्द्वारं सौरं गेहारम्भात् पुरामरावासम् ॥८५॥

शेष देवगण पूर्वमुख होने चाहिये। मातृदेवियों को उत्तरमुख स्थापित करना चाहिये। सूर्यमन्दिर का द्वार पश्चिममुख होना चाहिये। पुर आदि में मनुष्यों के गृह से पहले देवालयों का निर्माण कराना चाहिये।।५८।।

❋ वर्ज्यस्थानानि ❋

हृदये वंशस्थाने शूले सूत्रे च सन्धौ च।
कर्णसिरायां षट्के नोक्तान्यमरालयादीनि ॥८६॥

त्याज्य स्थान—वास्तुमण्डल के हृदय, वंश, सूत्र, सन्धिस्थल तथा कर्णसिराओं—इन छः स्थलों पर देवालय आदि का निर्माण नहीं होना चाहिये।।८६।।

❋ श्रेणिस्थानम् ❋

गोशाला दक्षिणतश्चोत्तरदेशे तु पुष्पवाटी स्यात्।
पूर्वद्वारोपान्ते पश्चिमतस्तापसावासम् ॥८७॥

अन्य श्रेणी के भवन-स्थान—(पुर तथा ग्राम आदि के) दक्षिण ओर गोशाला एवं उत्तर में पुष्पवाटिका होनी चाहिये। पूर्व या पश्चिम द्वार के निकट तपस्वियों का आवास होना चाहिये।।८७।।

सर्वत्रैव जलाशयमिष्टं वापी च कूपश्च।
वैश्यानां दक्षिणतः परितः सदनं तु शूद्राणाम् ॥८८॥

जलाशय, वापी एवं कूप सभी स्थानों पर होना चाहिये। वैश्यों का आवास दक्षिण में एवं शूद्रों का आवास चारो ओर होना चाहिये।।८८।।

प्राच्यां वाऽप्युत्तरतो गेहं कुर्यात् कुलालानाम्।
तत्रैव नापितानामन्यत्कर्मोपयुक्तानाम् ॥८९॥

पूर्व अथवा उत्तर दिशा में कुम्हारों के गृह होने चाहिये। वहीं नाइयों का एवं अन्य हस्तकौशल वालों के भी गृह होने चाहिये।।८९।।

मत्स्योपजीविनां स्याद्वासं वायव्यदेशे तु।
पश्चिमदेशे मांसैरुपवृत्तीनां निवासः स्यात् ॥९०॥

उत्तर-पश्चिम दिशा में मछुआरों का निवास होना चाहिये। पश्चिमी क्षेत्र में मांस से आजीविका चलाने वालों का निवास होना चाहिये।।९०।।

तैलोपजीविनां चैवोत्तरदेशे गृहश्रेणिः।

तेलियों के गृह उत्तर दिशा में होने चाहिये।

✹ गृहलक्षणम् ✹

धनुर्भिस्त्रिपञ्चसप्तभिरथ नवभिर्गृहावधिः प्रोक्तः ॥९१॥

गृह के लक्षण—गृहों की चौड़ाई तीन, पाँच, सात या नौ धनुप्रमाण होनी चाहिये।।९१।।

दण्डाभ्यामथ तस्मादायामं वर्धयेत् क्रमशः।
व्यासद्विगुणावधिकं यावद् दैर्घ्यं गृहीतव्यम् ॥९२॥

गृहों की लम्बाई चौड़ाई से क्रमशः दो-दो दण्ड बढ़ानी चाहिये। लम्बाई उतनी ही ग्रहण करनी चाहिये, जितनी कि चौड़ाई की दुगुनी से अधिक न हो जाय।।९२।।

तत्रैव हस्तमानैर्गेहं कुर्याद् यथाविधिना।
रुचकः स्वस्तिकमथवा नन्द्यावर्तश्च सर्वतोभद्रम् ॥९३॥

गृहों का निर्माण विधि के अनुसार हस्तप्रमाण से करना चाहिये। ये गृह रुचक, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त और सर्वतोभद्र (किसी एक शैली के) हो सकते हैं।।९३।।

स्याद् वर्धमानमेषामाकृत्या तच्चतुर्गृहं प्रोक्तम्।
दण्डकशालालाङ्गलमथवा शूर्पं यथेष्टं स्यात्॥९४॥

गृह (सर्वतोभद्र या) वर्धमान हो सकता है। आकृति की दृष्टि से ये चार गृह कहे गये हैं। अथवा दण्डक, लाङ्गल या शूर्प गृह इच्छानुसार हो सकते हैं।।९४।।

ग्रामात् किञ्चिद्दूरे पावकदेशेऽथवा वायौ।
वासः स्यात्स्थपतीनां शेषाणां तत्र कर्तव्यम्॥९५॥

ग्राम से कुछ दूर आग्नेय अथवा वायव्य कोण में स्थपतियों का आवास होना चाहिये। शेष का आवास भी वहीं बनवाना चाहिये।।९५।।

तस्मात् किञ्चिद्दूरे रजकादीनां निवासः स्यात्।
चण्डालकुटीराणि पूर्वायां क्रोशमात्रे तु॥९६॥

उससे कुछ दूर रजक (धोबी) आदि का आवास होना चाहिये। ग्राम से पूर्व दिशा में एक कोस की दूरी पर चंण्डाल वर्ग का आवास होना चाहिये।।९६।।

चण्डालयोषितस्तास्ताम्रायःसीसभूषणाः सर्वाः।
पूर्वाह्णे मलमोक्षक्रियोचिता ग्राममावेश्य॥९७॥

वहाँ चण्डाल-स्त्रियाँ ताम्र, अयस् एवं सीसे के आभूषण पहने हुये निवास करें। दिन के प्रथम प्रहर में ग्राम में प्रवेश कर चण्डाल वर्ग ग्राम की गन्दगी साफ करें।।९७।।

प्रागुत्तरदिशि दण्डैः पञ्चशतैः स्याच्छवावासम्।
शेषाणामपि तत्तद्दूरे देशे श्मशानं स्यात्॥९८॥

पूर्वोत्तर दिशा में ग्राम से पाँच सौ दण्ड दूर शवों (की अन्त्येष्टि क्रिया) का स्थान होना चाहिये। शेष लोगों (सामान्य जनों से पृथक्) का श्मशान उससे दूर होना चाहिये।।९८।।

❋ विन्यासदोषाः ❋

चण्डालचर्मकारश्मशानतोयाशयापयानञ्च।
देवगृहविश्वकोष्ठग्रामावृतदेशमार्गपरिवृत्तिः॥९९॥

भवन-विन्यास के दोष—चण्डाल एवं चर्मकार का आवास, श्मशान, जलाशय, देवालय, विश्वकोष्ठ (सभी पदार्थों का संग्रहस्थल), ग्राम के चारो ओर का परिवेश एवं ग्राम के चारो ओर के मार्ग यदि उचित स्थान पर नहीं होते हैं (तो उनका परिणाम कष्टकर होता है)।।९९।।

व्यसनं ग्रामविनाशो नृपभङ्गो भवति मरणं च।
देवालयान्तरापणशून्यत्वं शोध्यसञ्चयं चापि ॥१००॥
मार्गेऽशुद्धक्षेपणमीदृग् ग्रामस्य शून्यतादायि।

उपर्युक्त का दुष्परिणाम ग्राम का विनाश, राजा का भङ्ग (हानि) एवं मृत्यु होता है। देवालय एवं हाट का रिक्त होना, कूड़े का संग्रह तथा मार्ग में अशुद्ध वस्तुओं (कूड़े आदि) का फेंका जाना ग्राम को शून्य कर देता है।।१००।।

गर्भविन्यासः

ग्रामादीनां च सर्वेषां गर्भविन्यासमुच्यते ॥१०१॥

शिलान्यास—सभी ग्रामादिकों के गर्भ-विन्यास का वर्णन किया जाता है।।१०१।।

सगर्भं सर्वसम्पत्त्यै विगर्भं सर्वनाशनम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गर्भं सम्यग्विनिक्षिपेत् ॥१०२॥

(ग्रामादि का) गर्भयुक्त होना सभी प्रकार की सम्पत्तियों का एवं गर्भहीन होना सभी प्रकार के विनाश का कारण होता है। इसलिये प्रयत्नपूर्वक सही रीति से गर्भ-विन्यास करना चाहिये।।१०२।।

गर्भविन्यास—भूमि में खोदे गये गर्त में आगे के श्लोकों में वर्णित पदार्थों का डाला जाना गर्भ-विन्यास कहलाता है।

मृत्कन्दधान्यसल्लोहधातुरत्नेन्द्रनीलाद्यैः ।
पणेन गर्भद्रव्याणि निर्दोषाण्येव संगृहेत् ॥१०३॥

मृत्तिका, कन्द (मूल, जड़), लोहयुक्त अन्न (लोह-पात्र में रक्खा अन्न), धातु, इन्द्रनील आदि रत्न गर्भविन्यास के द्रव्य हैं। इन्हें दोषहीन ही होना चाहिये तथा इन्हें पैसों से क्रय करके संगृहीत करना चाहिये।।१०३।।

सलिलापूरिते श्वभ्रे मृदादीनि न्यसेद् बुधः।
धान्योपरि निधातव्यं ताम्रभाजनमभ्रमम् ॥१०४॥

भूमि में खोदे गये गर्त में जल भरने के पश्चात् मृत्तिका आदि डालनी चाहिये। अन्न के ऊपर दोषहीन ताम्रपात्र रखना चाहिये।।१०४।।

ताम्रभाजनविस्तारं पञ्चधा परिकीर्तितम्।
रत्निद्वादशपङ्क्त्यष्टचतुरङ्गुलमानतः ॥१०५॥

ताम्रपात्र की चौड़ाई पाँच प्रकार की कही गई है। इनका प्रमाण चौदह, बारह, दश, आठ या चार अङ्गुल होना चाहिये।।१०५।।

उन्नतं तावदेवं स्याद्वृत्तं स्याच्चतुरस्रकम् ।
सपञ्चपञ्चकोष्ठं वा नवकोष्ठकमेव वा ॥१०६॥

ताम्रपात्र की ऊँचाई उसकी चौड़ाई के समान होनी चाहिये। उसमें पच्चीस अथवा नौ कोष्ठ होने चाहिये।।१०६।।

उपपीठपदे देवास्तस्मिन् पात्रे तु सम्मताः ।
रजतेन वृषः सूर्ये वज्री हाटकनिर्मितः ॥१०७॥

उपपीठ पद से युक्त (पच्चीस कोष्ठ वाले) उस पात्र में वास्तुदेवों को स्थान देना चाहिये। सूर्य के कोष्ठ में रजतनिर्मित वृष एवं सुवर्णनिर्मित इन्द्र को स्थापित करना चाहिये।।१०७।।

यमे तु यमराजश्च शुल्बेनायसवारणः ।
हैमः सिंहस्तु रूप्येण वरुणे सजलाधिपः ॥१०८॥

यम के पद पर ताम्रनिर्मित यमराज, लौहनिर्मित सिंह एवं रजतनिर्मित वरुण को स्थापित करना चाहिये।।१०८।।

वाजी श्वेतमयः सोमे राजतो द्विजराजकः ।
ईशे वैकृन्तमनले त्रपु सीसं तु नैर्ऋते ॥१०९॥

सोम के पद पर श्वेत वर्ण का (रजतमय) अश्व तथा रजतनिर्मित गज रखना चाहिये। ईश के पद पर पारा, अग्नि पर टिन, निर्ऋति पर सीसा रखना चाहिये।।१०९।।

स्वर्णं समीरणे जातिहिङ्गुल्यं तु जयन्तके ।
हरितालं भृशे भागे वितथे तु मनःशिला ॥११०॥

समीरण के पद पर सुवर्ण, जयन्त पर सिन्दूर, भृश पर हरिताल तथा वितथ पर मनःशिला (मैनसिल) रखना चाहिये।।११०।।

माक्षिकं भृङ्गराजे स्याद् लाजावर्तं सुकन्धरे ।
गैरिकं शोषभागे तु गणमुख्येऽञ्जनं भवेत् ॥१११॥

भृङ्गराज पर माक्षिक (एक खनिज पदार्थ), सुकन्धर पर लाजावर्त, शोष पर गैरिक (गेरु) तथा गणमुख्य पर अञ्जन रखना चाहिये।।१११।।

अदितौ दरदं विद्यादेवमेव न्यसेत् क्रमात् ।
चतुष्पदे च लोकेशाः स्थाप्याश्चाभ्यन्तराननाः ॥११२॥

अदिति पर रक्त वर्ण का ताम्र रखना चाहिये। उपर्युक्त सभी को भली-भाँति जान कर क्रमानुसार रखना चाहिये। चतुष्पदों पर लोकनाथों को इस प्रकार स्थापित करना

चाहिये, जिससे उनका मुख केन्द्र की ओर रहे।।११२।।

षड्भिः पञ्चचतुस्त्रिद्विमात्रे बिम्बोदयं भवेत्।
तदर्धं वाहनोत्सेधं स्थानकासनमेव वा ॥११३॥

इन देवों की प्रतिमा की ऊँचाई छः, पाँच, चार, तीन या दो अङ्गुल होनी चाहिये एवं उनके वाहनों की ऊँचाई पूर्वोक्त माप की आधी होनी चाहिये। प्रतिमायें स्थानक मुद्रा (खड़ी) अथवा आसन मुद्रा (बैठी) में होनी चाहिये।।११३।।

मुक्तापवत्से मरिचौ विद्रुमं सवितर्यथ।
पुष्परागं च वैडूर्यं विवस्वति विनिक्षिपेत् ॥११४॥

आपवत्स पर मोती, मरीचि पर मूँगा, सविता पर पुष्पराग (पोखराज) तथा विवस्वान् पर वैदूर्य मणि रखना चाहिये।।११४।।

वज्रमिन्द्रजये विद्यादिन्द्रनीलं तु मित्रके।
रुद्रराजे महानीलं मरकतं तु महीधरे ॥११५॥

इन्द्रजय पर हीरा, मित्रक पर इन्द्रनील, रुद्रराज पर महानील तथा महीधर पर मरकत (पन्ना) रखना चाहिये।।११५।।

मध्यमे पद्मरागं तु विन्यसेद् गर्भभाजने।
रत्नानि धातवश्चैव स्वस्वविस्तारभाजने ॥११६॥

पात्र के मध्य में पद्मराग (रुबी) रखना चाहिये। रत्न एवं धातुओं को पात्र में उनके उचित स्थान पर रखना चाहिये।।११६।।

तद्देवस्थानभावज्ञैरानीतानि निधापयेत्।
हेमायस्ताम्ररूप्यैश्च स्वस्तिकानि चतुर्दिशि ॥११७॥

उन देवों के स्थान एवं स्थिति को विधिपूर्वक ज्ञात कर रत्नादि को रखना चाहिये। चारो दिशाओं में सुवर्ण, आयस (लौह), ताँबे एवं चाँदी के स्वस्तिक रखने चाहिये।।११७।।

ब्रह्मस्थानाद् बहिष्ठानि पूर्वादौ स्थापयेत्क्रमात्।
स्वर्णेन शालिं रूप्येण व्रीहिं चायसकोद्रवम् ॥११८॥

ब्रह्मस्थान के बाहर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर दिशा में सुवर्ण के साथ शालिधान्य, चाँदी के साथ व्रीहि, अयस के साथ कोद्रव (कोदो) रखना चाहिये।।११८।।

त्रपुकङ्गुं सीसमाषं तिलं वैकृन्तकल्पितम्।
मुद्गं चायोमयं ताम्रं कुलत्थमिति लोहजान् ॥११९॥

टिन के साथ कङ्गु धान्य, सीसा के साथ माष (उड़द), तिल पारे के साथ, मूँग को अयस (लोह) के साथ तथा कुलत्थ को ताम्र धातु के साथ रखना चाहिये।।११९।।

भाजनाय बलिं दत्त्वा पश्चात् सर्वं निधापयेत्।
अङ्गुलाधिकविस्तीर्णमायामं द्वादशाङ्गुलम् ॥१२०॥

प्रथमतः पात्र के लिये बलि (उपर्युक्त वर्णित पदार्थ) प्रदान करना चाहिये। इसके पश्चात् सभी पदार्थों को पात्र में रख देना चाहिये। (पात्र को ढकने के लिये) एक अङ्गुल से अधिक चौड़ा तथा बारह अङ्गुल लम्बा पत्र लेना चाहिये।।१२०।।

पञ्चाङ्गुलेन वृद्धिः स्यादाद्वात्रिंशत्प्रमाणतः।
खादिरं चेन्द्रकीलं स्यात्तस्याग्रं चित्रवृत्तकम् ॥१२१॥

बारह अङ्गुल से लेकर पाँच-पाँच अङ्गुल के वृद्धि-मान से बत्तीस अङ्गुल तक (पत्र) का प्रमाण हो सकता है। यह इन्द्रकीलसंज्ञक पत्र खदिर के काष्ठ का गोलाकार निर्मित होना चाहिये।।१२१।।

भाजनोपरि तत्स्थाप्यं गर्भन्यासविचक्षणैः।
स्थानीये द्रोणमुखे खार्वटे प्रतिनागरे ॥१२२॥

गर्भ-विन्यास के ज्ञाता को इस पत्र को पात्र के ऊपर रखना चाहिये। यह गर्भ-विन्यास स्थानीय, द्रोणमुख तथा खर्वट एवं प्रत्येक प्रकार के नगर में करना चाहिये।

ग्रामे च निगमे खेटे पत्तने कोत्मकोलके।
ब्रह्मण्यार्यार्कभागेऽपि विवस्वति यमे तथा ॥१२३॥

मित्रे च वरुणे चैव सोमे च पृथिवीधरे।
द्वारदक्षिणदेशे वा ह्येतेषां गर्भ इष्यते ॥१२४॥

(उपर्युक्त के अतिरिक्त) ग्राम, निगम, खेट, पत्तन तथा कोत्मकोलक आदि वसति-विन्यासों में गर्भ-विन्यास ब्रह्मा, आर्य, अर्क, विवस्वान्, यम, मित्र, वरुण, सोम एवं पृथिवीधर के भाग में या द्वार के दक्षिण भाग में करना चाहिये।।१२३-१२४।।

पुष्पदन्ते च भल्लाटे महेन्द्रे च गृहक्षते।
विष्णुस्थाने श्रियः स्थाने स्कन्दस्थानेऽथवा पुनः ॥१२५॥

स्थापयेद् ग्रामरक्षार्थं सर्वकामाभिवृद्धये।
गर्भमादौ विनिक्षिप्य बिम्बं तदुपरि न्यसेत् ॥१२६॥

(द्वार के दक्षिण भाग में) पुष्पदन्त, भल्लाट, महेन्द्र एवं गृहक्षत के पद पर अथवा विष्णु के स्थान (मन्दिर), लक्ष्मी के स्थान या स्कन्द के स्थान में ग्राम की

रक्षा के लिये एवं सभी प्रकार की कामनाओं की वृद्धि के लिये गर्भ-विन्यास करना चाहिये। प्रथमत: (गर्त्त में) गर्भ-विन्यास करना चाहिये। तत्पश्चात् उसके ऊपर मूर्तियों को स्थापित करना चाहिये।।१२५-१२६।।

शिलेष्टकचिते खाते पुरुषाञ्जलिमात्रके ।
अनुक्तानां च सर्वेषामजभागादिषु न्यसेत् ॥१२७॥

गर्भ-विन्यास वाले क्षेत्र को (गर्त्त को) शिलाओं एवं इष्टकाओं से निर्मित करना चाहिये। इसका माप पुरुष का अञ्जलिप्रमाण रखना चाहिये। अवर्णित सभी पदार्थों को ब्रह्म आदि के भाग में रखना चाहिये (अवर्णित पदार्थों का वर्णन 'गर्भविन्यास' अध्याय में प्राप्त होता है)।।१२७।।

सुरक्षं तु यथागर्भं स्थपतिः स्थापयेत् स्थिरम् ।
अत्रानुक्तं तु तत्सर्वं द्रष्टव्यं गर्भलक्षणे ॥१२८॥

जिस विधि से गर्भविन्यास सुरक्षित एवं स्थिर रहे (तथा भवननिर्माण भी सुरक्षित एवं स्थिर रहे), उसी रीति से स्थपति को गर्भ स्थापित करना चाहिये। यहाँ जिनका वर्णन नहीं किया गया है, उन सभी का वर्णन गर्भलक्षण (गर्भविन्यास, अध्याय-१२) में किया गया है।।१२८।।

एवं प्रोक्ता भूमितिर्देवतानां
वर्णानाञ्चाप्यत्र जात्यन्तराणाम् ।
ग्रामादीनां मानविन्यासमार्गं
सालङ्कारं चारु संक्षिप्य तन्त्रात् ॥१२९॥

इस प्रकार देवों के अनुरूप भूमि का माप (वास्तुमण्डल), वर्ण एवं अन्य जातियों के अनुकूल माप, ग्रामादिकों का प्रमाण, मार्गयोजना आदि को तन्त्रों से अलङ्कार-सहित, सुन्दर ढंग से एवं संक्षेप में लिया गया है।।१२९।।

दद्यान्नृपः स्थपतिकादिचतुष्टयेभ्यो
मानादिकर्मनिपुणेभ्य इडाञ्च गाञ्च ।
नित्यं यथा जगति वित्तमनेकवस्तू-
न्याचन्द्रतारमधिवासभुवं मुदा सः ॥१३०॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे ग्रामविन्यासो
नाम नवमोऽध्यायः

राजा को मापन आदि कर्म में निपुण चारो स्थपतियों को भूमि एवं गायें प्रदान करनी चाहिये। जो व्यक्ति इस प्रकार करता है, उसे संसार में चन्द्रमा एवं तारों की स्थितिपर्यन्त सर्वदा धन एवं अनेक (समृद्धिदायक) वस्तुओं की प्राप्ति होती रहती है एवं वह सर्वदा प्रसन्न रहता है।।१३०।।

अथ दशमोऽध्यायः

(नगरविधानम्)

नगरादीनां मानं विन्यासञ्च क्रमादहं वक्ष्ये।

नगर-योजना—मैं नगर आदि के प्रमाण एवं विन्यास का क्रमानुसार वर्णन करता हूँ।

॥ नगरमानम् ॥

आद्यं धनुषां त्रिशतं तस्माच्छतदण्डवर्धनादुपरि ॥१॥
साष्टकसप्ततिभेदाश्चाष्टसहस्रान्तकं यावत्।
नगराणां विपुलं हि प्रोक्तं पूर्वोक्तमानेन ॥२॥

नगरों का प्रमाण—नगर का प्रमाण तीन सौ धनुष से प्रारम्भ होकर एक-एक सौ दण्ड की वृद्धि करते हुये आठ हजार दण्ड तक प्राप्त होता है। इसके अठहत्तर भेद बनते हैं। इस प्रकार नगरों के विस्तार का प्रमाण प्राप्त होता है।।१-२।।

शतदण्डादिदशव्रृद्ध्या त्रिःसप्तत्रिशतदण्डान्तम्।
क्षुद्राणामिदमुदितं नगराणामेव सर्वेषाम् ॥३॥

एक सौ दण्ड से प्रारम्भ कर दश-दश दण्ड की वृद्धि करते हुये तीन सौ दण्ड-पर्यन्त सभी क्षुद्र नगरों के इक्कीस विस्तार-प्रमाण प्राप्त होते हैं।।३।।

उत्कृष्टपुरपरिधिर्नृपतेर्यष्टिद्विरष्टसाहस्रैः।
चातुःसहस्रकान्तं पञ्चशतोनाद्धि पञ्चपञ्चधा मानम् ॥४॥

राजाओं के उत्तम पुरों की परिधि का प्रमाण सोलह हजार यष्टिप्रमाण से प्रारम्भ कर पाँच सौ दण्ड कम करते हुये चार हजार पर्यन्त कहा गया है। इस प्रकार इनके पच्चीस प्रमाणभेद बनते हैं।।४।।

त्रिशतादिचतुःशतकं यावद्वृद्ध्या तु विंशतिभिः।
षड्विधमुक्तं खेटं श्रेष्ठे मध्ये परे विपुलम् ॥५॥

तीन सौ दण्ड से प्रारम्भ कर बीस-बीस दण्ड की वृद्धि करते समय चार सौ दण्डपर्यन्त खेट के छः प्रकार के भेद वर्णित हैं। इनमें दो श्रेष्ठ, दो मध्यम एवं दो कनिष्ठ प्रकार के खेट होते हैं।।५।।

तस्मात् त्रिरष्टवृद्ध्या द्रोणमुखे पञ्चधा मानम् ।
षण्णवतिचतुःशतकं यावत्तावत्तु विस्तारम् ॥६॥

उससे (चार सौ दण्ड से) चौबीस-चौबीस दण्ड की वृद्धि करते हुये चार सौ छियानबे दण्डपर्यन्त द्रोणमुख वास्तु के पाँच प्रकार बनते हैं। ये इनके विस्तारमान कहे गये हैं।।६।।

द्विशतादिचतुःशतकं यावत्पञ्चाशदभिवृद्ध्या ।
पञ्चप्रमाणमेवं खर्वटविस्तार उद्दिष्टः ॥७॥

दो सौ दण्ड से प्रारम्भ करते हुये पचास-पचास दण्ड की क्रमशः वृद्धि चार सौ दण्डपर्यन्त की जाती है। इस प्रकार खर्वट के विस्तार के पाँच प्रमाणभेद प्राप्त होते हैं।।७।।

द्विशतादिपङ्क्तिवृद्ध्या चत्वारिंशत्त्रिशतदण्डं स्यात् ।
यावन्निगमे विपुलाः प्रोक्तास्त्रिःपञ्चभेदाश्च ॥८॥

दो सौ से प्रारम्भ कर दश-दश दण्ड की वृद्धि करते हुये तीन सौ चालीस दण्डपर्यन्त निगम के विस्तार का मान प्राप्त होता है। विस्तारमान की दृष्टि से इसके पन्द्रह भेद बनते हैं।।८।।

शतदण्डे शतवृद्ध्या पञ्चशतं यावदुद्दिष्टम् ।
स्यात् कोत्मकोलकानां विपुलं पञ्चैव भेदेन ॥९॥

शत दण्ड से प्रारम्भ कर एक-एक सौ दण्ड की वृद्धि करते हुये पाँच सौ पर्यन्त कोत्मकोलक का विस्तार रक्खा जाता है। विस्तारमान की दृष्टि से इसके पाँच भेद होते हैं।।९।।

तावन्मानं प्रोक्तं पुरविपुले सूरिभिः प्राज्ञैः ।
यावत्पञ्चशतान्तं त्रिशतादारभ्य सप्तधा मानम् ॥१०॥

पञ्चाशद्धनुवृद्ध्या विपुलं कथितं विडम्बस्य ।
प्रागुपदिष्टं मानं ह्येतन्मानं तु वै तेषाम् ॥११॥

विद्वान् मनीषियों ने पुरों के विस्तार के प्रमाणों का इस प्रकार वर्णन किया है। विडम्ब का विस्तार-मान तीन सौ दण्ड से प्रारम्भ कर पचास-पचास दण्ड की वृद्धि करते हुये पाँच सौ दण्डपर्यन्त होता है। इसके प्रमाण की दृष्टि से सात भेद बनते है। पूर्ववर्णित मान ही इनका (समानुपातिक) मान होता है।।१०-११।।

द्विगुणं त्रिपादमर्धं पादं तेषां मुखायतं विपुलात् ।
विपुले तु षडष्टांशे भागेनैकेन वायतं पुरतः ॥१२॥

इन पुरादिकों की लम्बाई इनकी चौड़ाई की दुगुनी, तीन चौथाई, आधी अथवा चतुर्थांश अधिक होती है। अथवा चौड़ाई का षष्ठांश या अष्टमांश अधिक लम्बाई रखनी चाहिये।।१२।।

* वप्रविधानम् *

चतुरस्रमायतास्रं वृत्तं वृत्तायतं च पुनः ।
स्याद् गोलवृत्तमेवं वप्राकारास्तु पञ्चैव ॥१३॥

प्राकार-योजना—नगर का प्राकारमण्डल (चारदिवारी) पाँच प्रकार की होती है—चौकोर, आयताकार, वृत्ताकार, वृत्तायताकार (लम्बाई लिये वृत्ताकार) तथा गोलवृत्ताकार।।१३।।

पङ्क्त्यष्टसप्तपञ्चकचतुरंशैस्तत्कृते विपुले ।
मुनिरसशरयुगशिखिभिर्भागैर्वप्रावधिः प्रोक्तः ॥१४॥

प्राकार-मण्डल की लम्बाई दश, आठ, सात, पाँच एवं चार तथा चौड़ाई सात, छः, पाँच, चार एवं तीन रखनी चाहिये।।१४।।

द्वित्रिचतुर्हस्तं स्याद्विपुलं सालस्य तुङ्गे तु ।
सप्तदशैकादशभिर्हस्तैरग्रं तु त्र्यंशोनम् ॥१५॥
परितः परिखा बाह्येऽबाह्ये देवालयादीनि ।

वप्र के मूल का विस्तार दो, तीन या चार हस्त तथा ऊँचाई सात, दश या ग्यारह हस्त रखना चाहिये। इसके ऊर्ध्व भाग का विस्तार मूल से तीन भाग कम होना चाहिये। देवालय आदि के बाहर एवं भीतर परिखा (जलयुक्त खाई) होनी चाहिये।।१५।।

* वर्ज्यस्थानानि *

पेचकभागाद्यासनभागान्तं चण्डितं प्रोक्तम् ॥१६॥
सूत्रादीन्यथ विषमस्थानानि च वर्जयेन्मतिमान् ।

त्याज्य स्थान—पेचक वास्तु-विन्यास (चार पद वास्तु) या आसन वास्तु-विन्यास (एक सौ पद वास्तु) अथवा इन दोनों के मध्य आने वाले वास्तु-विन्यासों में से किसी का प्रयोग किया जा सकता है। बुद्धिमान व्यक्ति को निर्माण करते समय वास्तु के सूत्रादिकों एवं विषम स्थलों का परित्याग करना चाहिये।।१६।।

* मार्गाः *

प्रागुदगग्रं मार्गं तत्र यथेष्टं न्यसेद्विधिना ॥१७॥

वहाँ मार्ग की योजना इच्छानुसार विधिपूर्वक पूर्व तथा उत्तर से प्रारम्भ करते हुये करनी चाहिये।।१७।।

दण्डादिसप्तदण्डं यावद्दण्डार्धवृद्ध्या तु।
मार्गविशालाश्चैते त्रयोदशभेदाः समुद्दिष्टाः ॥१८॥

मार्गों का विस्तार एक दण्ड से प्रारम्भ कर आधा-आधा दण्ड बढ़ाते हुये सात दण्डपर्यन्त रखना चाहिये। इस प्रकार विस्तार की दृष्टि से मार्ग के तेरह भेद कहे गये हैं।।१८।।

*** राजधानी ***

राष्ट्रस्य मध्यभागे सज्जनबहुले नदीसमीपे च।
नगरं केवलमथवा राजगृहोपेतराजधानी वा ॥१९॥

राष्ट्र (राज्य) के मध्य भाग में, नदी के निकट, श्रेष्ठ लोगों की जनसंख्या जहाँ अधिक हो, ऐसा वसति-विन्यास केवल नगर होता है। उस नगर में यदि राजभवन हो तो उसे राजधानी कहते हैं।।१९।।

दिक्षु चतुर्द्वारयुतं गोपुरयुक्तं तु सालाढ्यम्।
क्रयविक्रयकैर्युक्तं सर्वजनावाससङ्कीर्णम् ॥२०॥

चारो दिशाओं में चार द्वार से युक्त, द्वारों पर शालयुक्त गोपुर, क्रय-विक्रय के स्थानों (बाजार) से युक्त एवं सभी वर्णों के आवास से युक्त स्थान (नगर होता है)।।२०।।

सर्वसुरालयसहितं नगरमिदं केवलं प्रोक्तम्।
प्रत्यगुदग्दिशि गहना परितः साला बहिः सपांसुचया ॥२१॥

सभी देवों के मन्दिर से युक्त स्थान को केवल नगर कहा गया है। (राजधानी के) पूर्व एवं उत्तर दिशा में गहरा होता है तथा बाहर चारो ओर गीली मिट्टी से निर्मित प्राकार होता है।।२१।।

परितः परिखा बाह्ये शिबिरयुतानेकमुखरक्षा।
पूर्वायां दक्षिणतश्चाभिमुखा राजबलयुक्ता ॥२२॥

प्राकार-मण्डल के बाहर चारो ओर परिखा होती है। नगर (राजधानी) के रक्षार्थ शिविर होता है, जहाँ से प्रत्येक दिशा पर दृष्टि रक्खी जाती है। राज्य के प्रहरी सैनिक पूर्व एवं दक्षिण दिशा में मुख करके पहरा देते हैं।।२२।।

उन्नतगोपुरयुक्ता नानाविधमालिकोपेता।
सर्वसुरालयसहिता नानागणिकान्विता बहूद्याना ॥२३॥

नगर में ऊँचे-ऊँचे गोपुर (प्रवेशद्वार) होते हैं, जिनमें अनेक मालिकायें होती हैं।

उसमें सभी देवों के मन्दिर, नाना प्रकार की गणिकायें एवं बहुत से उद्यान होते हैं।।२३।।

हस्त्यश्वरथपदातिबहुमुख्या सर्वजनयुक्ता ।
द्वारोपद्वारयुताभ्यन्तरतोऽनेकजनवासा ॥२४॥

यहाँ गज, अश्व, रथ एवं पैदल सैनिक होते हैं। सभी प्रकार के एवं सभी वर्ण के लोग निवास करते हैं। इस नगर में द्वार एवं उपद्वार (छोटे प्रवेशद्वार) होते हैं। नगर के भीतर अनेक प्रकार के जनावास होते हैं।।२४।।

या नृपवेश्मसमेता सा कथिता राजधानीति ।
काननवनदेशे वा सर्वजनावाससङ्कीर्णम् ॥२५॥
क्रयविक्रयकैर्युक्तं पुरमुदितं यत्तदेव नगरमिति ।

इस प्रकार का राजभवन से युक्त नगर राजधानी कहलाता है। जो वन-प्रदेश में स्थित होता है, जहाँ सभी प्रकार के लोग बसते हैं एवं क्रय-विक्रय के स्थल (हाट, बाजार) से युक्त पुर को नगर कहते हैं।।२५।।

✵ खेटादिभेदाः ✵

शूद्रैरधिष्ठितं यन्नद्यचलावेष्टितं तु तत्खेटम् ॥२६॥

नदी अथवा पर्वत से घिरे एवं शूद्रों के निवास से युक्त स्थान को खेट कहते हैं।।२६।।

परितः पर्वतयुक्तं खर्वटकं सर्वजनसहितम् ।
खर्वटखेटकमध्ये यज्जनताढ्यं जनस्थानकुब्जम् ॥२७॥

चारो ओर पर्वत से घिरे हुये, सभी वर्णों के आवास से युक्त स्थान को खर्वटक कहते हैं। खेट एवं खर्वट के मध्य स्थित घनी जनसंख्या वाले स्थान को कुब्ज कहते हैं।।२७।।

द्वीपान्तरागतवस्तुभिरभियुक्तं सर्वजनसहितम् ।
क्रयविक्रयकैर्युक्तं रत्नधनक्षौमगन्धवस्त्वाढ्यम् ॥२८॥
सागरवेलाभ्याशे तदनुगतायामि पत्तनं प्रोक्तम् ।

अन्य द्वीपों से आये हुये वस्तुओं से युक्त, सभी प्रकार के लोगों से युक्त, क्रय-विक्रयस्थल से युक्त, रत्न, धन, सिल्क के वस्त्रों से युक्त तथा विविध प्रकार के सुगन्धियों (इत्र आदि) से युक्त, सागर-तट पर स्थित एवं उससे सम्बद्ध नगर को पत्तन कहते हैं।।२८।।

परनृपदेशसमीपे युद्धारम्भक्रियोपेतम् ॥२९॥
सेनासेनापतियुतमिदमुदितं शिबिरमिति च वरैः ।
सर्वजनैः सङ्कीर्णं नृपभवनयुतं तदेव तथा ॥३०॥
बहुरक्षोपेतं यत् सेनामुखमुच्यते तज्ज्ञैः ।

शत्रु-देश के समीप स्थित, युद्ध प्रारम्भ करने के लिये सभी सामग्रियों से युक्त तथा सेना एवं सेनापति से युक्त स्थान को शिविर कहते हैं। वही स्थान सभी प्रकार के लोगों के आवास से युक्त एवं राजभवन से युक्त होता है तथा बहुत-सी सेनाओं से युक्त होता है, तो उसे सेनामुख कहते हैं।।२९-३०।।

नद्यद्रिपार्श्वयुक्तं नृपभवनयुतं सबहुरक्षम् ॥३१॥
यन्नृपतिस्थापितकं तत्स्थानीयं समुद्दिष्टम् ।

नदी के किनारे या पर्वत के पास, राजभवन तथा बहुत से सैनिकों से युक्त तथा राजा के द्वारा स्थापित स्थान को स्थानीय कहते हैं।।३१।।

नद्यब्धिदक्षिणादक्षिणभाग्वणिगादिसंयुक्तम् ॥३२॥
सर्वजनावासं यद् द्रोणमुखं प्रोक्तमाचार्यैः ।
ग्रामसमीपे जनतालयमिदमुदितं विडम्बमिति ॥३३॥

नदी के उत्तर एवं दक्षिण दोनों भागों में अथवा समुद्र के किनारे बसे हुये स्थान को द्रोणमुख कहते हैं। यहाँ व्यापारी वर्ग (प्रधान रूप से) तथा अन्य सभी वर्गों के लोग निवास करते हैं। ग्राम के समीप जनावास को विडम्ब कहा जाता है।।३२-३३।।

वनमध्ये जनवासं यत्कोत्मकोलकं प्रोक्तम् ।
चातुर्वर्ण्यसमेतं सर्वजनावाससङ्कीर्णम् ॥३४॥
बहुकर्मकारयुक्तं यन्निगमं तत् समुद्दिष्टम् ।

वन के मध्य में स्थित जनस्थान को कोत्मकोलक कहा जाता है। जो स्थान चारो वर्णों के लोगों से युक्त हो, सभी प्रकार के लोगों से बसा हो तथा अधिक संख्या में जहाँ हस्तशिल्पी निवास करते हों, उसे निगम कहते हैं।।३४।।

नद्यद्रिवनसमेतं बहुजनयुक्तं सनृपवासम् ॥३५॥
एतत् स्कन्धावारं तत्पार्श्वे चेरिका प्रोक्ता ।

नदी, पर्वत एवं वन से युक्त, जहाँ की जनसंख्या अधिक हो एवं जहाँ राजा निवास करते हों; ऐसे स्थान को स्कन्धावार कहते हैं। इसके पार्श्व में चेरिका जनावास होता है।।३५।।

* दुर्गाणि *

गिरिवनजलपङ्केरिणदैवतमिश्राणि सप्त दुर्गाणि ॥३६॥

दुर्ग के प्रकार—दुर्ग सात प्रकार के होते हैं—गिरिदुर्ग, वनदुर्ग, जलदुर्ग, पङ्क-दुर्ग, इरिण (मरु) दुर्ग, दैवतदुर्ग एवं मिश्रित दुर्ग।।३६।।

गिरिमध्यं गिरिपार्श्वं गिरिशिखरं पार्वतं दुर्गम्।
अजलं तरुवनगहनं वनदुर्गं तदुभयन्तु मिश्रं स्यात् ॥३७॥

गिरिदुर्ग पर्वत के मध्य, पर्वत के बगल या पर्वत के शिखर पर स्थित होता है। वनदुर्ग की स्थिति जलहीन स्थान पर वृक्षों के सघन वन में होती है। मिश्रित दुर्ग में गिरि एवं वन दोनों दुर्गों के मिश्रित लक्षण होते हैं।।३७।।

दैवं तु सहजदुर्गं पङ्कयुतं पङ्कदुर्गं स्यात्।
नद्यब्धिपरिवृतं यज्जलदुर्गं निर्वनोदमिरिणं स्यात् ॥३८॥

जिस दुर्ग की सुरक्षा-व्यवस्था प्राकृतिक होती है, उसे दैवदुर्ग कहते हैं। जिस दुर्ग के बाहर कीचड़ (दलदल) हो, उसे पङ्कदुर्ग कहते हैं। चारो ओर नदी या समुद्र से घिरे दुर्ग को जलदुर्ग तथा वन एवं जल से रहित (ऊषर या रेगिस्तान क्षेत्र में स्थित) दुर्ग को इरिण दुर्ग कहते हैं।।३८।।

अक्षयजलान्नशस्त्रं ह्यतिविपुलोत्तुङ्गघनसालम्।
सर्वं हि दुर्गजातं सप्राकारं त्वनेकमुखरक्षम् ॥३९॥

दुर्ग प्रत्येक दृष्टि से सभी लक्षणों से परिपूर्ण होना चाहिये। दुर्ग में अक्षय जल, अन्न एवं शस्त्रास्त्र होना चाहिये। दुर्ग अत्यन्त विस्तृत, उन्नत एवं ठोस होना चाहिये। उसे प्राकार-मण्डल एवं सभी द्वारों पर रक्षकों से युक्त होना चाहिये।।३९।।

बहिरुदकरहितवनच्छन्नपथं दुष्प्रवेशं च।
गोपुरमण्डपयुक्तं सोपानच्छन्नमच्छन्नम् ॥४०॥

बाहर से दुर्ग में प्रवेश हेतु ऐसा मार्ग होना चाहिये, जिस पर जल न हो, वन द्वारा छिपा हो तथा इस मार्ग से दुर्ग में प्रवेश कठिनाई से होता हो। दुर्ग का प्रवेशद्वार गोपुरमण्डप से युक्त, सोपानयुक्त हो एवं ढका न हो।।४०।।

द्विकवाटचतुष्परिघार्गलहस्तोन्नतेन्द्रकीलयुतम्।
सस्थूणमध्यमालयमिण्ठकसहितं सगूढसोपानम् ॥४१॥

प्रवेशद्वार पर दो कपाट हों, जिनमें चार परिघार्गल (द्वार को खुलने से रोकने के लिये लगी अर्गला) तथा एक हाथ ऊँची इन्द्रकील लगी होनी चाहिये। द्वार पर मध्य

में काष्ठ की स्थूणा (खम्भा) से युक्त कक्ष होना चाहिये, जिसमें मिण्ठक (द्वार पर लटकने वाली विशेष आकृति) लगा हो। उस कक्ष में प्रवेश हेतु सीढ़ियाँ बनी होनी चाहिये, जो छिपी हों।।४१।।

द्वाराणि मण्डपसभाशालाकाराणि कार्याणि।
द्वादश सालाकाराश्चतुरं वृत्तं तदायतं च पुनः ॥४२॥
नन्द्यावर्तं कौक्कुटमिभकुम्भं नागवृत्तं च।
मग्नचतुरं त्रिकोणमष्टास्त्रं नेमिखण्डं च ॥४३॥

द्वारों को मण्डप, सभा अथवा शाला के आकार का बनाना चाहिये। इनकी योजना बारह में से किसी एक प्रकार की होनी चाहिये। बारह आकृति-योजनायें इस प्रकार हैं—चौकोर, वृत्त, आयत, नन्द्यावर्त, कुक्कुट, इभ (गजाकृति), कुम्भ, नागवृत्त (कुण्डलीयुक्त सर्प), मग्नचतुर (गोलाई वाले कोने से युक्त चौकोर), त्रिकोण, अष्टकोण तथा नेमिखण्ड (कुछ गोलाई लिये आकृति)।।४२-४३।।

प्राकाराश्चेष्टकया द्वादशहस्तोच्छ्रिताहीनाः।
उत्सेधार्धविशाला मूले भित्तिः ससञ्चारा ॥४४॥

ईंटों से निर्मित प्राकार की उँचाई कम से कम बारह हाथ रखनी चाहिये। प्राकार के मूल की चौड़ाई ऊँचाई की आधी होनी चाहिये। भित्ति इतनी चौड़ी होनी चाहिये, जिससे उस पर सुगमता से चला जा सके।।४४।।

सालस्याभ्यन्तरतः पांसुचयोपर्यनेकयन्त्रयुतम्।
परितः परिखोपेतं पांसुचये संहताट्टालम् ॥४५॥

प्राकार के भीतरी भाग में पांसुचय (कच्ची मिट्टी की जोड़ाई) के ऊपर अनेक सुरक्षायन्त्र लगाना चाहिये। चारो ओर परिखा (खाई) होनी चाहिये एवं पांसुचय के ऊपर अट्टालक बनाना चाहिये।।४५।।

परितः शिबिरोपेतं नानाजनवाससङ्कीर्णम्।
नृपभवनसमोपेतं हस्त्यश्वरथपदातिबहुमुख्यम् ॥४६॥

इसके चारो ओर सैनिकों की छावनी होनी चाहिये। दुर्ग में विभिन्न प्रकार के लोगों का आवास, राजभवन तथा गज, अश्व, रथ एवं पैदल सेना होनी चाहिये।।४६।।

धान्यैस्तैलैः क्षारैः सलवणभैषज्यगन्धविषम्।
लोहाङ्गारस्नायुविषाणवेणिवन्धनैर्युक्तम् ॥४७॥

दुर्ग के भीतर अन्न, तेल, क्षार, नमक, औषधियाँ, सुगन्ध, विष, धातुयें, अङ्गार

(कोयला), स्नायु (चमड़े की डोरी), सींग, बाँस एवं इन्धन की लकड़ी पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिये।।४७।।

तृणचर्मशाकयुक्तं सवल्कलं सारदारुयुतम्।
दुर्गं दुर्गममुक्तं दुर्लङ्घ्यं दुरवगाहं च ॥४८॥

दुर्ग में तृण (पशुओं का चारा), चमड़ा, शाक (तरकारी), छाल से युक्त काष्ठ एवं कठोर काष्ठ प्रभूत मात्रा में होना चाहिये। दुर्ग को कठिनाई से प्रवेश करने योग्य, कठिनाई से लाँघने योग्य तथा कठिनाई से पार करने योग्य होना चाहिये—ऐसा कहा गया है।।४८।।

रक्षार्थं च जयार्थं ह्यरिभिरभेदं च दुर्गमिष्टं स्यात्।
इन्द्रश्च वासुदेवो गुहो जयन्तश्च वैश्रवणः ॥४९॥
अश्विन्यौ श्रीमदिरे शिवश्च दुर्गा सरस्वती चेति।
प्राकारान्तर्दिव्या दुर्गनिवेशे च विज्ञेयाः ॥५०॥

रक्षा के लिये, विजय के लिये एवं शत्रुओं द्वारा अभेद्यता के लिये दुर्ग की आवश्यकता होती है। दुर्ग-निवेश के समय प्राकार के भीतर इन्द्र, वासुदेव, गुह, जयन्त, कुबेर, दोनों अश्विनीकुमार, श्री, मदिरा, शिव, दुर्गा तथा सरस्वती देवी-देवताओं को स्थापित करना चाहिये।।४९-५०।।

एवं दुर्गविधानं सम्यक् प्रोक्तं पुरातनैर्मुनिभिः।

इस प्रकार प्राचीन मनीषयों ने दुर्ग-विधान का वर्णन किया है।

✷ नगरविन्यासः ✷

सर्वेषां विन्यासं संक्षेपाद् वक्ष्यते क्रमशः ॥५१॥

नगर-योजना—अब क्रमशः सभी (नगरों) का विन्यास संक्षेप में वर्णित किया जा रहा है।।५१।।

प्राक्प्रत्यग्गतमार्गा द्वादश दश वाऽष्टषट्चतुर्युगलम्।
तावदुदीचीनास्ते तत्रैवायुग्मसंख्या वा ॥५२॥

पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाले मार्गों की संख्या बारह, दश, आठ, छः, चार या दो होनी चाहिये। इसी प्रकार उत्तर (से दक्षिण जाने वाले) मार्गों की भी योजना रखनी चाहिये। अथवा अयुग्म (विषम) संख्या में मार्ग होने चाहिये।।५२।।

एकादशनवसप्तकपञ्चगुणा वैकमार्गा वा।
युग्मायुग्मपदेषु द्व्येकत्रिभिरंशकैरजांशाः स्युः ॥५३॥

अयुग्म संख्याओं में ग्यारह, नौ, सात, पाँच, तीन या एक मार्ग होने चाहिये। युग्म (सम) अथवा अयुग्म (विषम) पदों में दो, तीन एवं एक अज (ब्रह्मा) का भाग होता है।।५३।।

नगरादीनामेवं मार्गाण्युदितानि सर्वेषाम्।
दण्डवदेका वीथी तद्दण्डकमित्यभीष्टं स्यात् ।।५४।।

इस प्रकार सभी नगरादिकों के मार्गों का वर्णन किया गया है। दण्ड के समान एक वीथी (मार्ग) को दण्डक कहते हैं।।५४।।

उत्तरदिङ्मुखमेकं तन्मध्ये सम्प्रयुक्तं चेत्।
कर्तरिदण्डकमुदितं प्राचीनौ कुट्टिमौ तर्हि ।।५५।।

उत्तर दिशा से आता हुआ एक मार्ग यदि पूर्वोक्त मार्ग के साल मध्य में संयुक्त होता है तो उसे कर्तरिदण्डक कहते हैं। यदि पूर्व दिशा से ईंटों से निर्मित दो मार्ग आते हैं—।।५५।।

तद् बाहुदण्डकं स्याद् दिक्षु चतुर्द्वारसंयुक्तम्।
बहुकुट्टिमसंयुक्तं मध्ये वीथ्या द्विपार्श्वे तु ।।५६।।
शेषं पूर्ववदिष्टं कुटिकामुखदण्डकं प्रोक्तम्।

तो उसे बाहुदण्डक कहा जाता है। यदि चारो दिशाओं में द्वार हों तथा वीथी के मध्य में दोनों पार्श्वों में बहुत से कुट्टिमयुक्त (ईंटों से निर्मित) मार्ग आकर मिलें एवं शेष स्थिति पूर्ववर्णित रहे तो उसे कुटिकामुख दण्डक कहते हैं।।५६।।

प्राचीनोदीचीनैर्मार्गैस्त्रिभिरेव संयुक्तम् ।।५७।।
तत् कलकाबन्धदण्डकमिति तज्ज्ञैः समुद्दिष्टम्।

पूर्व से आने वाले तीन मार्ग तथा उत्तर से आने वाले तीन मार्ग जब आपस में संयुक्त होते हैं तो उसे कलकाबन्धदण्डक कहा गया है।।५७।।

प्राङ्मुखवीथ्यस्तिस्रश्चोत्तरमार्गास्त्रयश्चैव ।।५८।।
एकैकान्तरितास्ते कुट्टिममार्गास्त्वनेकाश्च।
वेदीभद्रकमुदितं नगरादीनामिदं शस्तम् ।।५९।।

यदि पूर्व से तीन मार्ग एवं उत्तर से तीन मार्ग निकलें तथा इनमें एक-एक के बाद अनेक कुट्टिममार्ग हों तो उसे वेदीभद्रक कहते हैं। यह मार्ग-योजना नगरादिकों के लिये उपयुक्त होती है।।५८-५९।।

स्वस्तिकमुदितं ग्रामे यथा तथा स्वस्तिकं विद्यात्।
प्रागुत्तरमुखमार्गाः षट्षडभीष्टास्तु तद्वाह्ये ।।६०।।

मार्ग की स्वस्तिक-योजना स्वस्तिक ग्राम के लिये कही गई है। इसमें छः मार्ग पूर्व से एवं छः मार्ग उत्तर से निकलते हैं।।६०।।

प्रागिव मार्गोपेतं वीथिपदं स्वस्तिकं चैव।

पूर्व-वर्णित मार्ग-योजना के अनुसार मार्गों की रचना स्वस्तिक होती है।

प्राचीनोदीचीनाश्चत्वारश्चैव मार्गाः स्युः ॥६१॥

ब्रह्मावृतपथमेकं कुट्टिममार्गास्त्रयः प्राच्याम्।
एतद् भद्रकमुदितं नाम्ना नगरादिविन्यासम् ॥६२॥

पूर्व से एवं उत्तर से निकलने वाले मार्गों की संख्या चार होती है। एक मार्ग ब्रह्मस्थान से निकलता है। तीन कुट्टिममार्ग पूर्व दिशा में होते हैं। इस मार्गयोजना को भद्रक कहा जाता हैं। इस मार्गयोजना का प्रयोग नगरादि के विन्यास में किया जाता है।।६१-६२।।

प्राङ्मुखमार्गाः पञ्चैवोत्तरमार्गास्तथैव स्युः।
बहुकुट्टिमसंयुक्तं भद्रमुखं नाम वस्तु स्यात् ॥६३॥

पाँच मार्ग पूर्व दिशा से एवं पाँच मार्ग उत्तर दिशा से निकलते हैं। बहुत से कुट्टिम मार्ग निकलते हैं। इस मार्गयोजना को भद्रमुख कहते हैं।।६३।।

प्राचीनास्तु षडेवैवोत्तरवक्त्रास्तथा मार्गाः।
यद् बहुकुट्टिमयुक्तं तद्वस्तु च भद्रकल्याणम् ॥६४॥

छः मार्ग पूर्व दिशा से एवं छः मार्ग उत्तर दिशा से निकलते हैं तथा बहुत से कुट्टिम मार्ग होते हैं, तो उसे भद्रकल्याण मार्गयोजना कहते हैं।।६४।।

पूर्वापरमुखमार्गाः सप्तैवोदङ्मुखाश्च तथा।
शेषं प्रागिव सर्वं विन्यासं तन्महाभद्रम् ॥६५॥

पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाले सात मार्ग तथा उत्तर से (दक्षिण की ओर जाने वाले) सात मार्ग हों तथा शेष योजना पूर्ववत् (बहुत से कुट्टिम मार्ग) हो तो उसे महाभद्र मार्गयोजना कहते हैं।।६५।।

अष्टौ पूर्वमुखास्ते मार्गाश्चाष्टावुदग्वक्त्राः।
द्वादशमार्गोपेतं बह्वर्गलकुट्टिमैर्युक्तम् ॥६६॥

यत्तत्तद्वस्तुसुभद्रं नाम्ना विन्यासमुद्दिष्टम्।

आठ मार्ग पूर्व दिशा से एवं आठ मार्ग उत्तर दिशा से निकलते हैं। (इनके अतिरिक्त) बारह मार्गों एवं बहुत से अर्गल कुट्टियों से (अर्गला के समान आपस में

गुम्फित) युक्त मार्ग-विन्यास को वस्तुसुभद्र कहते हैं।।६६।।

नवनवमार्गाश्चैते प्राचीनाश्चाप्युदीचीनाः ।।६७।।

द्वारोपद्वारयुतं कुट्टिममार्गार्गलैर्युक्तम् ।
राजगृहोपेतं यन्नगरं नाम्ना जयाङ्गं स्यात् ।।६८।।

नौ द्वार पूर्व से निकलते हों तथा नौ द्वार उत्तर से निकलते हों, इन मार्गों पर द्वार एवं उपद्वार (छोटे प्रवेशद्वार) हों, इन मार्गों के साथ अर्गल-कुट्टिम मार्ग भी हों तथा नगर में राजगृह भी हो तो उसकी संज्ञा जयाङ्ग होती है।।६७-६८।।

प्राचीना दश मार्गाश्चोत्तरमार्गास्तथैव स्युः ।
नृपमन्दिरसंयुक्तं युक्त्यानेकार्गलोपेतम् ।।६९।।

बहुकुट्टिमसंयुक्तं विजयं नाम्ना वरैः प्रोक्तम् ।

पूर्व दिशा से दश मार्गों का प्रारम्भ होता हो तथा उत्तर दिशा से भी दश मार्ग निकलते हों; साथ ही इन मार्गों के साथ अनेक अर्गलायुक्त कुट्टिम मार्ग हों तथा नगर में राजभवन भी हो तो उसे श्रेष्ठ जनों ने विजय संज्ञा प्रदान की है।।६९।।

प्राचीनास्त्वेकादश मार्गा रुद्रा उदीचीनाः ।।७०।।

ब्रह्मांशादपरांशो यदभीष्टं तत्र नृपवासम् ।
तन्मुखतोऽदभ्रमहाङ्गणकं स्यादिष्टभागे तु ।।७१।।

(सर्वतोभद्र योजना में) पूर्व से ग्यारह मार्ग तथा उत्तर से ग्यारह मार्ग निकलते हों, ब्रह्मभाग के पश्चिम में इच्छित स्थान पर राजा का आवास हो, उसके सम्मुख बहुत विशाल आँगन होना चाहिये।।७०-७१।।

तत्रान्तःपुरवासं शेषं सर्वं समुन्नेयम् ।
तत्प्रागुदग्गतमार्गा सा कथिता राजवीथीति ।।७२।।

इसके पश्चात् अभीष्ट स्थान पर रानियों का आवास होना चाहिये। पूर्व से निकले मार्ग को राजवीथी कहते हैं।।७२।।

तस्या द्विपार्श्वयोः स्यात्सैश्वर्याणां तु मालिकापङ्क्तिः ।
तत्पार्श्वयोर्निवासो वणिजां स्यात्तस्य दक्षिणतः ।।७३।।

स्यात्तन्तुवायवासं ह्युत्तरतश्चक्रिणां वासम् ।
तत्तज्जात्यन्तरगृहमथ तत्सामीप्यतः कुर्यात् ।।७४।।

राजवीथी के दोनों पार्श्वों में धनाढ्य लोगों की मालिका-पङ्क्ति (भवनों की पङ्क्ति) होनी चाहिये। उनके पार्श्वों में व्यापारियों का आवास होना चाहिये। उसके दक्षिण में

तन्तुवायों (जुलाहों) का आवास होना चाहिये। उसके उत्तर में कुम्हारों का आवास होना चाहिये और इनके समीप ही जात्यन्तरों (छोटी जाति वालों) का आवास होना चाहिये।।७३-७४।।

शेषं प्रागिव सर्वं योग्यं तत्सर्वतोभद्रम्।
एवं षोडश भेदा ह्युदिताश्चाद्यैर्मुनीन्द्रैस्तु ॥७५॥

शेष सभी पूर्ववर्णित नियमों के अनुसार होना चाहिये। यह सर्वतोभद्र व्यवस्था है। इस प्रकार प्राचीन मुनियों ने नगर के सोलह भेदों का वर्णन किया है।।७५।।

मार्गच्छेदं नेष्टं पदमध्ये चत्वरं न स्यात्।
शेषं युक्त्यानुक्तं सम्यग्योज्यं नृपेच्छया तज्ज्ञैः ॥७६॥

क्षुद्राणामपि चैषां मध्यानां चापि सर्वेषाम्।

नगर के मध्य पद में न तो मार्ग बाधित होना चाहिये तथा न ही वहाँ चौराहा होना चाहिये। शेष की योजना राजा की इच्छानुसार मध्य में करनी चाहिये, जिनका यहाँ वर्णन नहीं किया गया है।।७६।।

✵ अन्तरापणम् ✵

तत्र कुटुम्बावलिकं वक्ष्येऽहं चान्तरापणकम् ॥७७॥

हाट-योजना—अब मैं (मय) कुटुम्बावलिक (परिवारों के आवास की पंक्ति) तथा बाजारों का वर्णन करता हूँ।।७७।।

परितो रथपथयुक्तं मध्ये वणिजां गृहश्रेणी।
तद्दक्षिणतः पार्श्वे गेहं स्यात्तन्तुवायानाम् ॥७८॥

बाजार के चारो ओर रथ के चलने योग्य मार्ग हों एवं मध्य में व्यापारियों के गृहों की पङ्क्ति होनी चाहिये। उनके दक्षिण पार्श्व में जुलाहों के गृह होने चाहिये।।७८।।

उत्तरतस्तद्वासावलिकं स्याच्चक्रिकाणां तु।
कर्मोपजीविनां स्याद्वासं रथपथ्यनेकानाम् ॥७९॥

उत्तर भाग में कुम्हारों के भवन होने चाहिये। अन्य शिल्पियों के गृह भी रथमार्ग से संयुक्त होने चाहिये।।७९।।

ब्रह्मावृतपथमेकं तत्रान्तरापणं कार्यम्।
ताम्बूलादि फलञ्च प्रोक्तं सारान्वितं द्रव्यम् ॥८०॥

जो मार्ग ब्रह्म-पद को घेरता हो, उस पर पान, फल एवं सारयुक्त सामग्रियों का हाट बनाना चाहिये।।८०।।

ईशानादिमहेन्द्रद्वारान्तं चान्तरापणकम् ।
तत्रैव मत्स्यमांसं शुष्कं शाकञ्च विज्ञेयम् ॥८१॥

ईशान से महेन्द्र पद तक हाट-बाजार निर्मित करना चाहिये। वहीं पर मछली, माँस, सूखे पदार्थ एवं शाक (सब्जी, तरकारी) का हाट भी होना चाहिये।।८१।।

महेन्द्राद्यग्न्यन्तं भक्ष्यं भोज्यं च निर्दिष्टम् ।
अग्न्यादि गृहक्षतपर्यन्तं तत्र भाण्डानि ॥८२॥

महेन्द्र पद से प्रारम्भ कर अग्निकोण-पर्यन्त भक्ष्य एवं भोज्य (खाने-पीने योग्य) पदार्थों का हाट होना चाहिये तथा अग्नि से गृहक्षतपर्यन्त भाण्डों (बरतन) का हाट होना चाहिये।।८२।।

तस्मान्निर्ऋतिपदान्तं कंसादिकमत्र विज्ञेयम् ।
स्यात् पुष्पदन्तभागान्तं पितृभागादि वस्त्रं स्यात् ॥८३॥

गृहक्षत से निर्ऋति के पद तक कांस्य आदि धातुओं से निर्मित पदार्थों का हाट होना चाहिये। पितृपद से पुष्पदन्त के पद तक वस्त्रों का हाट होना चाहिये।।८३।।

तस्मात् समीरणान्तं तण्डुलधान्यादिकं च कटम् ।
स्याद् भल्लाटपदान्तं वाय्वादिकं वस्त्रकादीनाम् ॥८४॥

पुष्पदन्त से समीर पदपर्यन्त चावल, अन्न एवं भूसे के बाजार होने चाहिये। वायु से भल्लाट के पंद तक वस्त्र आदि के हाट होने चाहिये।।८४।।

तत्रैव लावणादिद्रव्यं तैलादिकं ज्ञेयम् ।
तस्मादीशपदान्तं गन्धं पुष्पादिकं विहितम् ॥८५॥

उसी स्थान पर नमक आदि पदार्थ एवं तेल आदि का हाट होना चाहिये। भल्लाट से ईश तक सुगन्ध एवं पुष्प आदि का हाट होना चाहिये।।८५।।

एवं नवान्तरापणमुदितं तत्परितस्तु मध्ये ।
अभ्यन्तरगतमार्गेष्वथ रत्नं हाटकं वस्त्रम् ॥८६॥

इस प्रकार वसति-विन्यास (नगरादि) में चारो ओर नौ प्रकार के हाटों का वर्णन किया गया है। मध्य भाग में जाने वाले मार्गों पर रत्न, सुवर्ण एवं वस्त्रों का हाट होना चाहिये।।८६।।

माञ्जिष्ठं तु मरीचं पिप्पलकं चापि हारिद्रम् ।
मधुघृततैलादिकमथ भैषज्यं सर्वतः कार्यम् ॥८७॥

इनके अतिरिक्त माञ्जिष्ठ (मजीठ, रंग), काली मिर्च, पीपल, हारिद्र (हल्दी),

शहद, घी, तेल तथा औषध के हाट सभी स्थानों पर होने चाहिये।।८७।।

आर्यपदे च विवस्वति मित्रे पृथिवीधरे च पदे।
शास्ता दुर्गा गजमुखलक्ष्म्यौ चात्रैव विज्ञेयाः ॥८८॥

आर्य, विवस्वान्, मित्र एवं पृथिवीधर के पद पर शास्ता, दुर्गा, गजमुख एवं लक्ष्मी का स्थान होना चाहिये।।८८।।

देवालयमथ परितो ग्रामे यथा तथा विहितम्।
परितः सर्वजनालयमुदितं किञ्चित्ततो दूरे ॥८९॥

जिस प्रकार ग्राम में उसी प्रकार (नगर आदि में भी) चारो ओर देवालय होना चाहिये। इससे कुछ दूर सभी वर्ण के मनुष्यों का आवास होना चाहिये।।८९।।

नगराद् द्विशतं दण्डं नीत्वा प्राच्यां तु वाग्नेय्याम्।
चण्डालकुटीराणि तत्रैव तु कोलिकानां तु ॥९०॥

नगर से दो सौ दण्ड दूर ले जाकर पूर्व अथवा आग्नेय कोण में चण्डालों एवं कोलिकों के कुटीर होने चाहिये।।९०।।

अस्मिन् सर्वमनुक्तं ग्रामे तु यथा तथा विहितम्।
पत्तनमृजुवीथियुतं नैव स्यादन्तरापणं तत्र।
शेषाणामपि तत्तद्योग्यवशात्तत्र विज्ञेयम् ॥९१॥

यहाँ जिन सबका वर्णन नहीं किया गया है, वे सब उसी प्रकार होंगे, जैसे ग्रामों में वर्णित हैं। पत्तन में एक ऋजुपथ (सीधी सड़क) होती है एवं वहाँ बाजार नहीं होते हैं। शेष नगर आदि स्थानों में यथोचित (आवश्यकतानुसार) हाट आदि होना चाहिये।।९१।।

स्थानीयदुर्गपुरपत्तनकोत्मकोल-
द्रोणामुखानि निगमञ्च तथैव खेटम्।
ग्रामञ्च खर्वटमितीह दशैव युक्त्या-
धिष्ठानकानि कथितानि पुरातनार्यैः ॥९२॥

प्राचीन आचार्यों ने दस प्रकार के वासयोग्य अधिष्ठानों का वर्णन किया है— स्थानीय, दुर्ग, पुर, पत्तन, कोत्मकोल, द्रोणमुख, निगम, खेट, ग्राम तथा खर्वट। (इनकी स्थापना भौगोलिक स्थिति के अनुसार होती है)।।९२।।

एवं प्रोक्तं भूमिदेवादिकानां वर्णानां चाप्यत्र जात्यन्तराणाम्।
ग्रामादीनां मानविन्यासमार्गं सालङ्कारं चारु संक्षिप्य तन्त्रात् ॥९३॥

इस प्रकार तन्त्रों से ग्रहण कर संक्षेप में भूमि, देवताओं, चारो वर्णों, जात्यन्तरों (सङ्कर जाति), ग्रामादि के प्रमाण, मार्ग-विन्यास का सुन्दर सजावट के साथ वर्णन किया गया है।।९३।।

दत्तान्नृपः स्थपतिकादिचतुष्टयेभ्यो
मानादिकर्मनिपुणेभ्य इडां च गाश्च।
नित्यं यथा जगति वित्तमनेकवस्तू-
न्याचन्द्रतारमधिवासभुवं मुदा सः ॥९४॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे नगरविधानो
नाम दशमोऽध्यायः

राजा को मापन आदि कार्य में निपुण चारो स्थपति आदि को गाय एवं पृथिवी प्रदान करना चाहिये। ऐसा करने से जब तक संसार में चन्द्रमा एवं तारे रहेंगे तब तक वह राजा प्रसन्नतापूर्वक पृथिवी पर धन आदि अनेक समृद्धिदायक वस्तुओं से युक्त एवं सर्वदा प्रसन्न रहता है।।९४।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

१. वप्र-(प्राकार)-निर्माण (श्लोक १३-१६)

समराङ्गणसूत्रधार (१०.१६-२५) के अनुसार पुर के बाहर वप्रभूमि का निर्माण करना चाहिये। महारथ्या के प्रमाण से वप्र-भूमि के बाहर तीन परिखाओं का निर्माण होता है। परिखाओं को खोदने से निकली मृत्तिका से इसका निर्माण होता है। इसकी ऊँचाई गज के पेट या पीठ के बराबर रखनी चाहिये। इसके ऊपरी तल को दृढ़ बनाना चाहिये। इसके ऊर्ध्व भाग को पत्थर एवं शिलाओं से दृढ़ बना कर इसके ऊपर प्राकार का निर्माण किया जाता है।

२. राजधानी (श्लोक १९-२६)

मानसार के अनुसार जिस नगर में विष्णु भगवान् का देवालय हो, उसे राजधानी कहते हैं—

तत्रागते नगर्यन्तं यदि विष्णवालयं भवेत्।।
राजधानीति तन्नाम विद्वद्भिर्वक्ष्यते सदा।

(मानसार-१०.२३-२४)

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (४.९) में बीस नगरों के अन्तर्गत बीसवें नगर के रूप में राजधानी की चर्चा की गई है। समराङ्गणसूत्रधार (१८.२) के अनुसार जिस नगर में राजा हो, उसे राजधानी कहते हैं—

यत्रास्ते नगरे राजा राजधानीं तु तां विदुः।

३. केवल नगर (श्लोक १९-२१)

मानसार (१०.२४-२६) के अनुसार चारो दिशाओं में गोपुरयुक्त चार द्वार, रक्षा-गृह एवं सैन्य-आवास, व्यापारियों से युक्त एवं देवालयों से युक्त स्थान केवल नगर होता है।

४. खेट, खर्वट, कुब्ज, पत्तन, शिविर, सेनामुख, स्थानीय, द्रोणमुख, विडम्ब, कोत्मकोलक, निगम एवं स्कन्धावार (श्लोक-२६-३६)

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (८), मानसार (१०), समराङ्गणसूत्रधार (१८) में इन सबका वर्णन नगर के भेदों के रूप में किया गया है। विशेष वर्णन इस प्रकार हैं—

(क) समराङ्गणसूत्रधार (१८) के अनुसार कर्वट (खर्वट) नगर के सदृश, निगम कर्वट से गुणों में कम होता है—

शाखानगरमेवाहुः कर्वटं नगरोपमम्।
ऊनं कर्वटमेवेह गुणैर्निर्गम उच्यते।।३।।

पत्तन राजा का दूसरा निवास होता है—

उपस्थानं भवेद्राज्ञां यत्र तत्पत्तनं विदुः।।५।।

खेट को नगर के आधे विष्कम्भ माप का कहा गया है—

खेटं तदर्धविष्कम्भमाहुः। (१०.७९)

इसमें बीस मार्ग होते हैं—

विंशतिः खेटके मार्गाः। (१०.८२)

(ख) मानसार (१०) के अनुसार नदी एवं पर्वत से सटे शूद्रालययुक्त स्थान खेट कहे जाते हैं—

नदीपर्वतप्रान्ते च शूद्रालयसमन्वितम्।
महाप्रावृतसंयुक्तं खेटमुक्तं पुरातनैः।।२९।।

खर्वट पर्वतों से युक्त, अनेक जातियों के आवास से युक्त एवं सभी प्रचार से संयुक्त होता है—

परितः पर्वतैर्युक्तं नानाजातिगृहैर्वृतम्।
सर्वप्रचारसंयुक्तमेतत्खर्वटमीरितम् ।।३०।।

कुब्जक खेट एवं खर्वट के मध्य में स्थित होता है। सभी वर्णों के लोगों का आवास होता है एवं इसमें वप्र निर्मित नहीं होता है—

खेटखर्वटयोर्मध्ये सर्वमर्त्यालयान्वितम्।
वप्राभावस्वते तत्तु कुब्जकमुदाहृतम्।।३१।।

पत्तन समुद्रतट पर स्थित नगर है। यहाँ सभी वर्णों के लोग निवास करते हैं। अन्य द्वीपों से लाये गये शिल्क एवं कपूर आदि पदार्थों से व्यापारी-वर्ग यहाँ व्यापार करता है—

अब्धितीरप्रदेशे तु नानाजातिगृहैर्वृतम्।
वणिग्जातिभिराकीर्णं क्रयविक्रयपूरितम्।।

रत्नैर्द्वीपान्तरैर्नित्यैः क्षौमैः कर्पूरकादिभिः।
एतत्पत्तनमाख्यातं वप्रायतसमन्वितम्।।३२-३३।।

(ग) विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में खेट एवं खर्वट का उल्लेख ग्राम के अन्तर्गत किया गया है। खेट प्रायः वन के मध्य में होता है। यहाँ शबर, पुलिन्द एवं मांस से जीवन-यापन करने वाले निवास करते हैं। इसमें गृह प्रायः पर्णनिर्मित (कुटिया) तथा कहीं-कहीं ईटों के गृह होते हैं। इसमें एक से लेकर दश तक वीथियाँ एवं अनेक क्षुद्रवीथियाँ होती हैं—

खेटस्य वास्तुभूमिस्तु प्रायः काननमध्यगाः।
शबरैश्च पुलिन्दैश्च संयुता मांसजीविभिः।।

पर्णगेहान्विता विष्वगथ वेष्टिकगेहभाक्।
एकादिदशवीथ्यन्ताः क्षुद्रवीथ्यस्समन्ततः।। (८.२०-२१)

खर्वट नदी के किनारे बसा स्थान है। यह आम, साल आदि वृक्षों से युक्त होता है। इसमें दश से बीस वीथियाँ एवं अनेक क्षुद्रवीथियाँ होती हैं। एक सौ गृहों से युक्त एक मुख्य वीथी होती है, जहाँ कालिका मन्दिर होता है। यहाँ कृषक, श्रमिक, मदिरागृह एवं बाजार होते हैं—

वास्तुभूमिः खर्वटस्य नदीतीरगता मता।
रसालसालवकुलैस्तिन्त्रिणीवेणुपाटलैः ।।

कदम्बैर्नारिकेलैश्च श्रीपर्णैस्तिलकैरपि।
छायावृक्षसमाकीर्णा निष्कुटारामसंवृता।।

दशादिविंशद्वीथीभिरावृता च समन्ततः।
शतगेहा मुख्यवीथी तन्मध्ये कालिकागृहम्।।
वागुराजीविभिश्चान्यैर्भृतकैश्च कृषीवलैः।
मदिरागेहसंयुक्ता विपण्यादिभिरावृता।। (८.२२-२५)

निगम संज्ञक नगर (८.४०-५०) वन के मध्य में अथवा पर्वत के पार्श्व में स्थित होता है। यह सदा जल से युक्त नदी के तट पर स्थित, रक्षकों से युक्त, दुर्ग एवं प्राकार से युक्त होता है। चारो दिशाओं में चार द्वार, महामार्ग, पीठ, अधिष्ठान एवं गोपुर से युक्त, पूर्व एवं पश्चिम में चालीस प्रतोलियाँ, दक्षिण से उत्तर तीन दण्ड चौड़ी बीस वीथियाँ, अनेक उपवीथियाँ एवं क्षुद्रवीथियाँ होती हैं। इसके मध्य भाग में ऊँचा राजभवन, बाजार, न्यायशाला, सभी वर्णों का निवास, पश्चिम दिशा में देवालय एवं ऊँचे-ऊँचे भवन होते हैं।

स्कन्धावार नगर (८.४७-५०) युद्धक्षेत्र से लौटी सेना का आवास होता है। यह पर्वत के पार्श्व में स्थित भूमि पर, पर्वत के मध्यभाग अथवा घने जंगल के मध्य भाग में दृढ़ दुर्ग से युक्त होता है—

गिरिपार्श्वगता भूमिरथवा गिरिमध्यमाक्।
महारण्यस्य मध्यस्था दृढदुर्गसमन्विता।।४८।।

इस क्षेत्र में सामान्य जनों का प्रवेश वर्जित था एवं सेनापति का भवन दक्षिण भाग में दृढ़ द्वार से युक्त होना चाहिये एवं वहाँ अश्व, गज आदि का आवास एवं शस्त्रागार होना चाहिये।

द्रोणक नगर (८.५१-५५) में वप्र एवं गोपुर से युक्त नृप के आवास, कृषकों एवं धान्यक्षेत्र से युक्त; समृद्धों के गृहों, अनेक वीथिकाओं, मठ-मण्डप, वापी, कूप, शिवालय एवं चारो वर्णों के आवास से युक्त होता है।

कुब्जक नगर (८.५६-५९) दुर्ग, नृपालय, वैश्यों की पर्याप्त संख्या एवं पण्यवीथियों (बाजार वाले मार्ग) से युक्त होता है। नगर के उत्तर या पश्चिम दिशा में देवालय, राजवीथी, प्रतोलिका एवं बहुसंख्यक वीथियों से युक्त होता है।

पत्तन संज्ञक नगर (८.६०-६५) समुद्रतट या पर्वत के निकट भूमि पर स्थित होता है—

पारावारतटे वापि भूधरोपत्यकातटे।
स्वादुतोयस्थले वाऽपि पत्तनङ्कारयेद् बुधः।।६०।।

यह महामार्ग, आठ वीथियों, राजभवन, दुर्ग, गोपुर, सभामण्डप, देवालय,

उपवीथियों, क्षुद्रवीथियों एवं विभिन्न प्रकार के भवनों से युक्त होता है। इसकी रक्षा प्रहरी करते हैं।

शिविर नगर (८.६६-६८) में राजा, सचिव, सेनानायक, न्यायवेत्ता आदि राजपुरुष निवास करते हैं। यह नगर काष्ठ, शिला, धातु, वस्त्र अथवा इष्टका से निर्मित होता है।

वाहिनीमुख नगर (८.६९-७४) उस स्थान को कहते हैं, जो समुद्र एवं नदी के सङ्गम-स्थल पर बसा होता है—

पारावारेण नद्यास्तु सङ्गमो यत्र दृश्यते।
तत्रस्थन्नगरं नाम्ना वाहिनीमुखमीरितम्।।

यह दुर्ग प्राकार, चारो ओर रक्षकों एवं दृढ़ द्वार से युक्त होता है। इसमें नदी पर पुल बना होता है। सौ से अधिक बड़ी वीथियाँ, अनेकों उपवीथियाँ, चारो ओर बाजार, अनेक जातियों एवं अनेक भवनों से युक्त होता है।

इस प्रकार विश्वकर्मा ने नगरों का विस्तार से वर्णन किया है।

५. दुर्ग (श्लोक-३६-५१)

पौराणिक साहित्य एवं शिल्पग्रन्थों में दुर्ग के चार भेदों से लेकर बारह भेदों तक परिचर्चा की गई है। कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

(क) मत्स्यपुराण (२१७.६-७) में छः दुर्गों—धन्वदुर्ग (मरुभूमि में निर्मित), महीदुर्ग, नरदुर्ग, वृक्षदुर्ग, जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग का वर्णन प्राप्त होता है—

धन्वदुर्गं महीदुर्गं नरदुर्गं तथैव च।।
वार्क्षं चैवाम्बुदुर्गं च गिरिदुर्गं च पार्थिव।
सर्वेषामेव दुर्गाणां गिरिदुर्गं प्रशस्यते।।

(ख) अग्निपुराण (२२२.४-५) में भी उपर्युक्त दुर्गों का वर्णन प्राप्त होता है—

धनुदुर्गं महीदुर्गं नरदुर्गं तथैव च।।
(वार्क्षं चैवाम्बुदुर्गं च गिरिदुर्गं च भार्गव।
सर्वोत्तमं शैलदुर्गमभेद्यं चान्यभेदनम्।।)

(ग) शिल्परत्न (पूर्व.-५.८-९) में सात प्रकार के दुर्गों की चर्चा की गई है। ये पर्वत, वन, जल, एरण, दैवक, धावन एवं कृतक संज्ञक हैं—

दुर्गं तु पार्वतं वन्यमौदकं चैरणं तथा।।
दैवकं धावनं चैव कृतकं चेति सप्तधा।

(घ) विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (१०.१-४६) में बारह प्रकार के दुर्गों का वर्णन किया

गया है। इनकी संज्ञा गिरिदुर्ग, वनदुर्ग, जलदुर्ग, इरिणदुर्ग, दैवत दुर्ग, एकमुख-द्विमुख-चतुर्मुख दुर्ग कूर्मदुर्ग, पारावत दुर्ग, प्रभुदुर्ग एवं युद्धदुर्ग है।

(ङ) समराङ्गणसूत्रधार (४५.३९-४०) में छः दुर्गों की चर्चा प्राप्त होती है—

दुर्गं तु षड्विधं प्रोक्तं राज्ञां तु विजिगीषताम्।
अब्दुर्गं पङ्कदुर्गं वा वनदुर्गैरिणे तथा।।
पार्वतीयं महीदुर्गमिति कल्प्यानि पार्थिवैः।
सर्वेषामेव दुर्गाणां पार्वतीयं प्रशस्यते।।

(च) मानसार (१०.४५-४६) में गिरिदुर्ग, वनदुर्ग, जलदुर्ग, पङ्कदुर्ग, रथदुर्ग, देवदुर्ग एवं मिश्रदुर्ग की चर्चा की गई है—

गिरिदुर्गं वनदुर्गं सलिलं पङ्कदुर्गकम्।
रथदुर्गं देवदुर्गं मिश्रदुर्गं तथैव च।।

(छ) राजवल्लभमण्डन (४.३) में भूदुर्ग, जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग एवं गुहादुर्ग का उल्लेख प्राप्त होता है—

भूदुर्गं जलदुर्गमद्रिविषये दुर्गं भवेद् गह्वरे।

इनके अतिरिक्त मनुस्मृति, शुक्रनीति एवं अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में भी दुर्ग की परिचर्चा प्राप्त होती है।

६. **अन्तरापण** (बाजार) (श्लोक ७७-९४)

अपराजितपृच्छा (७२.३२-४०) के अनुसार जहाँ लोगों का आवागमन बना रहता हो, ऐसे स्थान पर पूर्व की ओर सुनार, गन्धी (सुगन्ध बेचने वाला), दन्तकर्म एवं अन्नागार का स्थान (बाजार) होना चाहिये। राजभवन के सम्मुख पान, फल एवं फूल-माला का बाजार होना चाहिये। वहीं अन्य सामानों की दुकानें भी होनी चाहिये। दक्षिण दिशा में लोहे के सामान, शस्त्र, पंखे एवं मोरपंख आदि की हाट होनी चाहिये। ईशान कोण में वस्त्र, आग्नेय दिशा में छोटे वस्त्र, दक्षिण में काले एवं लाल वस्त्र, पूर्व में श्वेत वस्त्र आदि के हाट प्रशस्त होते हैं। अन्न के बाजार सभी दिशाओं में होने चाहिये। पान एवं सुपारी का विक्रय मन्दिर के निकट एवं धोबी आदि का स्थान अपने देवता के आवास के निकट प्रशस्त होता है।

राजवल्लभमण्डन (४.१८-१९) में भी विभिन्न व्यवसायियों के स्थान का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार पान, फल, हाथी-दाँत, सुगन्धि, पुष्प एवं मोती के हाट राजभवन एवं मन्दिर के सम्मुख होने चाहिये—

ताम्बूलं फलदन्तगन्धकुसुमं मुक्तादिकं यद्भवेत्।
राजद्वारसुराग्रतो हि सुधिया कार्यं पुरे सर्वतः।।१८।।

ईशान में रङ्गरेज, जुलाहे, धोबी; आग्नेय कोण में अग्निजीवी (धातुशिल्पी); अन्त्यज, चर्मकार, वरड, सुराजीवी एवं वेश्याओं को नैर्ऋत्य कोण तथा वायव्य कोण में व्याध को बसाना चाहिये—

ईशे रङ्गकराः कुविन्दरजकाः वह्नौ च तज्जीविनः
प्रोक्ता अन्त्यजचर्मकारबरडाः स्युः शौण्डिकाः राक्षसे।
पण्यस्त्री निर्ऋतौ च मारुतयुते कोणे न्यसेल्लुब्धकान्
.... ॥१९॥

अथैकादशोऽध्यायः

(भूलम्बविधानम्)

भूमिलम्बविधानं तु वक्ष्ये संक्षेपतः क्रमात्।
चतुरस्रमायतास्रं वर्तुलं च तदायतम् ॥१॥

अष्टास्रं च षडस्रं च द्व्यस्रवृत्तं तथैव च।
एतद्विन्यासभेदं स्यात् क्षयवृद्धिविधानतः ॥२॥

भूमि के तल एवं आयाम—अब मैं (मय) संक्षेप में क्रमानुसार भूमिलम्ब-विधान का वर्णन करता हूँ। क्षय (कम करते हुये) एवं वृद्धि (बढ़ाते हुये) विधान के अनुसार विन्यास-भेद इस प्रकार हैं—चौकोर, आयताकार, गोलाकार, लम्बाई लिये गोलाकार, अष्टकोण, षट्कोण एवं द्व्यस्रवृत्त (दो कोणों के साथ गोलाकार)।

भूमिलम्बमिति प्रोक्तं त्रिचतुर्हस्तमानतः।
द्विद्विहस्तविवृद्ध्यैकं भूमेर्मानं चतुष्टयम् ॥३॥

इसे भूमिलम्ब कहते हैं। एक भूमि (के भवन) का मान तीन या चार हस्त से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ की वृद्धि करते हुये चार प्रकार का होता है।।३।।

पञ्चषड्ढस्तमारभ्य द्विद्विहस्तविवर्धनात्।
द्वितले तु चतुर्मानं रुद्रभानुकरान्तकम् ॥४॥

पाँच या छः हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये ग्यारह या बारह हाथ तक दो तल वाले भवन के चार प्रकार के मान होते हैं।।४।।

सप्ताष्टहस्तमारभ्य द्विद्विहस्तविवर्धनात्।
पञ्चदशविकारान्तं त्रितले पञ्चमानकम् ॥५॥

तीन तल वाले भवन के सात या आठ हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये पन्द्रह या सोलह हस्तपर्यन्त पाँच प्रकार के मान होते हैं।।५।।

नवपङ्क्तिकराद्यावत् पक्षषोडशहस्तकम्।
चतुष्पञ्चतलं प्रोक्तं चतुर्मानं सनातनम् ॥६॥

नौ या दश हाथ से प्रारम्भ कर पन्द्रह या सोलह हाथ तक चार और पाँच तल वाले भवन के चार प्रकार के मान वर्णित हैं।।६।।

एकहस्तं द्विहस्तं वा क्षुद्रमेकतलं स्मृतम्।
युग्मायुग्मकरैर्मानैर्हस्तार्धोनसमन्वितैः ॥७॥
केचिद् वदन्ति देवानां मानुषाणां विमानके।
विस्तारे सप्तषट्पञ्चचतुस्त्र्यंशेऽधिकं त्रिभिः ॥८॥

अथवा एक तल का क्षुद्र प्रमाण एक हाथ या दो हाथ कहा गया है। कुछ विद्वान् देवों एवं मनुष्यों के कई तल वाले भवन के विस्तारप्रमाण में आधा हाथ जोड़ने या कम करने के लिये कहते हैं। यह सम या विषम संख्या वाले सभी हस्त-प्रमाण के लिये हैं। (लम्बाई के लिये) विस्तारप्रमाण में तीन के साथ विस्तार का सात, छः, पाँच, चार या तीन अंश अधिक जोड़ना चाहिये।।७-८।।

शान्तिकं पौष्टिकं जयदमद्भुतं सार्वकामिकम्।
उच्छ्रायं द्विगुणं पादार्धाधिकं चापि सम्मतम् ॥९॥

शान्तिक, पौष्टिक, जयद, अद्भुत एवं सार्वकामिक भवनों में पूर्वोक्त प्रमाण के अतिरिक्त भवन की ऊँचाई उसके चौड़ाई की दुगुनी, डेढ़गुनी अथवा सवा गुनी अधिक होनी चाहिये।।९।।

पञ्चदशकरव्यासाद्धीनं क्षुद्रविमानकम्।
सप्ताष्टाधिकपङ्क्त्यादिद्विद्विहस्तविवर्धनात् ॥१०॥

चौड़ाई में पन्द्रह हाथ से कम माप का भवन क्षुद्रविमानक होता है। सत्रह या अट्ठारह हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाना चाहिये।।१०।।

आसप्ततेश्चतुर्भूम्यादीनि त्रीणि मतानि च।
सप्तविंशतिभेदानि द्वादशान्तान्यनुक्रमात् ॥११॥

(दो-दो हाथ बढ़ाते हुये) सत्तर हाथ तक माप ले जाना चाहिये। चार तल से बारह तलपर्यन्त भवन के सत्ताईस भेद होते हैं एवं इनमें से प्रत्येक के तीन भेद होते हैं।।११।।

त्रिचतुर्विंशतिरत्नेर्यावच्छतकरान्तकम्।
त्रित्रिहस्तविवृद्ध्या तु त्रिनवोत्सेधमिष्यते ॥१२॥

तेईस या चौबीस हाथ से प्रारम्भ कर एक सौ हाथ तक तीन-तीन हाथ बढ़ाते हुये भवन के सत्ताईस प्रकार के ऊँचाई के प्रमाण-भेद प्राप्त होते हैं।।१२।।

एवमुत्कृष्टमानेषु श्रेष्ठमध्याधमं भवेत्।
त्रिचतुष्पङ्क्तिहस्तादिद्विद्विहस्तविवर्धनात् ॥१३॥

पञ्चषट्षष्टिहस्तान्तं संख्यया पूर्वसंस्कृतिः ।
चतुस्तलविमानादि द्वादशान्तं विधीयते ॥१४॥

इस प्रकार ऊँचे भवनों के श्रेष्ठ, मध्यम एवं अधम भेद प्राप्त होते हैं। तेरह या चौदह हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये पैंसठ या छाछठ हाथ पर्यन्त इनके माप प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार पूर्ववर्णित संख्याओं द्वारा चार तल के भवन से लेकर बारह तल तक भवनों के प्रकार प्राप्त होते हैं।।१३-१४।।

सप्ताष्टपङ्क्तेरारभ्य त्रित्रिहस्तविवर्धनात् ।
पञ्चषण्णवतिर्यावदुच्चं प्रागिव संख्यया ॥१५॥

सत्रह या अट्ठारह हाथ से प्रारम्भ कर पञ्चानबे या छियानबे हाथ तक तीन-तीन हाथ बढ़ाते हुये भवन की ऊँचाई का प्रमाण प्राप्त होता है।।१५।।

श्रेष्ठमध्यकनिष्ठं स्यादेवं मध्यक्रमेषु च ।
नवपङ्क्तिकरात् पञ्चषट्पञ्चाशत्करान्तकम् ॥१६॥
द्विद्विहस्तविवृद्ध्या तु चतुर्विंशतिसंख्यया ।
पञ्चादिद्वादशान्तानां हर्म्याणां विपुलं क्रमात् ॥१७॥

उपर्युक्त सभी भवनों के श्रेष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ भेद होते हैं। नौ या दश हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये पचपन या छप्पन हाथपर्यन्त चौबीस प्रकार के विस्तार प्रमाण-प्राप्त होते हैं। ये भवन पाँच तल से प्रारम्भ होकर बारह तल तक होते हैं।।१६-१७।।

सप्ताष्टनवभूमानां धाम्नामुक्तप्रमाणतः ।
युञ्ज्याद् द्वादशभूम्यन्तं विमानं मानविद्वरः ॥१८॥

सात, आठ या नौ तल के भवनों का मान के साथ वर्णन किया गया। मान में कुशल स्थपति इन नियमों का प्रयोग करते हुये बारह तलपर्यन्त भवनों का निर्माण कर सकता है।।१८।।

द्विःषट्त्रयोदशक्ष्मान्तषोडशक्ष्मं यथाक्रमम् ।
षट्षट्षट्सप्तपञ्चाशद्धस्तव्यासैः शिवोदितम् ॥१९॥

शिव देवता से सम्बद्ध देवालय बारह, तेरह अथवा सोलह तल का होता है, जिसका विस्तार क्रमशः छत्तीस, बयालीस एवं पचास हाथ कहा गया है।।१९।।

विस्तारं स्तम्भतो बाह्ये जन्मात् स्थूप्यन्तमुन्नतम् ।
केचिदाशिखरान्तं तु प्रवदन्ति तदुन्नतम् ॥२०॥

भवन का विस्तार स्तम्भ के बाहर से मापना चाहिये एवं इसकी ऊँचाई इसके जन्म (मूल) से प्रारम्भ कर स्तूपिका-पर्यन्त लेनी चाहिये। कुछ विद्वान् भवन की ऊँचाई शिखर-पर्यन्त मानते हैं।।२०।।

महतामुच्छ्रयो हस्तैरुद्देशः समुदाहृतः ।
तत्तद्व्यासे तु सप्तांशे निर्देशोच्चं त्रियंशकैः ॥२१॥

बड़े भवनों की ऊँचाई कर-प्रमाण में दी गई है। इनका विस्तार दश में सातवाँ भाग होना चाहिये।।२१।।

विस्तारद्विगुणोत्सेधं युक्त्याल्पेषु प्रयोजयेत् ।
देवानां सार्वभौमानामाद्वादशतलं विदुः ॥२२॥

छोटे भवनों की ऊँचाई उनके विस्तार की दुगुनी होनी चाहिये। सार्वभौम देवों का मन्दिर बारह तलों का होना चाहिये।।२२।।

रक्षोगन्धर्वयक्षाणामेकादशतलं मतम् ।
विप्राणां नवभौमं स्याद् दशभौममथापि वा ॥२३॥

राक्षस, गन्धर्व एवं यक्षों का भवन एकादश तल का तथा ब्राह्मणों का भवन नौ या दश तल का होना चाहिये।।२३।।

युवराजस्य राज्ञश्च पञ्चमस्यैव सप्तभूः ।
तदाद्येकादशतलं षण्णां वै चक्रवर्तिनाम् ॥२४॥

पाँचवें प्रकार का भवन युवराजों एवं राजाओं का होता है, जो सात तल का होता है। चक्रवर्ती राजाओं का भवन छः तल से प्रारम्भ कर ग्यारह तलपर्यन्त होता है।।२४।।

त्रिभूमं च चतुर्भूमं वणिजां शूद्रजन्मनाम् ।
राज्ञां पञ्चतलं वाऽपि मतं पट्टभृतां तु तत् ॥२५॥

वैश्यों एवं शूद्रों का भवन तीन एवं चार तल का होना चाहिये तथा पट्टभृत राजाओं (छोटे राजाओं) का भवन पाँच तल का होना चाहिये।।२५।।

शतहस्तसमुत्सेधात् सप्तत्यारत्निविस्तरात् ।
नेष्यतेऽधिकमानं तु सर्वथा तद्विचक्षणैः ॥२६॥

कुशल स्थपति एक सौ हाथ से अधिक ऊँचे तथा सत्तर हाथ से अधिक विस्तृत भवन का प्रमाण अभीष्ट नहीं मानते हैं।।२६।।

क्षुद्रल्पमध्यमवरादिविमानकानां
व्यामिश्रहस्तकयुजां विपुलोच्चभेदम् ।

युक्त्या यथोदितमजाद्यमरेश्वराणां
नृणां तथैव कथितं हि मया पुराणैः ॥२७॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे भूलम्बविधानो
नामैकादशोऽध्यायः

मैंने (मय ऋषि ने) विभिन्न ऊँचाई वाले एवं विस्तार वाले अत्यन्त छोटे, मध्यम एवं बड़े भवनों का वर्णन प्राचीन विद्वानों के मतानुसार किया। इस प्रकार यह ब्रह्मा आदि देवों एवं मनुष्यों के भवनों का वर्णन नियमानुसार किया गया।।२७।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

भूलम्ब-विधान (श्लोक-१-२)

मानसार (११ अ.), ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (क्रिया-३०.५०-५३), अपराजितपृच्छा (१२) में एक से बारह भूमियों की चर्चा प्राप्त होती है।

अथ द्वादशोऽध्यायः

(गर्भविन्यासः)

तैतिलानां द्विजातीनां वर्णानां हर्म्यके गृहे ।
गर्भन्यासविधिः सम्यक् संक्षेपाद् वक्ष्यतेऽधुना ॥१॥

शिलान्यास—देवों के, ब्राह्मणों के एवं अन्य वर्ण वालों के भवनों के गर्भन्यास (शिलान्यास) की विधि का भली-भाँति एवं संक्षेप में अब वर्णन किया जा रहा है।।१।।

सर्वद्रव्यैस्तु सम्पन्नं गर्भं तत् सम्पदां पदम् ।
द्रव्यहीनमसम्पन्नं गर्भं सर्वविपत्करम् ॥२॥

सभी पदार्थों से युक्त गर्भ (भवन की नींव का गर्त) सम्पदा का स्थल होता है तथा किसी पदार्थ के कम होने से अथवा गर्भन्यास न होने से वह गर्भ सभी प्रकार की विपत्तियों का कारण (उस पर निर्मित भवन एवं भवन के निवासियों के लिये) बनता है।।२।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गर्भं सम्यग् विनिक्षिपेत् ।
गर्भश्वभ्रस्य गाम्भीर्यं स्वाधिष्ठानोन्नते समम् ॥३॥

इसलिये सभी प्रकार के प्रयत्नपूर्वक गर्भ का न्यास करना चाहिये। गर्भ के गर्त की गहराई को अधिष्ठान की ऊँचाई तक समतल करना चाहिये।।३।।

चतुरस्रसमं कुर्यात् गर्तमिष्टकयाश्मना ।
आपूर्य सलिलं तस्य मूले सर्वमृदं क्षिपेत् ॥४॥

गर्त को ईंटों एवं पत्थरों से सम एवं चौकोर करना चाहिये। पानी से गड्ढे को भरने के बाद इसके मूल में सभी प्रकार की मिट्टियाँ डालनी चाहिये।।४।।

निम्नगाह्रदसस्याद्रिवल्मीककुलिरावटे ।
हलस्थलाब्धिगोशृङ्गहस्तिदन्तेषु मृत्तिका ॥५॥

यह मृत्तिका नदी से, तालाब से, अन्न के खेत से, पर्वत से, बाँबी से, हल से, बैल के सींग से एवं गजदन्त से प्राप्त होती है।।५।।

तदूर्ध्वं तस्य मध्ये तु पद्मकन्दं न्यसेत् पुनः ।
पूर्वे चोत्पलकन्दं च दक्षिणे कौमुदं क्षिपेत् ॥६॥

उसके ऊपर गर्त के मध्य में पद्म (लाल कमल) की जड़, पूर्व दिशा में उत्पल (नीलकमल) की जड़ एवं दक्षिण में कुमुद (की जड़) डालनी चाहिये।।६।।

सौगन्धिं पश्चिमे विद्यात् नीललोहमुदग्दिशि ।
धान्यान्यष्टौ तदूर्ध्वं तु शालिर्व्रीहिश्च कोद्रवः ॥७॥

कङ्कुं मुद्गं च माषं च कुलत्थं च तिलं तथा ।
प्रादक्षिण्येन शाल्यादीनीशानादिषु विन्यसेत् ॥८॥

पश्चिम दिशा में सौगन्धि (एक प्रकार की सुगन्धित घास), उत्तर दिशा में नील-लोह (नीले या काले रंग का धातु) डालना चाहिये। उनके ऊपर आठो दिशाओं में आठ धान्यशालि (चावल का एक प्रकार), व्रीहि (चावल का एक प्रकार), कोद्रव (कोदो), कङ्कु, मुद्ग (मूँग), माष (उड़द), कुलत्थ (कुलथा) एवं तिल को प्रदक्षिण-क्रम से ईशान से प्रारम्भ करते हुये गर्त में डालना चाहिये।।७-८।।

✵ फेला ✵

तस्योपरि निधातव्यं मञ्जूषं ताम्रनिर्मितम् ।
त्रिचतुर्मात्रविस्ताराद् द्विद्व्यङ्गुलविवर्धनात् ॥९॥

पञ्चषड्विंशमात्रान्तं मानं द्वादश भाजने ।
समोच्चं वाऽष्टषट्पञ्चभागोनं वा तदुच्छ्रयम् ॥१०॥

पेटी—उसके ऊपर ताँबे से निर्मित मञ्जूषा (पेटी, बाक्स) रखना चाहिये। प्रमाण की दृष्टि से यह पात्र चौड़ाई में तीन या चार अंगुल से प्रारम्भ करते हुये दो-दो अंगुल की वृद्धि के साथ पच्चीस-छब्बीस अंगुलपर्यन्त बारह प्रकार का होता है। इसकी ऊँचाई इसकी चौड़ाई के बराबर अथवा आठ, छः या पाँच भाग कम रखनी चाहिये।

एकादिद्वादशान्तानां हर्म्याणामुदितं क्रमात् ।
गृहीतोच्चत्रिभागैकं पादालम्बिविधानकम् ॥११॥

उपर्युक्त माप एक से बारह तलपर्यन्त भवनों के क्रमानुसार वर्णित हैं। (अथवा) पादलम्ब (स्तम्भ) के विधान के अनुसार गृह की ऊँचाई के तीसरे भाग के प्रमाण को ग्रहण करना चाहिये।।११।।

तत्तद्धर्म्याङ्घ्रिविष्कम्भसमं वाष्टांशहीनकम् ।
त्रिपादं वा विशालं तत्फेलायाः प्रागिवोच्छ्रयम् ॥१२॥

अथवा भवन के स्तम्भ के विष्कम्भ (घेरा) से आठ भाग कम मञ्जूषा का माप रखना चाहिये। मञ्जूषा की चौड़ाई फेला (गर्त के तल का मेहराब) का तीन चौथाई भाग या पूर्ववर्णित माप के अनुसार रखना चाहिये।।१२।।

त्रिवर्गमण्डपाकारं वृत्तं वा चतुरस्रकम्।
पञ्चविंशतिकोष्ठं वा नवकोष्ठकमेव वा ॥१३॥

मञ्जूषा की आकृति त्रिवर्ग मण्डप के सदृश, वृत्ताकार अथवा चौकोर होना चाहिये। इसमें पच्चीस कोष्ठ या नौ कोष्ठ होना चाहिये।।१३।।

फेलोच्चार्धत्रिभागैकं कोष्ठभित्त्युच्छ्रयं भवेत्।
तद्भित्तिघनतां कुर्याद् यवैर्द्वित्रिचतुष्टयैः ॥१४॥
उपपीठपदे देवाः पञ्चविंशति सम्मताः।

फेला की ऊँचाई के तीन भाग करने चाहिये। उसके एक भाग के बराबर कोष्ठ की भित्ति की ऊँचाई होनी चाहिये। उस भित्ति की मोटाई दो, तीन या चार यव (विना छिलके वाले यव के मध्य भाग की चौड़ाई) के बराबर रखनी चाहिये। उपपीठ वास्तु-विन्यास पर पच्चीस वास्तुदेवों को स्थापित करना चाहिये।।१४।।

✵ गर्भस्थापनम् ✵

श्वभ्रोर्ध्वभूतलं सर्वं गन्धैः पुष्पैश्च दीपकैः ॥१५॥
वासयित्वा तु पूर्वेद्युः पञ्चगव्यैस्तु भाजनम्।
प्रक्षाल्य सूत्रैरावेष्ट्य शुद्धशाल्यास्तरे शुभे ॥१६॥

नींव में वास्तु-पूजन की सामग्री रखना—जिस दिन गर्भस्थापन का विधान करना हो, उसके एक दिन पूर्व गर्त के ऊपर की (आस-पास की) भूमि को सभी प्रकार के गन्धों से सुवासित कर पुष्पों तथा दीपकों से सुसज्जित करना चाहिये। मञ्जूषापात्र को पञ्चगव्य (गाय का दूध, दही, घी, मूत्र एवं गोबर) से स्वच्छ कर उस पर सूत्र लपेटना चाहिये। इसके पश्चात् भूमि पर शुद्ध शालि का धान बिछाना चाहिये।

स्थण्डिले चण्डितं कृत्वा मण्डूकं वाऽथ तत्परम्।
विन्यस्य देवान् ब्रह्मादीन् श्वेततण्डुलधारया ॥१७॥

उस शालि के आस्तरण पर चण्डित अथवा मण्डूक वास्तुपद का विन्यास कर श्वेत तण्डुल की धारा के द्वारा ब्रह्मा आदि वास्तुदेवों का पदविन्यास करना चाहिये।।१७।।

आराध्य गन्धपुष्पाद्यैर्भुवनाधिपतिं जपेत्।
स्थपतिः कलशान् न्यस्य सर्वान् वस्त्रविभूषितान् ॥१८॥

सुगन्धोदकसम्पूर्णान् गन्धपुष्पसमर्चितान् ।
निष्कलङ्कानसुषिरान् पञ्चपञ्चैव सूत्रितान् ॥१९॥

वास्तु-देवों की पूजा गन्ध एवं पुष्प आदि से करके संसार के स्वामी (शिव) का जप करना चाहिये। इसके पश्चात् पाँच-पाँच कलशों का न्यास करना चाहिये। इन कलशों को वस्त्रों से सजाना चाहिये, उनमें सुगन्धित जल से भरना चाहिये तथा गन्ध एवं पुष्पों से उनकी पूजा करनी चाहिये। इन कलशों को दोषरहित, छिद्ररहित एवं एक सूत्र (एक लाइन) में रक्खा होना चाहिये।।१८-१९।।

तस्य प्रदक्षिणे गन्धशालिस्थण्डिलमण्डले ।
आराध्य गन्धपुष्पाद्यैर्बलिं दत्त्वा यथाविधि ॥२०॥

भाजनाय ततः पात्रं वेष्टयेच्छ्वेतवाससा ।
श्वेतवस्त्रान्तरस्योर्ध्वे न्यसेद् दर्भास्तरे शुचिः ॥२१॥

शालि धान्य के ऊपर निर्मित स्थण्डिल मण्डल के ऊपर प्रदक्षिणक्रम से (पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर) गन्ध एवं पुष्प आदि से वास्तुदेवों को नियमानुसार बलि प्रदान कर एवं उनकी पूजा करने के पश्चात् मञ्जूषा-पात्र को श्वेत वस्त्र से लपेटना चाहिये। उसके ऊपर श्वेत वस्त्र को फैलाना चाहिये एवं उसके ऊपर दर्भ (कुश) बिछाना चाहिये।।२०-२१।।

पीत्वा शुद्धं पयो रात्रावुपोष्याधिवसेत्ततः ।
स्थपतिः शास्त्रवित् प्राज्ञः सूत्रग्राह्यादिसेवितः ॥२२॥

तदनन्तर सूत्रग्राही आदि के द्वारा सम्मानित बुद्धिमान एवं वास्तुशास्त्र के ज्ञाता स्थपति को शुद्ध जल पान कर रात्रि को उपवास करना चाहिये।।२२।।

धान्यादीन्यथ वस्तूनि भाजनाभ्यन्तरे न्यसेत् ।
हेमराजतशुल्बैश्च शालिव्रीहिकुलत्थकान् ॥२३॥

त्रपुणा कङ्गु सीसेन माषो मुद्गोऽयसायसा ।
कोद्रवं च तिलं भाव्यं वैकृन्तेन प्रयत्नतः ॥२४॥

(अगले दिन) मञ्जूषा में प्रयत्नपूर्वक धान्य आदि वस्तुओं को रखना चाहिये। ये पदार्थ हैं—सोने के शालि, चाँदी के व्रीहि, ताँबे के कुलत्थ, राँगे के कङ्गु, सीसे के उड़द, अयस् (लोहे) के मूँग, अयस् के कोदो तथा पारे के तिल।।२३-२४।।

ईशादिषु न्यसेदेतान्यष्टदिक्षु यथाक्रमम् ।
जयन्ते जातिहिङ्गुल्यं हरितालं भृशे मतम् ॥२५॥

उपर्युक्त वस्तुओं को ईशान कोण से प्रारम्भ करते हुये (प्रदक्षिणक्रम से) आठो दिशाओं (एवं कोणों) में रखना चाहिये। इसके पश्चात् जयन्त के पद पर सिन्दूर एवं भृश पर हरिताल रखना चाहिये।।२५।।

मनःशिला च वितथे भृङ्गराजे तु माक्षिकम्।
राजावर्तं तु सुग्रीवे शोषे गैरिकमीरितम्॥२६॥

अञ्जनं गणमुख्ये स्यादुदितौ दरदं विदुः।
मध्यमे पद्मरागं तु मरीचौ विद्रुमं मतम्॥२७॥

सविन्द्रे पुष्परागं तु वैडूर्यं स्याद् विवस्वति।
वज्रमिन्द्रजये विद्यादिन्द्रनीलं तु मित्रके॥२८॥

रुद्रराजे महानीलं मरकतं तु महीधरे।
मुक्तापवत्से मध्यादिपूर्वेण क्रमशो न्यसेत्॥२९॥

वितथ के पद पर मनःशिला (मैनसिल), भृङ्गराज पर माक्षिक (लाल खड़िया), सुग्रीव पर लाजावर्त, शोष पर गेरु, गणमुख्य पर अञ्जन, उदित पर दरद (लाल ताँबा), मध्य भाग पर पद्मराग (रूबी पत्थर), मरीचि पर मूँगा, सविन्द्र पर पुष्पराग, विवस्वान् पर वैदूर्य मणि, इन्द्रजय पर हीरा, मित्र पर इन्द्रनील, रुद्रराज पर महानील, महीधर पर मरकत (पन्ना) एवं आपवत्स पर मोती का स्थापन करना चाहिये। इन सभी पदार्थों को मध्य से प्रारम्भ कर पूर्व क्रम से क्रमानुसार रखना चाहिये।

विष्णुक्रान्ता त्रिशूला श्रीः सहा दूर्वा च भृङ्गकम्।
अपामार्गैकपत्राब्जमीशादिष्वौषधान्न्यसेत् ॥३०॥

उपर्युक्त कोष्ठों में इन ओषधियों को ईशान कोण से प्रारम्भ करते हुये रखना चाहिये—विष्णुक्रान्ता, त्रिशूला, श्री, सहा, दूर्वा, भृङ्गक, अपामार्ग तथा एकपत्राब्ज।।३०।।

चन्दनागरुकर्पूरलवङ्गैलालताफलम्।
तक्कोलेनाष्टगन्धांस्तु जयन्तादिषु विन्यसेत्॥३१॥

जयन्त आदि के कोष्ठों में चन्दन, अगरु, कपूर, लवङ्ग, इलायची, लताफल, तक्कोल एवं इना—इन आठ गन्धयुक्त पदार्थों को रखना चाहिये।।३१।।

स्वस्तिकानि चतुर्दिक्षु हेमायस्ताम्ररूप्यकैः।
सर्वेषामपि सामान्यमेतच्चिह्नैस्तु लक्ष्यते॥३२॥

चारो दिशाओं में सुवर्ण, अयस्, ताम्र एवं रुप्यक (रूपा, चाँदी) द्वारा निर्मित स्वस्तिक रखना चाहिये। सभी देवों के लिये ये सभी सामान्य हैं; किन्तु उनको उनके विशेष चिह्नों से युक्त किया जाता है।।३२।।

* शिवगर्भम् *

कपालशूलखट्वाङ्गं परशुं वृषभं तथा।
पिनाकं हरिणं पाशं हैमं पूर्वादिषु न्यसेत्॥३३॥

शिवालय का शिलान्यास—शिवालय के भूगर्भ में पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर सुवर्ण-निर्मित कपाल, शूल, खट्वाङ्ग, परशु, वृषभ, पिनाक धनुष, हरिण एवं पाश का गर्भन्यास करना चाहिये।।३३।।

कार्तस्वरमयं चाष्टमङ्गलं तत्र पूर्ववत्।
दर्पणं पूर्णकुम्भं च वृषभं युग्मचामरम्॥३४॥

श्रीवत्सं स्वस्तिकं शङ्खं दीपं देवाष्टमङ्गलम्।
स्थापकस्यानुशिष्यस्तान् स्थपतिः क्रमशो न्यसेत्॥३५॥

उपर्युक्त क्रमानुसार ही आठ मंगल पदार्थ रखना चाहिये। दर्पण, पूर्णकुम्भ (जल भरा घट), वृषभ, चामर का जोड़ा, श्रीवत्स, स्वस्तिक, शंख एवं दीप—ये सभी देवों के अष्टमंगल होते हैं। स्थापक के अनुसार स्थपति को इन्हें क्रमशः स्थापित करना चाहिये।।३४-३५।।

आच्छाद्य भाजनं शुभ्रं पिधानेन तु निश्चलम्।
तमेवाराध्य गन्धाद्यैः स्नापयेत् कलशोदकैः॥३६॥

उस पवित्र एवं दृढ़ मञ्जूषापात्र को ढक्कन से ढँक कर उसकी गन्ध आदि से पूजा करे एवं एक कलश के जल से उसे स्नान कराये।।३६।।

विप्रस्वाध्यायघोषैश्च शङ्खभेर्यादिनिःस्वनैः।
कल्याणजयघोषैश्च स्थपतिः स्थापकेन तु॥३७॥

पुष्पकुण्डलहारादिकटकैरङ्गुलीयकैः।
पञ्चाङ्गभूषणैर्हेमनिर्मितैश्च विभूषणैः॥३८॥

हेमयज्ञोपवीतस्तु नववस्त्रोत्तरीयकः।
श्वेतानुलेपनश्चैव सितपुष्पशिराः शुचिः॥३९॥

जिस समय ब्राह्मण वेदमन्त्रों का उच्चारण कर रहे हों, शंख एवं भेरी आदि वाद्यों के स्वर हो रहे हों, कल्याण एवं जय का उद्घोष हो रहा हो, उस समय स्थपति एवं स्थापक को अपने शरीर को पुष्प, कुण्डल, हार, कटक (बाजूबन्द) एवं अंगूठी—इन पञ्चाङ्ग आभूषणों से सुसज्जित करना चाहिये। ये आभूषण सुवर्णनिर्मित होने चाहिये। पवित्र होकर उन्हें सोने का जनेऊ, नया उत्तरीयक (शरीर के ऊपर ओढ़ा जाने

वाला) वस्त्र, श्वेत (चन्दन आदि) का लेप एवं सिर पर श्वेत पुष्प धारण करना चाहिये।।३७-३९।।

ध्यात्वा धरातलं सर्वं दिग्द्विपेन्द्रसमन्वितम्।
ससागरं सशैलेन्द्रमनन्तस्योपरि स्थितम्॥४०॥

(इसके पश्चात्) पृथिवी देवी का ध्यान करना चाहिये। वह दिग्गजों से युक्त हो, सागर एवं पर्वतराज से युक्त हो तथा अनन्त नाग के ऊपर स्थित हो (इस रूप में पृथिवी का ध्यान करना चाहिये)।।४०।।

सृष्टिस्थितिलयाधारं भुवनाधिपतिं जपेत्।
ब्रह्मादीनां च देवानां देवीनां द्वारदक्षिणे॥४१॥

स्तम्भमूले यथायोगं गर्ते गर्भं निधापयेत्।
होमस्तम्भे प्रतिस्तम्भे पादुकाच्च प्रतेरधः॥४२॥

(पृथिवी का ध्यान करने के पश्चात्) सृष्टि, स्थिति एवं विनाश के आधारभूत संसार के स्वामी का जप करना चाहिये। ब्रह्मा आदि देवों एवं देवियों के (मन्दिर के) दक्षिण द्वार के स्तम्भ के मूल में, होमस्तम्भ के नीचे, प्रतिस्तम्भ के नीचे, पादुका से प्रति के नीचे उचित रीति से रखना चाहिये।।४१-४२।।

तस्मादत्युन्नतं निम्नं गर्भं सम्पद्विनाशकृत्।
चतुरस्त्रीकृता सारवृक्षपाषाणनिर्मिता॥४३॥

नियत स्थान से ऊँचा या नीचा गर्भ-स्थापन सम्पत्ति के विनाश का कारण होता है। मञ्जूषा-स्थापन के पश्चात् सार-वृक्ष के काष्ठ या पाषाण-खण्डों से भूमि को चौकोर बनाना चाहिये।।४३।।

पात्रद्विगुणविस्तारा पञ्चाङ्गुलघनान्विता।
प्रतिमाफलका या सा स्थाप्या तद्भाजनोपरि॥४४॥

इस पात्र के ऊपर पात्र का दुगना चौड़ा एवं पाँच अंगुल मोटा प्रतिमाफलक स्थापित करना चाहिये।।४४।।

तदूर्ध्वे स्थापयेत् स्तम्भं संश्लिष्टचतुरिष्टकम्।
सरत्नौषधिभिर्युक्तं वस्त्रपुष्पादिशोभितम्॥४५॥

उसके ऊपर चार ईंटों से जुड़े हुये स्तम्भ की स्थापना करनी चाहिये। वह स्तम्भ रत्न एवं ओषधियों से युक्त हो एवं वस्त्र तथा पुष्प आदि से अलङ्कृत हो।।४५।।

ईशगर्भमिदं प्रोक्तमन्येषां तु प्रवक्ष्यते।

इस प्रकार शिवालय के भू-गर्भ विन्यास की विधि का वर्णन किया गया। अब अन्य मन्दिरों के गर्भ-विन्यास का वर्णन किया जा रहा है।

✻ विष्णुगर्भम् ✻

विष्णुधिष्ण्ये च गर्भं स्याद्धैमं चक्रं तु मध्यमे ॥४६॥
शङ्खकार्मुकदण्डं च रुक्ममायसनन्दकम् ।
धनुः शङ्खं च वामे तु खड्गं दण्डं च दक्षिणे ॥४७॥
प्रमुखे वैनतेयं च स्थापयेद्धेमनिर्मितम् ।

विष्णुमन्दिर का शिलान्यास—विष्णुदेव के भवन में मध्य भाग में सुवर्णनिर्मित चक्र स्थापित करना चाहिये। शङ्ख, धनुष, दण्ड सुवर्ण-निर्मित एवं लोहे की तलवार होनी चाहिये। धनुष एवं शङ्ख वाम भाग में तथा खड्ग एवं दण्ड दक्षिण भाग में होना चाहिये। सामने सोने का गरुड स्थापित करना चाहिये।।४६-४७।।

✻ ब्रह्मगर्भम् ✻

यज्ञोपवीतमोङ्कारं स्वस्तिकाग्निं च हेमजम् ॥४८॥
पद्मं कमण्डलुं चाक्षसूत्रदर्भाश्च ताम्रजाः ।
ब्रह्मासनपदे मध्येऽम्बुरुहं स्थाप्यमेव च ॥४९॥

ब्रह्मा के मन्दिर का शिलान्यास—ब्रह्मा के मन्दिर में जनेऊ, ॐकार, स्वस्तिक एवं अग्नि सुवर्णनिर्मित स्थापित करना चाहिये। पद्म, कमण्डलु, अक्षमाला एवं कुश ताम्रनिर्मित रखना चाहिये। ब्रह्मा के स्थान के मध्य में कमल स्थापित होना चाहिये।

तस्मिन्मध्ये तदोङ्कारं यज्ञसूत्रावृतं तु तत् ।
स्वस्तिकानि चतुर्दिक्षु वामे स्थाप्यं कमण्डलु ॥५०॥

उसके मध्य में जनेऊ से लपेटा हुआ ॐकार, चारो दिशाओं में स्वस्तिक तथा वाम भाग में कमण्डलु स्थापित करना चाहिये।।५०।।

कुशाक्षमालां वामे तु पुरस्तीक्ष्णानलं क्षिपेत् ।
ब्रह्मगर्भमिदं प्रोक्तं ब्रह्मस्थाने प्रतिष्ठितम् ॥५१॥

वाम भाग में कुश एवं अक्षमाला तथा सम्मुख तीक्ष्ण अग्नि स्थापित करनी चाहिये। ब्रह्मस्थान में स्थापित होने वाले ब्रह्मगर्भ का वर्णन इस प्रकार किया गया।।५१।।

✻ षण्मुखगर्भम् ✻

स्वस्तिकं चाक्षमालां च शक्तिं चक्रञ्च कुक्कुटम् ।
मयूरं चैव सौवर्णमयसा शक्तिमध्यमे ॥५२॥

वामे च कुक्कुटं दद्याद् दक्षिणे च मयूरकम्।
अक्षसूत्रं पुरः स्थाप्यं गर्भं षण्मुखसद्मनि ॥५३॥

कार्त्तिकेय-मन्दिर का शिलान्यास—षण्मुख (कार्त्तिकेय) के मन्दिर के गर्भ में सुवर्णमय स्वस्तिक, अक्षमाला, शक्ति, चक्र, कुक्कुट (मुर्गा) एवं मोर तथा लोहे की शक्ति मध्य भाग में स्थापित करनी चाहिये। वाम भाग में कुक्कुट एवं दाहिने भाग में मोर रखना चाहिये। अक्षरमाला को सम्मुख स्थापित करना चाहिये।।५२-५३।।

अम्बुजं चाङ्कुशं पाशं सिंहं सवितृधामके।
वज्रेभं नन्दकं चक्रं चामरं धाम्नि वज्रिणः ॥५४॥

अन्य देवों के लिये गर्भन्यास की सामग्री—सवितृ देवता के भवन में कमल, अंकुश, पाश एवं सिंह तथा इन्द्र के भवन में वज्र, गज, तलवार एवं चामर स्थापित करना चाहिये।।५४।।

जाम्बूनदमयं मेषं शक्तिं पावकधामनि।
अयसा महिषं पाशं हेमजं यमधामनि ॥५५॥

अग्नि के भवन में सुवर्णनिर्मित मेष एवं शक्ति तथा यम के भवन में लोहे का महिष एवं सुवर्णमय पाश स्थापित करना चाहिये।।५५।।

अयसा नन्दकं गर्भं निर्ऋतेस्तु विमानके।
वरुणे मकरं पाशं लोहजं हेमजं तथा ॥५६॥

निर्ऋति के भवन में लोहे की तलवार तथा वरुण के भवन में लोहे का मकर एवं सुवर्णमय पाश गर्भस्थान में रखना चाहिये।।५६।।

वायोः कृष्णमृगं हैमं व्यालं तारापतेः क्षिपेत्।
नरवाहे नरः प्रोक्तो मकरो मदनालये ॥५७॥

गर्भन्यास में वायु के भवन में कृष्ण वर्ण का मृग तथा तारापति (चन्द्रमा) के भवन में सुवर्णनिर्मित व्याल स्थापित करना चाहिये। कुबेर के भवन में मनुष्य (की प्रतिमा) एवं मदन (कामदेव) के भवन में मकर स्थापित करना चाहिये।।५७।।

टङ्कं दन्ताक्षमाला च विघ्नेशावासगर्भके।
ओङ्कारं वक्रदण्डं च सौवर्णं चार्यकस्य तु ॥५८॥

विघ्नेश (गणेश) के भवन के गर्भ में कुठारदन्त (गजदन्त) एवं अक्षमाला स्थापित करनी चाहिये। आर्यक के भवन में सुवर्णनिर्मित टेढ़ा दण्ड एवं ओम् स्थापित करना चाहिये।।५८।।

अश्वत्थं करकं सिंहं छत्रं स्वर्णेन कारयेत्।
अश्वत्थः पुरतः स्थाप्यश्छत्रं तस्योपरि स्थितम् ॥५९॥

कुण्डिकापरभागे तु केसरी दक्षिणे भवेत्।
सौगते धामके गर्भं श्रीवत्साशोकसिंहकम् ॥६०॥

सुगत के भवन के गर्भन्यास के लिये सोने के पीपल, करक (कमण्डलु), सिंह एवं छत्र निर्मित कराना चाहिये। सामने के भाग में अश्वत्थ (पीपल) स्थापित करना चाहिये एवं उसके ऊपर छत्र स्थापित करना चाहिये। वाम भाग में कुण्डिका (कमण्डलु) एवं दाहिने भाग में केसरी (सिंह) तथा गर्भ में श्रीवत्स, अशोक एवं सिंह स्थापित करना चाहिये।।५९-६०।।

कमण्डल्वक्षमाला च शिखिपिच्छं तु हेमजम्।
त्रिच्छत्रं करकं तालवृन्तं रुक्ममयं भवेत् ॥६१॥

(श्रीवत्स, अशोक एवं सिंह के अतिरिक्त) कमण्डलु, अक्षमाला एवं मोर का पंख सुवर्णमय तथा त्रिच्छत्र, करक एवं तालवृन्त (ताल का पंखा) सोने से निर्मित होना चाहिये।।६१।।

वृक्षस्तु पुरतः स्थाप्यश्छत्रं तस्योपरि स्थितम्।
पिच्छं दक्षिणभागेऽक्षमाला वामे तु कुण्डिका ॥६२॥

(जिनमन्दिर में) वृक्ष को सम्मुख, उसके ऊपर छत्र स्थापित करना चाहिये। मोर-पंख को दाहिने भाग में एवं वामभाग में कुण्डिका (कमण्डलु) के साथ अक्षमाला स्थापित करनी चाहिये।।६२।।

श्रीरूपं मध्यमे स्थाप्यं केसरीं तत्र विन्यसेत्।
अपरे करकं तालवृन्तं गर्भो जिनालये ॥६३॥

जिन-मन्दिर में श्रीरूप को गर्भ के मध्य में स्थापित करना चाहिये एवं सिंह को भी वहीं स्थापित करना चाहिये। करक एवं तालवृन्त को उसके बाये स्थापित करना चाहिये।।६३।।

शुकं चक्रं च हैमं तु सिंहं शङ्खं च राजतम्।
मृगं ताम्रमयश्चैव कृष्णलोहेन नन्दकम् ॥६४॥

एवं दुर्गाविमाने तु गर्भं कुर्याद् विचक्षणः।
खट्वाङ्गं नन्दकं शक्तिं क्षेत्रपालस्य हेमजम् ॥६५॥

बुद्धिमान (स्थपति) को दुर्गा-मन्दिर के गर्भ-विन्यास में शुक एवं चक्र सुवर्ण-

निर्मित, सिंह एवं शंख रजत-निर्मित, मृग ताम्र-निर्मित तथा तलवार लोहा-निर्मित स्थापित करना चाहिये। क्षेत्रपाल के मन्दिर के गर्भ-विन्यास में सुवर्णनिर्मित खट्वाङ्ग, तलवार एवं शक्ति स्थापित करनी चाहिये।।६४-६५।।

पद्मं लक्ष्म्याः सरस्वत्या ओङ्कारं च त्रिवर्णकम्।
ध्वाङ्क्षकेतूत्पलं हैमं ज्येष्ठाकोष्ठस्य गर्भके ॥६६॥

सुवर्णपद्म लक्ष्मी-मन्दिर में, तीन वर्ण का ॐकार सरस्वती-मन्दिर में तथा ज्येष्ठा के मन्दिर में सुवर्णनिर्मित काक, केतु एवं कमल गर्भ में स्थापित करना चाहिये।।६६।।

कपालशूलघण्टाभिः प्रेतान् कालीगृहे न्यसेत्।
हंसोक्षशिखिताक्ष्यांश्च सिंहेभप्रेतरूपकान् ॥६७॥

जाम्बूनदमयान् मातृकोष्ठकेषु निधापयेत्।
पद्माक्षसूत्रकं दीपं रोहिणीगृहगर्भके ॥६८॥

काली-मन्दिर के गर्भविन्यास में कपाल, शूल एवं घण्टों के साथ प्रेतों को स्थापित करना चाहिये। मातृकाओं के भवन के गर्भ में हंस, वृषभ, मयूर, गरुड़, सिंह, गज एवं प्रेतों की सुवर्ण-प्रतिमायें स्थापित करनी चाहिये। रोहिणी के मन्दिर के गर्भ में पद्म, अक्षसूत्र एवं दीप स्थापित करना चाहिये।।६७-६८।।

दर्पणं चाक्षमालां च पार्वतीभवने विदुः।
पद्माक्षसूत्रकं पूर्णकुम्भं मोहिनिधामनि ॥६९॥

पार्वती-मन्दिर के गर्भ में दर्पण एवं अक्षमाला तथा मोहिनी-मन्दिर में पद्म, अक्षमाला एवं पूर्ण-कुम्भ स्थापित करना चाहिये।।६९।।

छत्रध्वजपताकाश्च सचिह्नैः सह वाहनैः।
अनुक्तानां च देवानां देवीनां गर्भमिष्यते ॥७०॥

जिन देवी एवं देवों का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है, उनके मन्दिर के गर्भ में उनके विशिष्ट चिह्न एवं वाहन के साथ छत्र, ध्वज एवं पताका स्थापित करनी चाहिये।।७०।।

✷ मानुषहर्म्यगर्भकम् ✷

द्विजातीनां तु वर्णानां जातिगर्भो विधीयते।
करकं दन्तकाष्ठं च शुल्बं हेममयं भवेत् ॥७१॥

मनुष्य के भवन का शिलान्यास—द्विजन्मा वर्ण वालों के भवन के गर्भ में

जिन वस्तुओं का विन्यास होता है, उनका वर्णन किया जा रहा है। उनमें करक तथा दन्तकाष्ठ ताम्रमय एवं सुवर्णमय होता है।।७१।।

यज्ञोपवीतं यज्ञाग्निं यज्ञभाण्डं च राजतम्।
यज्ञोपवीतमध्यस्थं यज्ञभाण्डं च दक्षिणे ॥७२॥

यज्ञोपवीत (जनेऊ), यज्ञाग्नि एवं यज्ञपात्र रजत-निर्मित होते हैं। यज्ञोपवीत गर्भ के मध्य में तथा यज्ञपात्र उसके दाहिने होना चाहिये।।७२।।

वामे तु करकं काष्ठमनलं पुरतो भवेत्।
विप्रगर्भमिदं प्रोक्तं स्वस्तिकानि चतुर्दिशि ॥७३॥

यज्ञोपवीत के वाम भाग में करक तथा दन्त-काष्ठ एवं यज्ञाग्नि सम्मुख होना चाहिये। चारो दिशाओं में स्वस्तिक होने चाहिये। ब्राह्मण के गृह का गर्भ-विन्यास इस प्रकार वर्णित है।।७३।।

मध्ये हेममयं चक्रं वामे शङ्खं च राजतम्।
कार्मुकं ताम्रजं वामे दण्डो रुक्मेण दक्षिणे ॥७४॥

(क्षत्रिय के गृह का गर्भ-विन्यास इस प्रकार होना चाहिये—) मध्य में सुवर्णमय चक्र, उसके वाम भाग में रजत-निर्मित शंख एवं ताम्रनिर्मित धनुष होना चाहिये। चक्र के दक्षिण भाग में सोने का दण्ड होना चाहिये।।७४।।

खड्गं चायसमेव स्याच्चतुर्नागाश्चतुर्दिशि।
हैममायसकं ताम्रं राजतं क्रमशो न्यसेत् ॥७५॥

दक्षिण भाग में ही लोहे का खड्ग तथा चारो दिशाओं में चार गज होने चाहिये। ये क्रमशः सुवर्ण, लोहा, ताँबा एवं रजत-निर्मित हों।।७५।।

मध्ये श्रीरूपकं हैमं स्वस्तिकानि चतुर्दिशि।
छत्रध्वजपताकाश्च दण्डं वै शासनात्मकम् ॥७६॥

मध्य भाग में सुवर्णनिर्मित श्रीरूपक एवं चारो दिशाओं में स्वस्तिक तथा छत्र, ध्वज, पताका एवं दण्ड निश्चित रूप से होना चाहिये। यह गर्भ-न्यास राजा के गृह के लिये होता है।।७६।।

राजद्वारे भवेद् गर्भमन्येषां तु यथार्हकम्।
वार्ष्णेयकानां गर्भं चेद् विजयद्वारदक्षिणे ॥७७॥

ये सभी गर्भ-न्यास राजभवन के द्वार के स्थान पर होने चाहिये। अन्य क्षत्रियों के गृहों में उचित स्थान पर होना चाहिये। यदि राजा 'वार्ष्णेयक' श्रेणी का हो तो यह गर्भ-न्यास विजयद्वार के दक्षिण ओर होना चाहिये।।७७।।

अयसा हलजिह्वां च शङ्खं ताम्रकुलीरकम्।
पञ्चायुधं सीसमाषं हयं वृषगजौ हरिम् ॥७८॥

(वैश्य-गृहों का गर्भ-न्यास इस प्रकार होना चाहिये—) लोहे से निर्मित हल का अग्र भाग (जिह्वा) एवं शंख तथा ताँबे से निर्मित केकड़ा, (विष्णु के) पाँच अस्त्र एवं उड़द सीसा (लेड) से निर्मित होना चाहिये। इनके अतिरिक्त अश्व, वृष, गज एवं सिंह होना चाहिये।।७८।।

अर्काग्निवरुणेन्दूनां स्थाने सम्यङ् निवेशयेत्।
चत्वारो धेनुकाः श्वेतनिर्मिताश्च चतुर्दिशि ॥७९॥
गोपुङ्गवं च पुरतो वैश्यानां प्रविधीयते।

इन्हें सूर्य, अग्नि, वरुण एवं सोम के स्थान पर भली-भाँति स्थापित करना चाहिये। श्वेत वर्ण (रजत) से निर्मित चार गायों को चारो दिशाओं में स्थापित करना चाहिये। वृष को वैश्यों के भवन के गर्भ में सामने रखना चाहिये।।७९।।

बीजपात्रं हलं हैमं ताम्रजं युगमिष्यते ॥८०॥
रजतेन पशुं विद्याच्चतुर्दिक्षु विनिक्षिपेत्।
मध्ये गोपुङ्गवं चैव तन्निरीक्ष्य युगं पुनः ॥८१॥

(शूद्र के गृह का गर्भ-विन्यास इस प्रकार वर्णित है—) बीजपात्र, सोने का हल एवं ताँबे का युग (हल का जुआ) होना चाहिये। चारो दिशाओं में चाँदी से निर्मित पशु (गाय) रखना चाहिये एवं मध्य में वृष होना चाहिये, जिसके सामने जुआ रक्खा होना चाहिये।।८०-८१।।

हलं दक्षिणभागे तु वामांशे बीजपात्रकम्।
बीजं हिरण्मयं शूद्रगर्भं वैश्ये च सम्मतम् ॥८२॥

वृष के दाहिने भाग में हल एवं बाँयें भाग में बीज का पात्र होना चाहिये। बीजों को सुवर्ण-निर्मित होना चाहिये। शेष गर्भ-न्यास शूद्रों के भवन के गर्भ में उसी प्रकार होना चाहिये, जिस प्रकार वैश्यों के गृह में वर्णित हैं।।८२।।

गृहाणां गृहगर्भं च जातिगर्भं विमिश्रितम्।
अनेकभूमियुक्तानि यानि वासगृहाणि च ॥८३॥

सामान्य भवनों के गृहों के गर्भ-न्यास एवं जाति-विशेष के गृहों के गर्भ-न्यास को उस भवन में मिश्रित कर दिया जाता है, जो अनेक तल वाले होते हैं।।८३।।

पुष्पदन्ते च भल्लाटे महेन्द्रे च गृहक्षते।
दक्षिणे नेत्रभित्तौ तु सौम्यादौ तु चतुर्गृहे ॥८४॥

उत्तर आदि चारो दिशाओं के मुख वाले गृहों में भिति के नेत्र (गृह का द्वार) के दाहिने भाग में पुष्पदन्त (पश्चिम दिशा), भल्लाट (उत्तर दिशा), महेन्द्र (पूर्व दिशा) एवं गृहक्षत (दक्षिण दिशा) के पद पर गर्भ-न्यास करना चाहिये।।८४।।

द्वारप्रदक्षिणे स्तम्भे योगे वाऽपि विधीयते।
स्थाली तदुपधानं च दार्विकं तण्डुलं खजम् ।।८५।।
गलक्यं दन्तकाष्ठाग्निं कृष्णं लोहं महानसे।

रसोई के गर्भ-न्यास में द्वार के दाहिने भाग में अथवा स्तम्भ के नीचे स्थाली (पकाने का पात्र), उसका ढक्कन, करछुल, चावल, मथानी, चलनी, दाँत साफ करने का काष्ठ (दतुअन या दातौन) तथा अग्नि की लौह-निर्मित प्रतिमा रखनी चाहिये।।८५।।

दक्षिणे भवने गर्भः कुम्भः शाल्युदपूरितः ।।८६।।
धनसद्मनि गर्भस्तु सार्गलं कुञ्चिकं भवेत्।
पर्यङ्कदीपशयनं गर्भं विद्यात् सुखालये ।।८७।।

रसोई के दाहिनी ओर के कक्ष में शालि (चावल) से भरा कुम्भ गर्भ में स्थापित करना चाहिये। धन-कक्ष के गर्भ-न्यास में चाभी एवं अर्गला होनी चाहिये। सुखालय (विश्राम-गृह) के गर्भ में पलंग, दीपक एवं शयन (आसन) स्थापित करना चाहिये।

येन यत् कर्म निष्पाद्यं तेन तद्गृहगर्भकम्।
यानि यस्य स्वचिह्नानि तानि तस्य निधापयेत् ।।८८।।

जिन सामाग्रियों से जिन कार्यों को सम्पन्न किया जाता है, उन सामग्रियों को उनके कक्षों के गर्भ में स्थापित करना चाहिये। जो जिनके प्रतीक हों, उन चिह्नों को उसके गर्भ में स्थापित करना चाहिये।।८८।।

सभाप्रपामण्डपेषु कर्णपादे प्रदक्षिणे।
द्वितीयस्तम्भके द्वारदक्षिणाङ्घ्रौ तु वा न्यसेत् ।।८९।।

सभागार, प्रपा (प्याऊ) एवं मण्डपों में दक्षिणी कोने के स्तम्भ अथवा दूसरे स्तम्भ या द्वार के दाहिने स्तम्भ के नीचे गर्भ-स्थापन करना चाहिये।।८९।।

अयोमयगजो गर्भः कृष्णलोहेन कोद्रवः।
लक्ष्मीं सरस्वतीं हेमां पात्रमध्ये तु विन्यसेत् ।।९०।।

उपर्युक्त भवन-निर्माण में गर्भ-विन्यास हेतु लोहे का गज, कोदो (अन्न-विशेष), सुवर्ण-निर्मित लक्ष्मी एवं सरस्वती को पात्र के मध्य में रखना चाहिये।।९०।।

गर्भो नाट्यसभायां च प्रक्षिपेत् कुटिकामुखे।
मण्डितस्तम्भमूले वाऽप्युभयोरपि चेष्यते ।।९१।।

नाट्य-गृह का गर्भविन्यास कुटिकामुख या मण्डितस्तम्भ के मूल में अथवा दोनों स्थानों पर करना चाहिये।।९१।।

आतोद्यानि च सर्वाणि सर्वलोहमयानि च।
श्रीवत्सं पङ्कजं पूर्णकुम्भं हेमजमिष्यते ।।९२।।

नाट्य-गृह के गर्भ-विन्यास में सभी प्रकार के धातुओं से निर्मित सभी वाद्य-यन्त्र रखना चाहिये। श्रीवत्स, कमल तथा पूर्ण कुम्भ सोने से निर्मित होना चाहिये।।९२।।

हेमगर्भसभागर्भो द्वारस्तम्भे विधीयते।
पूर्वोक्ते कर्णपादे वा गर्भस्थानं तु तस्य वै ।।९३।।

सभागार के गर्भ-स्थापन में (पूर्वोक्त) सुवर्ण-निर्मित पदार्थों को रखना चाहिये। गर्भ-स्थापन सभागार के द्वार अथवा स्तम्भ के नीचे अथवा कोण में स्थित स्तम्भ के मूल में करना चाहिये।।९३।।

तुलाभाराभिषेकार्थं मण्डपे वाऽथ तद् भवेत्।
पाषण्ड्याश्रमिणां वासे तत्तच्चिह्नं तु गर्भकम् ।।९४।।

उपर्युक्त हेम-गर्भ का स्थापन तुलाभार एवं अभिषेक मण्डप (राजभवन के विशिष्ट अवसरों पर प्रयोग होने वाले मण्डप) में भी होता है। पाखण्डी (विधर्मी) लोगों के आवास में उनके चिह्नों को भवन के गर्भ में स्थापित करना चाहिये।।९४।।

जात्यन्तराणां सर्वेषां तत्तच्चिह्नं प्रयोजयेत्।
गृहिणी गर्भिणी कर्तुर्यदि गर्भं न निक्षिपेत् ।।९५।।

(चारो वर्णों से पृथक्) अन्य जाति वालों के आवास में उनके विशिष्ट चिह्नों को भवन-गर्भ में स्थापित करना चाहिये। यदि भवन के स्वामी की पत्नी गर्भवती हो तो उसे भवनगर्भ का स्थापन नहीं करना चाहिये।।९५।।

रत्नानि धातवश्चैव स्वल्पविस्तारभाजने।
तद्दैवस्थानभावज्ञैर्न्यस्तव्यानीह तानि वै ।।९६।।

छोटे पात्र (गर्भ में स्थापित होने वाली मञ्जूषा) में वास्तु-देवों के स्थानों के ज्ञाता को देवों के अनुरूप रत्न एवं धातुओं को यथोचित विधि से रखना चाहिये।।९६।।

द्वारप्रदक्षिणे स्थाने स्वामिस्थानस्य दक्षिणे।
अभ्यन्तरमुखं गर्भं वस्तुमध्यं बहिर्मुखम् ।।९७।।

पात्र को द्वार के दक्षिण भाग में या गृहस्वामी के कक्ष के दाहिने भाग में स्थापित करना चाहिये। (सामान्यतया) इस पात्र का मुख भवन के भीतरी भाग की ओर होना

चाहिये; किन्तु मञ्जूषा भवन के मध्य भाग में स्थापित हो तो उसका मुख बाहर की ओर होना चाहिये।।९७।।

✹ गर्भमन्त्रः ✹

इदं मन्त्रं समुच्चार्य प्राङ्मुखो वाऽप्युदङ्मुखः ।
पूर्वोक्तविधिना सम्यक् स्थापयेत् स्थपतिः क्रमात् ॥९८॥

शिलान्यास का मन्त्र—मूलोक्त मन्त्र का उच्चारण करते हुये पूर्वाभिमुख अथवा उत्तरमुख होकर स्थपति को पूर्व-वर्णित विधि से क्रमशः विधिवत् भवन का गर्भ स्थापित करना चाहिये।।९८।।

अयं मन्त्रः—

स्वरदेवताभ्यो मन्त्रेभ्यः स्वाहा । सर्वरत्नाधिपतये स्वाहा । उत्तमप्रजापतये सत्यवादिने नमः । श्रियै नमः । सरस्वत्यै नमः । वैवस्वताय नमः । वज्रपाणये नमः । अभिनवसर्वविघ्नप्रशमनाय नमः । नमो वह्नये स्वाहा ॥

मन्त्र इस प्रकार है—मन्त्रों एवं स्वर के देवता के लिये स्वाहा। सभी रत्नों के अधिपति के लिये स्वाहा। उत्तम एवं सत्यवादी प्रजापति के लिये स्वाहा। लक्ष्मी को प्रणाम। सरस्वती को प्रणाम। विवस्वान् को प्रणाम। वज्रपाणि को प्रणाम। सभी विघ्नों के विनाशक अभिनव को प्रणाम। अग्नि को प्रणाम एवं स्वाहा।

✹ वाप्यादिगर्भः ✹

वापीकूपतटाके तु दीर्घिकासेतुबन्धने ।
मत्स्यमण्डूककुलिरं सर्पं वै शिंशुमारकम् ॥९९॥

हेमजं तदुदग्भागे पूर्वायां दिशि वाथवा ।
पुरुषाञ्जलिमात्रे तु श्वभ्रे पात्रं निधापयेत् ॥१००॥

बावड़ी आदि का शिलान्यास—वापी (बावड़ी), कूप, तालाब, दीर्घिका (लम्बा सरोवर, जलाशय) एवं पुल के निर्माण में गर्भ-स्थापन हेतु स्वर्ण-निर्मित मछली, मेढक, केकड़ा, सर्प एवं सूँस को पात्र में रखकर उत्तर दिशा या पूर्व दिशा में एक पुरुष की अञ्जली के माप के गड्ढे में स्थापित करना चाहिये।।९९-१००।।

✹ प्रथमेष्टका ✹

सुमुहूर्ते सुलग्ने च होराकरणसंयुते ।
रात्रौ गर्भमहन्येव स्थापयेच्चतुरिष्टकम् ॥१०१॥

शिलान्यास की प्रथम ईंट-स्थापना—भवन के गर्भ का स्थापन शुभ मुहूर्त,

लग्न एवं होरा से युक्त रात्रि में करना चाहिये तथा शुभ मुहूर्त, लग्न एवं होरा से युक्त दिन में चार ईंटों की स्थापना करनी चाहिये।।१०१।।

यद्यत् स्थानं तु गर्भस्य तत्रस्था प्रथमेष्टका।
मृत्कन्दधान्यसल्लोहधातुरत्नौषधैः सह ॥१०२॥

जिस-जिस स्थान पर गर्भ-स्थापन किया गया हो, वहाँ प्रथम ईंट मृत्तिका, जड़, अन्न, धातु, रत्न एवं ओषधियों के साथ स्थापित करनी चाहिये।।१०२।।

गन्धद्रव्यैश्च बीजैश्च विधेया प्रथमेष्टका।
शैले शिलामयी प्रोक्ता चैष्टके चेष्टकाः शुभाः ॥१०३॥

(इनके अतिरिक्त) गन्धयुक्त पदार्थों एवं बीजों के साथ प्रथम ईंट का न्यास करना चाहिये। प्रस्तर से निर्मित होने वाले भवन में प्रस्तरमयी शिला एवं ईंट से निर्मित होने वाले भवन में इष्टका का न्यास करना चाहिये।।१०३।।

गर्भभाजनविस्तारा विस्तारद्विगुणायता।
विपुलार्धघना सर्वहर्म्यके चतुरिष्टका ॥१०४॥

गर्भ में रक्खी जाने वाली मञ्जूषा के बराबर चौड़ी, चौड़ाई से दुगुनी लम्बी एवं चौड़ाई की आधी मोटी चारों इष्टकायें होनी चाहिये। इष्टका का यह प्रमाण सभी भवनों के लिये होता है।।१०४।।

अष्टौ द्वादश वा ग्राह्या मध्यमे तु महत्तरे।
ऋजुदीर्घाङ्गुलिन्यासा समसंख्या हि पुंस्त्वभाक् ॥१०५॥

मध्यम एवं उससे बडे आकार के ईंट आठ या बारह होने चाहिये। पुरुष-इष्टकाओं की लम्बाई सीधी होनी चाहिये एवं उनका माप सम संख्या वाली अंगुलियों से रखना चाहिये।।१०५।।

स्त्रीत्वभागोजसंख्या सा वक्ररेखं नपुंसकम्।
सुस्निग्धाः समदग्धाश्च सुस्वनास्ताः सुशोभनाः ॥१०६॥

स्त्री-इष्टकाओं की लम्बाई का माप विषम संख्या में होना चाहिये तथा नपुंसक इष्टकाओं की रेखा वक्र होनी चाहिये। ईंटों को स्पर्श में चिकना, अच्छी प्रकार पका हुआ, (ठोकने पर) सुन्दर स्वर से युक्त एवं देखने में सुन्दर होना चाहिये।।१०६।।

पुंस्त्रीनपुंसके हर्म्ये योजयेत् ता यथाक्रमम्।
यथा जाता पुरा तत्र स्थापनीया तथा भवेत् ॥१०७॥

पुरुष, स्त्री एवं नपुंसक इष्टकाओं का भवन में प्रयोग क्रमानुसार करना चाहिये।

जैसा पहले प्राप्त होता है, उसी प्रकार उनकी स्थापना करनी चाहिये।।१०७।।

शिला दोषविनिर्मुक्ता बिन्दुरेखादिवर्जिता ।
आदावेव तु कर्तव्या झषाले प्रथमेष्टका ॥१०८॥

प्रथमेष्टका को दोषहीन तथा बिन्दु एवं रेखाओं (अप्रशस्त चिह्नों) से रहित होना चाहिये तथा प्रारम्भ में ही झषाल स्तम्भ के नीचे स्थापित करना चाहिये।।१०८।।

निखाताङ्घ्रौ विमाने तु न्यस्तव्या गर्भमूर्धनि ।
तत्पूर्वदक्षिणे पूर्वं त्रिकोणेषु प्रदक्षिणम् ॥१०९॥

विमान (मन्दिर) में निखात स्तम्भ के नीचे एवं गर्भन्यास के ऊपर इष्टका रखनी चाहिये। उन्हें पूर्व-दक्षिण से (प्रारम्भ कर) प्रदक्षिणक्रम से तीनों कोणों (दक्षिण-पश्चिम, उत्तर-पश्चिम एवं उत्तर-पूर्व) में स्थापित करना चाहिये।।१०९।।

देवादीनां द्विजातीनां स्थापयेत् स्थपतिः क्रमात् ।
केचिच्छ्वभ्रस्य गम्भीरे पञ्चद्व्यंशावसानके ॥११०॥

देवों एवं ब्राह्मणों के भवन में इष्टका-स्थापन पूर्वोक्त क्रम से होना चाहिये। कुछ विद्वानों के अनुसार गर्त की गहराई विस्तार के २/५ भाग (से अधिक) नहीं होनी चाहिये।।११०।।

इष्टकादिचिते खाते वदन्ति प्रथमेष्टकाम् ।
पूर्ववद् वरवेषाढ्यो युक्त्या तत्र निधापयेत् ॥१११॥

इष्टकाओं के चयन से तैयार गर्त में सुन्दर वेष धारण कर प्रथम इष्टका को पूर्ववर्णित विधि से स्थापित करना चाहिये।।१११।।

रूपाण्यप्यौषधानि द्युतिमणिकनकाद्यष्टलोहानि धातून्
पात्रे न्यस्याञ्जनादीन् शुभयुतदिनपक्षर्क्षहोरामुहूर्ते ।
मृत्कन्दान्यष्टधान्यानि च निशि मतिमान् श्वभ्रमूले निधाय
क्षिप्त्वा पात्राय युक्त्या बलिमथ सलिले स्थापयेद् गर्भमादौ ॥११२॥

शुभ दिन, पक्ष, नक्षत्र, होरा एवं मुहूर्त प्राप्त होने पर प्रथमतः गर्भ में रक्खे जाने वाले पात्र में मूर्तियाँ, वनस्पतियाँ, मणि, सुवर्ण आदि अष्टधातु तथा वर्णों; यथा—अञ्जन आदि को रखना चाहिये। रात्रि में मृत्तिका, जड़ एवं आठ प्रकार के अन्नों को गर्त के मूल में रखना चाहिये। (अगले दिन प्रातः) गर्भ-स्थापन की मञ्जूषा के लिये बलि-कर्म करने के पश्चात् गर्त में जल के भीतर गर्भ-स्थापन करना चाहिये।।११२।।

अमरनरविमानद्वारयोगाङ्घ्रिमूले
विधिवदविकलाङ्गं गर्भमादौ निधाय ।

तदुपरि विधिनास्मिन् योगमङ्घ्रिं च पूर्वं
सकलविभवयुक्तं स्थापयेद् गर्भमूर्ध्नि ॥११३॥

देवों के एवं मनुष्यों के भवन में द्वार एवं स्तम्भ के मूल में विधिपूर्वक अविकलाङ्ग (सम्पूर्ण अङ्गों के सहित) प्रारम्भ में गर्भ-स्थापन करना चाहिये। इसी के ऊपर स्तम्भ आदि का निर्माण करना चाहिये। गर्भ-स्थल के ऊपर सम्पूर्ण वैभव से युक्त स्तम्भ आदि को विधि-विधानपूर्वक स्थापित करना चाहिये।।११३।।

पञ्चपञ्चकलशोदकपूतौ श्वेतचन्दननवाम्बरयुक्तौ ।
सर्वमङ्गलविचित्रतरौ तौ स्थापयेत्स्थपतिरङ्घ्रिकयोगौ ॥११४॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे गर्भविन्यासो
नाम द्वादशोऽध्यायः

द्वार-योग एवं स्तम्भ को पच्चीस कलशों के जल से पवित्र करना चाहिये। इन्हें श्वेत चन्दन एवं नवीन वस्त्र से युक्त करना चाहिये एवं सभी मङ्गल पदार्थों से युक्त करने के पश्चात् स्थपति को स्तम्भ एवं द्वार-योग को स्थापित करना चाहिये।।११४।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

गर्भविन्यास की चर्चा मानसार (अ. १२), ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (क्रिया.-२७), शिल्परत्न (अ. १७) में विस्तार से प्राप्त होती है।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

(उपपीठविधानम्)

अधिष्ठानस्य चाधस्तादुपपीठं प्रयोजयेत् ।
रक्षार्थमुन्नतार्थं च शोभार्थं तत् प्रवक्ष्यते ॥१॥

उपपीठ-विन्यास—उपपीठ का निर्माण अधिष्ठान के नीचे होता है। यह भवन की रक्षा, ऊँचाई एवं शोभा के लिये होता है।।१।।

समं त्रिपादमर्धं वा पञ्चांशद्व्द्व्यंशमेव वा ।
सपादं वाऽथ सार्धं वा पादोनद्विगुणं तु वा ॥२॥

उपपीठ का प्रमाण अधिष्ठान के बराबर (ऊँचाई), तीन चौथाई, आधा, पाँच भाग में से दो भाग के बराबर, सवा भाग, डेढ़ भाग अथवा दुगुने से चतुर्थांश कम होना चाहिये।।२।।

द्विगुणं वा प्रकर्तव्यमात्ताधिष्ठानतुङ्गतः ।
उत्सेधे दशभागे तु एकेनैकेन वर्धनात् ॥३॥

अथवा उपपीठ को अधिष्ठान की ऊँचाई का दुगुना रखना चाहिये। ऊँचाई के दस भाग करने चाहिये तथा एक-एक भाग की वृद्धि करनी चाहिये।।३।।

पञ्चांशान्तमधिष्ठानजन्माद् बाह्ये तु निर्गमम् ।
दण्डं वा सार्धदण्डं वा द्विदण्डं वा त्रिदण्डकम् ॥४॥

(एक-एक भाग से वृद्धि करते हुये) पाँचवें भाग तक निर्माण करना चाहिये। अथवा अधिष्ठान के प्रारम्भ से बाह्य भाग में (अधिष्ठान से बाहर की ओर निकला हुआ) एक दण्ड, डेढ़ दण्ड, दो दण्ड अथवा तीन दण्ड माप का निर्गम निर्मित करना चाहिये।।४।।

अधिष्ठानजगत्या वा समं तत्पादबाह्यकम् ।
वेदिभद्रं प्रतिभद्रं सुभद्रं च त्रिधा मतम् ॥५॥

उपपीठ को अधिष्ठान अथवा जगती के बराबर भी निर्मित किया जाता है। उपपीठ तीन प्रकार के होते हैं—वेदिभद्र, प्रतिभद्र एवं सुभद्र।।५।।

✵ वेदिभद्रम् ✵

उच्छ्रये भानुभागे तु द्व्यंशेनोपानमीरितम् ।
पद्ममंशं तदूर्ध्वेऽर्धं क्षेपणं पञ्चभागिकम् ॥६॥
ग्रीवमर्धेन कम्पं स्याद् भागैकेनाम्बुजं भवेत् ।
शेषांशं वाजनं कम्पमष्टाङ्गमुपपीठकम् ॥७॥

(वेदिभद्र उपपीठ दो प्रकार के होते हैं—आठ अङ्ग वाले एवं छः अङ्ग वाले। इनका वर्णन इस प्रकार है—) उपपीठ की ऊँचाई को बारह भागों में बाँटना चाहिये। दो भाग से उपान, एक भाग से पद्म, उसके ऊपर आधे भाग से क्षेपण, पाँच भाग से ग्रीव, आधे से कम्प, एक भाग से अम्बुज तथा शेष भाग से वाजन एवं कम्प का निर्माण करना चाहिये। इस प्रकार उपपीठ के आठ अङ्ग होते हैं।।६-७।।

षडङ्गं वा विधातव्यमूर्ध्वाधस्ताद् विनाम्बुजम् ।
वेदिभद्रं द्विधा प्रोक्तं सर्वहर्म्येषु योग्यकम् ॥८॥

अथवा ऊपर एवं नीचे के अम्बुज (तथा पद्म) को छोड़ कर छः भागों का उपपीठ बनाना चाहिये। इस प्रकार सभी भवनों के अनुरूप वेदिभद्र उपपीठ दो प्रकार के होते हैं।।८।।

✵ प्रतिभद्रम् ✵

अश्विभ्यां च द्विकैकांशैर्भानुभागाङ्ककांशकैः ।
त्र्यंशैकांशकभागैस्तु द्वाभ्यामंशेन योजयेत् ॥९॥
जन्मतो वाजनान्तं तु तुङ्गे त्रिनवभागके ।
पादुकं पङ्कजं कम्पं कण्ठमुत्तरमम्बुजम् ॥१०॥
कपोतमालिङ्गान्तादि प्रतिवाजनमुच्यते ।
प्रतिभद्रमिदं नाम्ना सर्वालङ्कारसंयुतम् ॥११॥

प्रतिभद्र उपपीठ के जन्म (उपपीठ का एक भाग) से लेकर वाजनपर्यन्त सत्ताईस भाग करने चाहिये। एक भाग से जन्म एवं वाजन, दो भाग से पादुक, दो से पङ्कज, एक से कम्प, बारह से कण्ठ, एक से उत्तर, तीन से अम्बुज, एक से कपोत, दो से आलिङ्ग एवं एक से प्रतिवाजन निर्मित करना चाहिये। प्रतिभद्र नामक यह उपपीठ इन सभी अलङ्कारों से युक्त होता है।।९-११।।

युग्मेशाक्षांशकांशैस्तु द्व्येकाष्टांशांशकांशकैः ।
त्र्यंशैकेनांशकैर्द्वाभ्यामेकेनात्रैव योजयेत् ॥१२॥

पादुकं पङ्कजं चैवमालिङ्गान्तरितं तथा।
प्रत्यूर्ध्वे वाजनं कण्ठमुत्तराब्जकपोतकम् ॥१३॥
आलिङ्गान्तरितं चोर्ध्वे प्रतिश्चैवोर्ध्ववाजनम्।
द्विविधं प्रतिभद्रं स्यादेकभागाधिकं ततः ॥१४॥

प्रतिभद्र दो प्रकार के होते हैं। (प्रथम प्रकार ऊपर वर्णित है।) दूसरे प्रकार में एक भाग अधिक होता है। (इसके अट्ठाईस भाग किये जाते हैं।) इसमें दो भाग से पादुक, तीन से पङ्कज, एक से आलिङ्ग, एक से अन्तरित, दो से प्रति, एक से ऊर्ध्व वाजन, आठ से कण्ठ, एक से उत्तर, एक से अब्ज, तीन से कपोत, एक से आलिङ्ग, एक से अन्तरित, दो से प्रति एवं एक भाग से ऊर्ध्ववाजन का निर्माण किया जाता है।।१२-१४।।

❋ सुभद्रम् ❋

त्रिःसप्तांशे तदुत्सेधे द्वाभ्यां जन्म तथाम्बुजम्।
अर्धेन कण्ठमर्धेन पद्मद्व्यंशेन वाजनम् ॥१५॥
अर्धेनाब्जं तथा कम्पं कण्ठमष्टांशमीरितम्।
अंशेनोत्तरमर्धेन पद्मं गोपानकं त्रिभिः ॥१६॥
भागार्धमूर्ध्वकम्पं स्यादेतन्नाम्ना सुभद्रकम्।

इस उपपीठ में ऊँचाई के इक्कीस भाग किये जाते हैं। दो भाग से जन्म, दो से अम्बुज, आधे से कण्ठ, आधे से पद्म, दो से वाजन, आधे से अब्ज, आधे से कम्प, आठ से कण्ठ, एक से उत्तर, आधे से पद्म, तीन से गोपानक एवं आधे से ऊर्ध्व कम्प निर्मित होते हैं। (इनसे युक्त उपपीठ) की संज्ञा सुभद्रक होती है।।१५-१६।।

जन्म द्व्यशं त्रियंशेन पद्ममंशेन कन्धरम् ॥१७॥
द्वाभ्यां वाजनमेकेन कम्पमष्टांशकैर्गलम्।
अंशेन कम्पकं द्वाभ्यां वाजनं कम्पमंशकम् ॥१८॥
सुभद्रं द्विविधं प्रोक्तं सर्वालङ्कारसंयुतम्।

(सुभद्र उपपीठ का दूसरा भेद इस प्रकार है। इसमें भी ऊँचाई के इक्कीस भाग किये जाते हैं।) इसमें दो भाग से जन्म, तीन से पद्म, एक से कन्धर, दो से वाजन, एक से कम्प, आठ से गल, एक से कम्प, दो से वाजन एवं एक से कम्प निर्मित होता है। इस प्रकार सभी (उपर्युक्त) अलङ्करणों से युक्त सुभद्र उपपीठ दो प्रकार के होते हैं।।१७-१८।।

सिंहेभमकरैर्व्यालैर्भूतैः पत्रैरलंकृतम् ॥१९॥
प्रतिवक्त्रं झषाढ्यं स्याद् बालेनारूढमस्तकम्।
अर्पितानर्पिते हर्म्ये सर्वत्र परिकल्पयेत् ॥२०॥

अर्पित (भवन का भागविशेष) से युक्त एवं अर्पित से रहित सभी प्रकार के भवनों में सिंह, गज, मकर, व्याल, भूत (प्राणी), पत्र एवं जिसके मस्तक पर बाल मीन सवार हो, ऐसा मत्स्य अलङ्करणरूप में अंकित करना चाहिये।।१९-२०।।

अङ्गमङ्गं प्रति प्राज्ञैर्वृद्धिर्हानिस्तथोच्यते।
तथा मसूरकाणां तु युञ्जीयादुपपीठके ॥२१॥

उपपीठ के प्रत्येक अङ्ग को वृद्धिक्रम से अथवा हीन-क्रम से निर्मित करना चाहिये एवं उसी प्रकार उपपीठ को अधिष्ठान से जोड़ना चाहिये।।२१।।

आत्ताधिष्ठानतुङ्गाद् द्विगुणमथ समं सार्धमर्धं त्रिपादं
पञ्चांशद्व्यंशकं वानलसमभजिते द्व्येकमात्रोपपीठम्।
सप्रत्यङ्गं समं चेत्तदपि च महता वाजनेनोपयुक्तं
सर्वस्निग्धान्यधस्ताद् दृढतरमतिना योजितव्यं बलार्थम् ॥२२॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे उपपीठविधानो
नाम त्रयोदशोऽध्यायः

उपपीठ अधिष्ठान की ऊँचाई से दुगुना, डेढ़ गुना, बराबर, आधा, तीन चौथाई, २/५, दो तिहाई या आधी होना चाहिये। यदि अपने सभी अङ्गों के साथ उपपीठ अधिष्ठान के बराबर हो तो भी उसका वाजन बड़ा होना चाहिये। उपपीठ को दृढ़ बनाने के लिये बुद्धिमान स्थपति को उसके सभी अङ्गों को उचित माप में रखना चाहिये।।२२।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

उपपीठ (श्लोक १-५)

उपपीठ की संरचना भवन के अधिष्ठान के नीचे की जाती है। इसके विषय में अनेक ग्रन्थों में वर्णन प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है—

(क) विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (अ. ७७) में उपपीठ की रचना का उद्देश्य शोभा एवं रक्षा कहा गया है—

उपपीठक्रियायोग: शोभारक्षणवर्धक:।
तस्मात्तत्कल्पनं शस्तं निर्माणे बहुरूपके।।१।।

इसे अधिष्ठान के नीचे एवं अधिष्ठान के ऊपर (स्तम्भ के नीचे) एवं अन्यत्र निर्मित किया जाता है—

स्थलभेदात्क्रियाभेदादधिष्ठानस्य चोर्ध्वके।।२।।

प्रमाणभेद से यह उत्तम, मध्यम एवं अधम होता है एवं जाति-भेद (शैलीभेद) से सात प्रकार का होता है। इनमें प्रस्तरनिर्मित उपपीठ प्रतिभद्र, वाजिभद्र एवं मञ्चभद्र हैं, काष्ठनिर्मित उपपीठ सूर्यभद्र एवं चन्द्रभद्र तथा धातुनिर्मित उपपीठ गन्धर्वभद्र एवं देवेशभद्र हैं—

प्रतिभद्रं वाजिभद्रं मञ्चभद्रन्तु शैलजम्।
सूर्यभद्रं चन्द्रभद्रं दारुकार्ये प्रयोजयेत्।।४।।

गन्धर्वभद्रं देवेशभद्रं लोहक्रियार्हकम्।
सप्तस्वपि च शैलीषु योज्यमेतत्प्रकीर्तितम्।।५।।

(ख) शिल्परत्न (पूर्व भाग-१८) में अधिष्ठान के नीचे उपपीठ की रचना का उद्देश्य रक्षा, भवन की ऊँचाई एवं शोभा वर्णित है—

अधिष्ठानस्य चाधस्तादुपपीठं प्रयोजितम्।
रक्षार्थमुन्नतार्थं वा शोभार्थं च प्रकल्पयेत्।।२५।।

वहाँ उसके प्रमाण का भी विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

(ग) मनुष्यालयचन्द्रिका (५) में भी इसके निर्माण का पूर्वोक्त उद्देश्य वर्णित है। इसे अधिष्ठान से एक हाथ चौड़ा एवं आठ अङ्गुल मोटा कहा गया है—

रक्षाशोभोच्छ्रयार्थं सकलनिलयमासूरतोऽध: समन्तात्।
कुर्यादेकहस्तप्रविततमुपपीठं गजाद्यङ्गुलाढ्यम्।।२।।

इसकी ऊँचाई अधिष्ठान के बराबर या छ:, सात, आठ या नौ अंश कम होनी चाहिये—

गेहाधिष्ठानोच्चतुल्यो रसाद्यष्टाङ्काशांशैरूनितो वा यथेष्टम्।
मर्त्यागारस्योपपीठोच्छ्रय: स्यात्तत्द्भागै: पादुकाद्यं विधेयम्।।३।।

उपपीठ-निर्माण के विषय में मानसार (१३) एवं ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (क्रिया-३०.६८) में भी वर्णन प्राप्त होता है।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

(अधिष्ठानविधानम्)

❋ अधिष्ठानवस्तुनिर्माणम् ❋

तैतिलानां द्विजातीनां वर्णानां गृहकर्मणि ।
तद्योग्यं द्विविधं वस्तु जाङ्गलानूपभेदतः ॥१॥

अधिष्ठान का निर्माण—देवों, ब्राह्मणों एवं अन्य वर्ण वालों के गृह-निर्माण के अनुरूप दो प्रकार की भूमि—जाङ्गल (सूखी) एवं अनूप (स्निग्ध) होती है।

घनशर्करया युक्तमत्यन्तं खनने खरम् ।
सितांशतनुतोयाढ्यं जाङ्गलं भूतलं भवेत् ॥२॥

जाङ्गल भूमि अत्यन्त कंकरीली होती है एवं खोदने में कड़ी होती है। इसमें खुदाई के पश्चात् अत्यन्त स्वच्छ, चन्द्रमा के सदृश जल प्राप्त होता है।।२।।

खननं क्रियमाणस्य वस्तुनश्च बलं यथा ।
रूढोत्पलकृशेर्वारुसंयुक्तं तनुवालुकम् ॥३॥
अनूपमिति विख्यातं खात्वैव जलदर्शनम् ।

भवन की योजना के अनुरूप खुदाई करने पर नील कमल एवं ककड़ी से युक्त महीन बालू प्राप्त होते हैं। ऐसी भूमि को अनूप कहते हैं। इसमें खुदाई करते ही जल दिखाई पड़ने लगता है।।३।।

इष्टकोपलमृद्भिश्च वालुकैरपि चिक्कणैः ॥४॥
शर्कराभिः क्रमाच्छ्वभ्रं निश्छिद्रं पूरयेत् स्थिरम् ।
घनीकृत्येभपादैश्च काष्ठखण्डैर्बृहत्तरैः ॥५॥

(जलदर्शन के पश्चात्) गड्ढे को ईंटों, प्रस्तर, मिट्टी, चिकने बालू एवं कङ्कड़ से भरना चाहिये। इन्हें इस प्रकार भरना चाहिये, जिससे कि खोदा गया गड्ढा छेदरहित एवं दृढ़ हो जाय। इसे गजपाद से एवं बड़े काष्ठखण्डों से (कूट-पीट कर) सघन बना देना चाहिये।।४-५।।

तत्खाते सलिलेनैव पूरितेऽक्षयता शुभा।
समत्वं सलिलेनैव साधयित्वा विचक्षणः ॥६॥
गर्भं प्रक्षिप्य तं नीत्या होमं तत्र निधापयेत्।

उस गर्त को (कङ्कड़ आदि से भरने के बाद शेष बचे गड्ढे को) जल से भरना चाहिये। जल के क्षीण न होने पर शुभ होता है। बुद्धिमान (स्थपति) को जल से ही भूमि के समान होने (समतल होने) की परीक्षा करने के पश्चात् गर्त में गर्भ-न्यास करना चाहिये। इसके पश्चात् नियमपूर्वक वास्तु-होम करना चाहिये।।६।।

स्तम्भद्वित्रिगुणव्यासं तदर्धं बहलान्वितम् ॥७॥
उपानोपरि पद्मं चोपोपानं च तदूर्ध्वतः।
यथाशोभांशमानेन कुर्यात्तत्र विचक्षणः ॥८॥

उस स्थान पर स्तम्भ का दुगुना या तीन गुना व्यास वाला एवं उसका आधा मोटाई वाला बहल से युक्त उपान स्थापित करना चाहिये। उसके ऊपर बुद्धिमान (स्थपति) को उपान के अनुरूप प्रमाण का पद्म तथा उपोपान निर्मित करना चाहिये।।७-८।।

उन्नतां प्रकृतिं भूमिं कृत्वा हस्तप्रमाणतः।
घनीकृत्य तदूर्ध्वस्थमुपानं जन्म चोच्यते ॥९॥

भूमि को एक हाथ के प्रमाण से ऊँचा बनाकर एवं सघन कर उसके ऊपर जिस उपान को स्थापित किया जाता है, उसे जन्म कहते हैं।।९।।

तदूर्ध्वस्थमधिष्ठानं सोपपीठं तु केवलम्।
सस्तम्भं वा सकुड्यं वा जङ्घावर्गं तदूर्ध्वगम् ॥१०॥

उसके ऊपर उपपीठ से युक्त अधिष्ठान स्थापित करना चाहिये एवं उसके ऊपर स्तम्भ, भित्ति अथवा जङ्घा निर्मित होनी चाहिये।।१०।।

भूमिदेश इति ख्याता कपोतोर्ध्वगता प्रतिः।
प्रासादादीनि वास्तूनि चाधितिष्ठन्ति यद्धि तत् ॥११॥

जिस पर प्रासाद आदि भवन स्थित रहते हैं एवं जिससे कपोत (भवन का एक भाग) के ऊपर प्रति (भवन का अङ्ग) निर्मित होता है, उसे भूमिदेश कहते हैं।।११।।

❋ अधिष्ठानोन्मानम् ❋

अधिष्ठानं तदुन्मानं जातिभूमिवशाद् द्विधा।
तैतिलानां चतुर्हस्तं त्रिहस्तार्धं द्विजन्मनाम् ॥१२॥

अधिष्ठान की ऊँचाई का प्रमाण—अधिष्ठान की ऊँचाई का प्रमाण भूमि

(तल) के एवं जाति के अनुसार दो प्रकार का होता है। देवालय में यह चार हाथ का एवं ब्राह्मणगृह में साढ़े तीन हाथ का होता है।।१२।।

नृपाणां त्रिकरं सार्धद्विहस्तं यौवराजकम्।
द्विहस्तं वणिजामेकहस्तं शूद्रस्य कीर्त्यते ॥१३॥

राजा के भवन में तीन हाथ, युवराज के भवन में ढ़ाई हाथ, वैश्यों के भवन में दो हाथ एवं शूद्र के भवन में एक हाथ का अधिष्ठान कहा गया है।।१३।।

एतज्जातिवशाद् भूमिवशादत्रैव कथ्यते।
दण्डात् षण्मात्रहान्या तु द्वादशाद्यात्त्रिभूमिकम् ॥१४॥

अधिष्ठान की ऊँचाई का यह प्रमाण जाति के अनुसार वर्णित है। भूमि (तल) के अनुसार अधिष्ठान का माप इस प्रकार है—बारह भूमि से प्रारम्भ कर छः-छः अंश प्रत्येक भूमि में कम करते हुये तीन भूमिपर्यन्त भवन में अधिष्ठान (की ऊँचाई) एक दण्ड होना चाहिये।।१४।।

त्रितलस्योत्तमस्येष्टं पादेनोनं द्विहस्तकम्।
क्षुद्राणामनया नीत्या विधातव्यं विचक्षणैः ॥१५॥

तीन तल के भवन में उत्तम अधिष्ठान प्रशस्त होता है। उसका माप चतुर्थांश कम दो हाथ होता है। इससे छोटे अधिष्ठान का प्रयोग छोटे भवनों में विद्वानों द्वारा वर्णित नीति के अनुसार करना चाहिये।।१५।।

तत्तत्पादोदयार्धेन षडष्टांशोनमानतः।
अधिष्ठानस्य चोत्सेधं वास्तुवस्तुनि भूवशात् ॥१६॥

यह मान भवन के स्तम्भ के आधे प्रमाण से छः या आठ भाग कम होना चाहिये। अधिष्ठान की ऊँचाई का प्रमाण भवन के तल के अनुसार रखना चाहिये।।१६।।

यदुपानस्य निष्क्रान्तं तत् त्र्यंशेन विभाजयेत्।
त्यक्त्वैकांशं बहिस्तत्र जगतीं कारयेद् बुधः ॥१७॥

उपान के निष्क्रान्त के तीन भाग करने चाहिये। उसके एक भाग को छोड़ कर जगती (अधिष्ठान) का निर्माण करना चाहिये।।१७।।

तद्वत् कुमुदपट्टं च तद्वत् कण्ठस्य वेशनम्।
आत्तोत्सेधांशमानं तु भागमानेन वक्ष्यते ॥१८॥

इसी प्रकार कुमुदपट्ट एवं कण्ठ का भी निर्माण करना चाहिये। इस प्रकार अधिष्ठान की ऊँचाई पर्यन्त प्रत्येक भाग का प्रमाण वर्णित है।।१८।।

✹ पादबन्धम् ✹

अष्टसप्तशशिबन्धभागिकश्चन्द्रबन्धशशिभागिकैः क्रमात् ।
वप्रकं कुमुदकम्पकन्धरं कम्पवाजनमधोर्ध्वकम्पकम् ॥१९॥

पादबन्ध अधिष्ठान—पादबन्ध के भागों के नाम एवं प्रमाण इस प्रकार हैं—वप्र आठ भाग, कुमुद सात भाग, कम्प एक भाग, कन्धर तीन भाग, कम्प एक भाग, वाजन तीन भाग तथा एक भाग में अधोकम्प एवं ऊर्ध्वकम्प।।१९।।

पादबन्धमुदितं तदुच्छ्रये भानुभिर्द्विगुणितांशके कृते ।
देवविप्रनृपवैश्यशूद्रकेष्वेवमुक्तमृषिभिः पुरातनैः ॥२०॥

इस प्रकार ऊँचाई में चौबीस भागों में बाँटे गये पादबन्ध का वर्णन प्राचीन ऋषियों द्वारा किया गया है, जो देवों, ब्राह्मणों, राजाओं (क्षत्रियों) वैश्यों एवं शूद्रों के भवन के अनुकूल है।।२०।।

✹ उरगबन्धम् ✹

चन्द्रदृक्शशिशिवांशकै रसैर्धातुभिश्च समभागिकैः क्रमात् ।
वाजनं प्रतिमुखं त्रियस्रकं दृक् च वृत्तकुमुदं तु वप्रकम् ॥२१॥
त्रिःषडंशसमभागिके तले नागवक्त्रसदृशं प्रतिद्वयम् ।
देवविप्रनृपमन्दिरेषु तद्योग्यकं ह्युरगबन्धकं भवेत् ॥२२॥

उरगबन्ध अधिष्ठान—ऊँचाई में अट्ठारह भागों में विभाजित उरगबन्ध अधिष्ठान के दो प्रति नाग-मुख के सदृश होते हैं। इसमें वाजन एक भाग, प्रतिमुख दो भाग, त्रियस्रक एक भाग, दृक् तीन भाग, वृत्तकुमुद छः भाग एवं वप्रक पाँच भाग से निर्मित होता है। यह देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के भवनों के योग्य होता है।।२१-२२।।

✹ प्रतिक्रमम् ✹

अंशाध्यर्धार्धभागैर्मुनिरसशशिभिश्चन्द्रदृक्चैवभागैः
क्षुद्रोपानाब्जकम्पं जगतिकुमुदकं धारया युक्तमूर्ध्वे ।
आलिङ्गान्तादिकं तत्प्रतिमुखमथ तद्वाजनं पद्मयुक्तं
त्रिःसप्तांशे तलोच्चे करिहरिमकरव्यालरूपादिभूष्यम् ॥२३॥

प्रतिक्रम अधिष्ठान—प्रतिक्रम अधिष्ठान की ऊँचाई के इक्कीस भाग करने चाहिये। एक भाग से क्षुद्रोपान, डेढ़ भाग से अब्ज, आधे भाग से कम्प, सात भाग से जगती, छः भाग से धारायुक्त कुमुद, एक भाग से आलिङ्गान्त, एक भाग से आलिङ्गादि, दो भाग से प्रतिमुख एवं एक भाग से पद्मयुक्त वाजन का निर्माण करना चाहिये। अधिष्ठान पर गज, सिंह, मकर एवं व्याल आदि का आभूषण के रूप में अंकन करना चाहिये।।२३।।

प्रतिक्रमं तत् सुरमन्दिरोचितं विचित्रितं पत्रलतादिरूपकैः ।
द्विजन्मभूमीश्वरयोर्मतं गृहे शुभप्रभं पुष्टिकरं जयावहम् ॥२४॥

इस प्रकार सुसज्जित प्रतिक्रम अधिष्ठान देवालय के लिये प्रशस्त होता है। जब इस पर पत्र एवं लतादिकों का अंकन किया जाता है, तब वह ब्राह्मण एवं राजाओं के गृह के अनुरूप होता है; साथ ही उन्हें शुभ, समृद्धि तथा विजय प्रदान करता है।।२४।।

✷ पद्मकेसरम् ✷

एकद्व्येकेन षड्भिः शशिशिवशशिभिर्वेदचन्द्रैकभागै-
र्द्व्यंशैकेनांशनेत्रैः शिवशशिसमभागेन जन्माब्जकं च ।
वप्रं पद्मं गलाब्जं कुमुदमुपरि पद्मं च कम्पं गलं तत्
कम्पं पद्मं च पट्टीकमलमुपरिकम्पं च षड्विंशदंशे ॥२५॥

पद्मकेसर अधिष्ठान—पद्मकेसर अधिष्ठान के छब्बीस भाग (ऊँचाई में) किये जाते हैं। इसमें जन्म एक भाग, अब्जक दो भाग, वप्र एक भाग, पद्म छः भाग, गल एक भाग, अब्ज एक भाग, कुमुद एक भाग, पद्म चार भाग, कम्प एक भाग, गल एक भाग, कम्प दो भाग, पद्म एक भाग, पट्टी दो भाग, कमल एक भाग एवं कम्प एक भाग होता है।।२५।।

पद्मकेसरमेतदुदाहृतं कम्पवाजनपङ्कजकैर्युतम् ।
कुम्भवप्रयुतञ्च सकन्धरं शम्भुधामनि तत्प्रविधीयते ॥२६॥

यह अधिष्ठान पद्मकेसर है। इस पद्मकेसर अधिष्ठान में कम्पवाजन, पङ्कज, कुम्भ, वप्र और कन्धर जब युक्त हो जाते हैं तो यह शम्भु-मन्दिर के अनुकूल हो जाता है।।२६।।

✷ पुष्पपुष्कलम् ✷

भागेष्वेकार्धकार्धैस्तदुपरि चतुरंशैस्तथार्धांशकार्धै-
र्द्व्यर्धांशार्धद्विभागैस्तदुपरि च तथार्धांशकार्धेन जन्मम् ।
वप्रं कञ्जं गलाब्जं तदुपरि कुमुदं पङ्कजं कम्पकण्ठं
कम्पं पद्मं महावाजनमुपरिदलं कम्पकं पङ्कजाढ्यम् ॥२७॥

पुष्पपुष्कलमेतदुदाहृतं कल्पितं नवपङ्क्तिभिरुच्छ्रये ।
शिल्पिभिः प्रसरैरपि पूजितामूर्ध्वमध्यममुखे विमानके ॥२८॥

पुष्पपुष्कल अधिष्ठान—पुष्पपुष्कल अधिष्ठान की ऊँचाई को उन्नीस भागों में

बाँटना चाहिये। इसमें एक भाग से जन्म, पाँच से वप्र, एक से कञ्ज, आधे से गल, आधे से अब्ज, चार से कुमुद, आधे से पङ्कज, आधे से कम्प, दो से कण्ठ, आधे से कम्प, आधे से पद्म, दो से महावाजन, आधे से दल तथा आधे से पङ्कजयुक्त कम्प निर्मित होते हैं। इस प्रकार अनेक पद्म-पुष्पों से युक्त अधिष्ठान पुष्पपुष्कल कहलाता है। शिल्पियों के अनुसार यह अधिष्ठान मध्यम एवं बड़े विमानों (मन्दिरों) के अधिक अनुकूल होता है।।२७-२८।।

✵ श्रीबन्धम् ✵

द्वाभ्यामेकेन सप्तांशकशशिशिववेदैकचन्द्राग्निभागै-
रेकेनैकेन वेदैः शिवशशिनयनैकेन मोहामराब्जम्।
हृत्पद्मं कैरवाब्जं गलधरगलकम्पं दलं तत्कपोतं
चालिङ्गान्तादिकं तत्प्रतिमुखमथ तद्वाजनं पङ्कजाढ्यम् ॥२९॥

श्रीबन्धं स्यादेतदुच्चे चतुर्वस्वंशे कुर्याच्छान्तधीर्वर्धकिस्तत्।
देवेशानां मन्दिरेष्वेवमुक्तं श्रीसौभाग्यारोग्यभोग्यं ददाति ॥३०॥

श्रीबन्ध अधिष्ठान—श्रीबन्ध अधिष्ठान की ऊँचाई के बत्तीस भाग किये जाते हैं। इसमें दो भाग से अधिष्ठान का निचला भाग, एक से अब्ज, सात से हृत्, एक से पद्म, एक से कैरव, चार से अब्ज, एक से गल, एक से अधर, तीन से गल, एक से कम्प, एक से दल, चार से कपोत, एक से आलिङ्गादि, एक से आलिङ्गान्त, दो से प्रतिमुख एवं एक से पङ्कजयुक्त वाजन निर्मित होते हैं। इसकी स्थापना कुशल वर्धकि द्वारा करानी चाहिये। यह अधिष्ठान देवालयों एवं राजभवनों के लिये अनुकूल होता है तथा श्री, सौभाग्य, आरोग्य एवं भोग प्रदान करता है।।२९-३०।।

✵ मञ्चबन्धम् ✵

तुङ्गे षड्विंशदंशे खुरमथ जगतीकैरवं कम्पकण्ठं
कम्पं पद्मं कपोतं तदुपरि च तथा निम्नमन्तादिवक्त्रम्।
कम्पं भागेन षड्भिः शरशशिगुणचन्द्रैकबन्धांशकांशै-
र्द्वाभ्यामेकेन कुर्यादमरनरपतेर्मन्दिरे मञ्चबन्धम् ॥३१॥

मञ्चबन्ध अधिष्ठान—मञ्चबन्ध अधिष्ठान की ऊँचाई के छब्बीस भाग करने चाहिये। एक भाग से खुर, छः से जगती, पाँच से कैरव, एक से कम्प, तीन से कण्ठ, एक से कम्प, एक से पद्म, तीन से कपोत, एक-एक भाग से ऊपर-नीचे के सदृश निर्माण, एक-एक भाग से अन्तवक्त्र एवं आदिवक्त्र तथा एक भाग से कम्प निर्मित होना चाहिये। यह अधिष्ठान राजगृह के अनुकूल होता है।।३१।।

॰ श्रीकान्तम् ॰

आलिङ्गयुक्तमथ चान्तरितप्रतीभ्यां
तद्वाजनेन च वियुक्तकमेतदेव।
श्रीकान्तनामकमसूरकमष्टकोणं
वृत्तं तु वा कुमुदमम्बरमार्गिणां तत् ॥३२॥

श्रीकान्त अधिष्ठान—जब अधिष्ठान आलिङ्ग एवं अन्तरित प्रति से युक्त हो एवं वाजन से रहित हो तो उसे श्रीकान्त कहते हैं। इसका कुमुद अष्टकोण अथवा वृत्ताकार हो सकता है एवं यह अम्बरमार्गियों के अनुकूल होता है।।३२।।

॰ श्रेणीबन्धम् ॰

एकद्व्येकर्तुवेदैः शशिनयनशिवद्व्येकदृक्चन्द्रसार्धा-
र्धांशैर्जन्माब्जकम्पं जगतिकुमुदकं कम्पकण्ठं च कम्पम्।
पद्मं पट्टं च कण्ठं तदुपरि च तथा वाजनाब्जं च पट्टं
श्रेणीबन्धं सुराणामुदितमिदमलं तुङ्गषड्विंशदंशे ॥३३॥

श्रेणीबन्ध अधिष्ठान—देवालयों के अनुकूल श्रेणीबन्ध संज्ञक अधिष्ठान ऊँचाई में छब्बीस भागों में बाँटा जाता है। इसमें एक भाग से जन्म, दो से अब्ज, एक से कम्प, छः से जगती, चार से कुमुद, एक से कम्प, दो से कण्ठ, एक से कम्प, दो से पद्म, एक से पट्ट, दो से कण्ठ, एक से वाजन, डेढ़ से अब्ज एवं एक से पट्ट निर्मित होता है।।३३।।

॰ पद्मबन्धम् ॰

सार्धार्धेष्वंशकांशैर्गुणशशिशिवचन्द्रद्विकैकेन जन्म-
क्षुद्रं पद्मं धृगब्जं कुमुदमुपरि पद्मं तथालिङ्गमूर्ध्वे।
आलिङ्गान्तः प्रतिर्वाजनमथ मतिमान् योजयेत् त्रिःषडंशे
तुङ्गे देवेश्वराणामिदमुदितमगारेऽनघं पद्मबन्धम् ॥३४॥

पद्मबन्ध अधिष्ठान—पद्मबन्ध अधिष्ठान की ऊँचाई को अट्ठारह भागों में बाँटना चाहिये। डेढ़ भाग से जन्म, आधे भाग से क्षुद्र, पाँच से पद्म, एक से धृक्, तीन से अब्ज, एक से कुमुद, एक से पद्म, एक से आलिङ्ग, एक से आलिङ्गान्त, दो से प्रति एवं एक से वाजन निर्मित होता है। इस अधिष्ठान को विना किसी दोष के प्रधान देवों के मन्दिर में निर्मित करना चाहिये।।३४।।

॰ वप्रबन्धम् ॰

द्व्येकैकांशैः शरांशैर्युगशशिशिवदृक् चन्द्रशैवाश्विनीभि-
र्भागेनोपानकञ्जं तदुपरि च तथा कम्पवप्रं च कुम्भम्।

पद्मं पट्टं च कण्ठं तदुपरि च तथा कम्पपद्मं च पट्टी-
पट्टं तद्वप्रबन्धं तदपि च सहितं सद्विकैर्विंशदंशैः ॥३५॥

वप्रबन्ध अधिष्ठान—वप्रबन्ध अधिष्ठान की ऊँचाई को बाईस भागों में बाँटा जाता है। इसमें दो भाग से उपान, एक से कञ्ज, एक से कम्प, पाँच से वप्र, चार से कुम्भ, एक से पद्म, एक से पट्ट, दो से कण्ठ, एक से कम्प, एक से पद्म, दो से पट्टी तथा एक से पट्ट निर्मित होता है। इसे वप्रबन्ध अधिष्ठान कहते हैं।।३५।।

✵ कपोतबन्धम् ✵

तदेव वृत्तं कुमुदं तु वाजने कपोतयुक्तं हि कपोतबन्धकम्।

कपोतबन्ध अधिष्ठान—वाजन पर जब कुमुद वृत्ताकार हो एवं कपोत निर्मित तो उसे कपोतबन्ध अधिष्ठान कहते हैं।

✵ प्रतिबन्धम् ✵

तदेव वेदैः प्रतिवाजनं प्रतिस्त्रिकास्त्रयुक्तं प्रतिबन्धमुच्यते ॥३६॥

प्रतिबन्ध अधिष्ठान—जब प्रति एवं वाजन चार भाग में निर्मित हों एवं प्रति त्रिकास्त्रयुक्त (तीन कोणों वाला) हो तो उसे प्रतिबन्ध अधिष्ठान कहते हैं।।३६।।

✵ कलशाधिष्ठानम् ✵

एकद्व्येकाग्निभागैः शशियुगलशिवद्व्येकचन्द्रेशदृग्भि-
श्चन्द्रैकैकाक्षिचन्द्रैः खुरकमलमथो कम्पकण्ठं च कम्पम्।
पद्मं पट्टाब्जनिम्नं कमलमुपरि कुम्भं दलं निम्नमन्ताद्
या स्याच्चोर्ध्वे पतिर्वाजनमथ कलशाख्येन भागास्त्रिरष्टौ ॥३७॥

कलश अधिष्ठान—इस अधिष्ठान को ऊँचाई में चौबीस भागों में बाँटा जाता है। इसमें एक भाग से खुर, दो से कमल, एक से कम्प, तीन से कण्ठ, एक से कम्प, दो से पद्म, एक से पट्ट, दो से अब्ज, एक से निम्न, दो से प्रति एवं एक से वाजन निर्मित होता है। इसे कलश अधिष्ठान कहते हैं।।३७।।

✵ अधिष्ठानसामान्यलक्षणम् ✵

एतानि भेदैस्तु चतुर्दशैव प्रोक्तानि तज्ज्ञैस्तु मसूरकाणि।
सर्वाणि नास्यङ्घ्रियुतानि युक्त्यादृढीकृताङ्गानि मयोदितानि ॥३८॥

अधिष्ठान के सामान्य लक्षण—इस प्रकार चौदह प्रकार के अधिष्ठानों का लक्षणसहित वर्णन विद्वानों द्वारा किया गया है। सभी को छोटे पादों एवं सजावटी खिड़कियों से युक्त करना चाहिये। इनके सभी अङ्गों को, जिनका वर्णन ऋषि मय ने किया है, दृढ़ता-पूर्वक स्थापित करना चाहिये।।३८।।

भागेनार्धत्रिपादाङ्घ्रिभिरथ युगलाध्यर्धचन्द्रार्धपादै-
र्मात्रैर्वृद्धिश्च हानिर्दृढतरमतिना योजितव्या बलार्थम्।
शोभार्थं भागमङ्गप्रतिवरसमनीचाल्पहर्म्ये तलाना-
मेवं प्रोक्तं यमीन्द्रैरविकलमतिभिस्तन्त्रविद्भिः पुराणैः ॥३९॥

अधिष्ठान को अधिक दृढ़ बनाने के लिये बुद्धिमान (स्थपति) को एक भाग या आधा, त्रिपाद (पौन भाग) या चतुर्थांश, डेढ़ भाग अथवा एक भाग का चतुर्थांश जोड़ना या घटाना चाहिये। इस माप का निर्णय भवन के अनुसार उसके उत्तम (बड़ा), मध्यम अथवा छोटे आकार के अनुसार करना चाहिये। यह भवन की शोभा के लिये होता है। यह मत संयमी, निर्मल बुद्धि, तन्त्र एवं पुराण के ज्ञाता विद्वानों का है।।३९।।

✵ अधिष्ठानपर्यायनामानि ✵

मसूरकमधिष्ठानं वस्त्वाधारं धरातलम्।
तलं कुट्टिममाद्यङ्गं पर्यायवचनानि हि ॥४०॥

अधिष्ठान के पर्यायवाची शब्द—मसूरक, अधिष्ठान, वास्त्वाधार, धरातल, तल, कुट्टिम तथा आद्यङ्ग अधिष्ठान के पर्यायवाची हैं।।४०।।

✵ निर्गममानम् ✵

यावज्जगतिनिष्क्रान्तं तावत् कुमुदनिर्गमम्।
अम्बुजानां तु सर्वेषामुत्सेधसमनिर्गमम् ॥४१॥

निर्गम का प्रमाण—जितना जगती का निष्क्रान्त निर्मित हो, उतना ही कुमुद का निर्गम निर्मित करना चाहिये। सभी अम्बुजों की ऊँचाई निर्गम के बराबर रखनी चाहिये।।४१।।

दलाग्रतीव्रमुत्सेधात् पादं पादार्धमेव वा।
वेत्राणामपि सर्वेषां चतुर्भागैकनिर्गमम् ॥४२॥

दल (पत्तियों की पंक्ति) के अग्र भाग पंक्ति की ऊँचाई का चतुर्थांश या चतुर्थांश का आधा होना चाहिये। सभी वेत्रों का निर्गम चौथाई होना चाहिये।।४२।।

तत्समं वा त्रिपादं वा महावाजननिर्गमम्।
एवं तीव्रक्रमं प्रोक्तं शोभाबलवशात्तु वा ॥४३॥
प्रवेशनिर्गमं कुर्यात् सर्वाङ्गानां मसूरके।

महावाजन का निर्गम उसके बराबर अथवा तीन चौथाई होना चाहिये। शोभा एवं

बल के अनुसार अधिष्ठान के सभी भागों का प्रवेश एवं निर्गम रखना चाहिये।।४३।।

✹ अधिष्ठानप्रतिच्छेदविधिः ✹

प्रतिच्छेदं न कर्तव्यं सर्वत्रैवं विचक्षणैः ।।४४।।
द्वारार्थं यत् प्रतिच्छेदं सम्पद्द्वारं च नेत्यलम् ।
पादबन्धमधिष्ठानं छेदनीयं यथोचितम् ।।४५।।

अधिष्ठान में खण्ड करने की विधि—बुद्धिमान (स्थपति) को अधिष्ठान में कहीं भी प्रतिच्छेद (खण्ड) नहीं करना चाहिये। द्वार के लिये किया गया प्रतिच्छेद सम्पत्तिकारक नहीं होता है। पादबन्ध एवं अधिष्ठान में आवश्यकतानुसार प्रतिच्छेद करना चाहिये।।४४-४५।।

जन्मादिपञ्चवर्गे तु तत्तत्तुङ्गावसानके ।
सपटिकाङ्गेऽधिष्ठानेऽप्यन्यस्मिन्नेवमूह्यताम् ।
यद् यत्रैवोचितं प्राज्ञास्तत् तत्रैव प्रयोजयेत् ।।४६।।

जन्म आदि पाँच वर्गों में उनकी ऊँचाई के अन्त में, सपट्टिकाङ्ग में, अधिष्ठान में एवं अन्य अङ्गों में प्रतिच्छेद हो सकता है। जहाँ-जहाँ उचित हो, बुद्धिमान (स्थपति) को वहाँ प्रयोग करना चाहिये।।४६।।

स्तम्भोच्चार्धं वा मसूरोच्चमानं तत् षट्सप्ताष्टांशकं भागहीनम् ।
वस्त्वाधारोच्चं भवेत् सर्ववस्तुष्वेवं पूर्वं शम्भुना सम्यगुक्तम् ।।४७।।

इति मयमते वस्तुशास्त्रे अधिष्ठानविधानो
नाम चतुर्दशोऽध्यायः

अधिष्ठान की ऊँचाई स्तम्भ के ऊँचाई की आधी, छः, सात या आठ भाग कम होनी चाहिये। अधिष्ठान की ऊँचाई सभी भवनों में उनके अनुसार रखनी चाहिये। इस मत का प्रतिपादन शम्भु ने अच्छी प्रकार से किया है।।४७।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

भूमि के प्रकार (श्लोक १)

भूमि के जाङ्गल एवं अनूप भेद की चर्चा अर्थशास्त्र (२.२४.५) मे भी प्राप्त होती है। शिल्परत्न (१०.१-३) में दो प्रकार की स्निग्धा एवं अस्निग्धा भूमि की चर्चा की गई है—

स्निग्धं चैव तथास्निग्धं द्विविधं भूमिलक्षणम्। (१०.१)

होम-स्थापन (श्लोक ७)

होम की स्थापना भवन के गर्भ-स्थापन के समय की जाती है। शिल्परत्न (पूर्व भाग-१९.१०२-१०७) में इसके विन्यास का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

यत्र प्रासादकरणं तले तत्र समीकृते।
होमं विन्यस्य परितस्तत्तद्द्रव्यैर्यथोदितैः।।

भित्तिपादस्य विष्कम्भं द्विगुणं त्रिगुणं तु वा।
होमानीप्रमिति ख्यातं तद्बाहल्यं तदर्धतः।।

मानसूत्राद् बहिर्नीप्रं द्वित्रिदण्डमथापि वा।
होमानीप्रं पुनः प्रोक्तमुपपीठं गलात्तु वा।।

अधिष्ठानजगत्या वा पादुकाद्वा विमानके।
होमोर्ध्वोऽब्जे प्रकर्तव्ये तत्पीठाद्धोमनिष्क्रमः।।

पद्मस्य वेशरस्योच्चं समं पादोनमेव वा।
तदूर्ध्वे वापि चाद्यङ्गं होमोर्ध्वं वोपपीठकम्।।

तदूर्ध्वेऽब्जमधिष्ठानं वा करोतु यथारुचि।

अधिष्ठान

मयमत (१४.४०) में अधिष्ठान के पर्याय के रूप में मासूर अथवा मसूरक एवं कुट्टिम का उल्लेख किया गया है। तन्त्रसमुच्चय में इनके कई मानभेद वर्णित हैं—

(क) अधिष्ठान की ऊँचाई के चौबीस भाग करने चाहिये। इसमें पादुक, जगती कुमुद, गल, कम्प, गल एवं पट्टिका की रचना की जाती है। उसके प्रति संज्ञक भाग पर सुन्दर मकर-मुख एवं सिंहादि की रचना की जाती है—

मासूरे मिहिरद्वयांशिनि ततोंऽशैः पादुकं पावकै-
रष्टाभिर्जगतीं स्वरैः कुमुदकं शेषे दशांशेंऽशकैः।
त्रिद्व्यग्न्यश्विमितैर्गलं विरचयेत्कम्पान् गलं पट्टिकाम्
प्रत्युद्यन्मकरास्यकादिरुचिरां सिंहादिभिश्चोज्ज्वलाम्।। (२.१३)

कश्यप का मत (उपर्युक्त श्लोक पर व्याख्या में उल्लिखित) भी इसी के अनुकूल है।

(ख) अधिष्ठान की ऊँचाई के इक्कीस भाग करने चाहिये। इसमें पादुक, जगती, कुमुद, कुमुदपट्टिका, गल, पाद, अल्पपट्टिका एवं महत्पट्टिका का निर्माण होता है—

वास्त्वाधारसमुच्छ्रये प्रकृतिभक्ते वा त्रिभिः पादुकम्
छन्दोभिर्जगतीं रसैः कुमुदकं चैकेन तत्पट्टिकाम्।

भागाभ्यां गलपादुकान् विरचयेदर्धांशतः पट्टिकाम्
क्षुद्रां सार्धधरांशकेन महतीं स्वांशोल्लसद्वाजनाम्।।(वही-२.१४)

मञ्जरी का मत भी यही है।

(ङ) अधिष्ठान-निर्माण में तीसरा माप इस प्रकार रक्खा जाता है। इसकी ऊँचाई के बारह भाग होते हैं, जिसमें जगती, कुमुद, पट्टिका, अन्तरि, वाजन एवं प्रति निर्मित होते हैं—

मासूरेंऽशैर्दिनेशांशिनि सति जगतीकैरवे श्रत्युपायै-
स्तच्छिष्टैः पट्टिकामन्तरमपि रचयेद् वाजनं च प्रतिं च।
प्रत्युत्पन्नक्रमाख्ये क्रम इति कथितः पट्टिकान्तं तथातः
खण्डान् सार्धैकतो वाजनमपि सदलैकांशतः पादबन्धे।।

(वही-२.१५)

(घ) मनुष्यालयचन्द्रिका में चौदह प्रमाण-भेद एवं इनके भी चौरासी भेद प्राप्त होते हैं, जो मयमत (१४.२८) के अनुकूल है। प्रमाण इस प्रकार है—

मासूरमानानि चतुर्दशैवं भवन्ति तेभ्यः पृथगूनिताश्च।
रसाद्रिनागाङ्कदशेशभागाश्चतुर्युताशीतिमितानि सन्ति।। (५.१५)

(ङ) विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (२७ अ.) में अधिष्ठान प्रकल्पन का उद्देश्य भवन की ऊँचाई, रक्षा, शोभा एवं दृढता कही गई है। इसकी ऊँचाई आवश्यकतानुसार एक हाथ, दो हाथ, तीन हाथ या एक दण्ड रखनी चाहिये—

औन्नत्यार्थं च रक्षार्थं शोभार्थं च बलार्थकम्।
एकहस्तं द्विहस्तं वा त्रिहस्तं वा विशेषतः।।

एकदण्डप्रमाणं वा कारयेत् स्थलयोग्यकम्। (२७.३-४)

इसके आठ भेद कहे गये हैं—मञ्चभद्र, बोधिभद्र, वाजिभद्र, कुमुदभद्र, मञ्चबन्ध, बोधिबन्ध, वाजिबन्ध एवं कुमुदबन्ध—

मञ्चभद्रं बोधिभद्रं वाजिभद्रं च कौमुदम्।
बन्धस्वरूपमन्यच्च स्थापयेत्स्थपतिः क्रमात्।। (२७.७)

(च) वास्तुविद्या (९ अ.) में पाद-मान के प्रकरण में मानभेद की दृष्टि से बारह प्रकार के अधिष्ठानों की चर्चा की गई है।

(छ) शिल्परत्न (पूर्वभाग, १९ अ.) में अधिष्ठान की चर्चा विस्तार से प्राप्त होती है। श्रीकुमार (शिल्परत्नाकर) के अनुसार मय ने चौदह प्रकार के अधिष्ठान का एवं पराशर ने दो प्रकार के अधिष्ठान का वर्णन किया है। अन्य शिल्पविज्ञों ने तीन प्रकार के अधिष्ठान—मञ्चक, पादबन्ध एवं प्रतिबन्ध का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

मञ्चकान्यधमान्याहुः पादबन्धाभिधानि वै।
मध्यमान्युत्तमानि स्युः प्रतिबन्धान्यसंशयः।। (१९.२)

इसके पाँच वर्ग हैं—उपान, जगती, कुम्भ, कन्धर एवं प्रस्तर—

उपानं जगती कुम्भं कन्धरं प्रस्तरं तथा।
पञ्चवर्गमिति ख्यातमाद्यङ्गानां विशेषतः।। (१९.३)

मञ्चक, पादबन्ध एवं प्रतिबन्ध का सामान्य लक्षण इस प्रकार है—

कुमुदेन विना कार्यं यत्तन्मञ्चकमुच्यते।
पादबन्धतलानां तु वस्वस्रं कुमुदं भवेत्।।
सर्वेषां प्रतिबन्धानां कुमुदं वृत्तमुच्यते। (१९.५)

अधिष्ठान की एवं उपपीठ की रचना मृत्तिका, ईंट, शिला अथवा काष्ठ से भवनादि की आवश्यकता देखते हुये करनी चाहिये—

अधिष्ठानं चोपपीठं मृदा चेष्टकयापि वा।
शिलाभिर्वा विधातव्यं दारुणा वा यथाबलम्।। (वही-१८.२०)

(ज) मानसार (अ. १४) में अधिष्ठानों के भेद एवं अनके अङ्गों का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। इनमें उरगबन्ध, प्रतिक्रम, कुमुदबन्ध, श्रीबन्ध, मञ्चबन्ध, श्रेणीबन्ध, पद्मबन्ध, कुम्भबन्ध, वप्रबन्ध, वज्रबन्ध, श्रीभोग, रत्नबन्ध, पट्टबन्ध, कुक्षिबन्ध, कम्पबन्ध, एवं श्रीकान्त आदि अधिष्ठानों का वर्णन किया गया है।

अधिष्ठानप्रतिच्छेद (श्लोक ४४-४५)

अधिष्ठान के छेदन के विषय में अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार उल्लेख प्राप्त होता है—

(क) शिल्परत्न (पूर्वभाग-१९.१२९-१३१)

द्वारार्थं वा स्थलार्थं वा जलमार्गार्थमेव वा।
जन्मादिपञ्चवर्गेषु तत्तदङ्गावसानके।।
छेदनं नैव दोषाय पादबन्धतलेऽखिले।
प्रतेश्छेदं न कर्तव्यं प्रतिबन्धकुले कदाचन।।
जन्मच्छेदं न कर्तव्यं यत्र-कुत्रापि सर्वतः।
विपदामास्पदं ह्येतत्तस्मान्नैव कारयेत्।।

(ख) ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (क्रिया.-३१.१०१-२)

सर्वत्र प्रत्युपरि द्वारं कुर्याद् विचक्षणः।
प्रतिच्छेदेन तु द्वारं न कुर्वीत कदाचन।।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

(पादप्रमाणद्रव्यपरिग्रहविधानम्)

* स्तम्भलक्षणम् *

पादायामं सविस्तारमाकारं भूषणादिकम् ।
लक्षणान्तरतः सम्यग् वक्ष्ये संक्षेपतः क्रमात् ॥१॥

स्तम्भ के लक्षण—मैं (मय ऋषि) अन्य लक्षणों के साथ स्तम्भों की लम्बाई, चौड़ाई, आकृति एवं उनके अलङ्करण आदि का संक्षेप में सम्यक् रूप से क्रमशः वर्णन कर रहा हूँ।।१।।

स्थाणुः स्थूणश्च पादश्च जङ्घा च चरणोऽङ्घ्रिकः ।
स्तम्भश्च तलिपः कम्पः पर्यायवचनानि हि ॥२॥

स्थाणु, स्थूण, पाद, जङ्घा, चरण, अङ्घ्रिक, स्तम्भ, तलिप एवं कम्प (स्तम्भ के) पर्यायवाची शब्द हैं।।२।।

* स्तम्भमानम् *

सवितस्त्यष्टहस्तोच्चं द्वादशक्ष्माद्यपादकम् ।
तत्तद्वितस्तिहीनेन त्रिकरं चान्त्यभूमिके ॥३॥

स्तम्भ का प्रमाण—बारह तल के भवन में भूतल पर बनने वाले स्तम्भ की ऊँचाई आठ हाथ एक बित्ता (साढ़े आठ हाथ) होनी चाहिये। प्रत्येक तल पर एक-एक बित्ता कम करते हुये सबसे ऊपर के तल पर तीन हाथ ऊँचाई होनी चाहिये।।३।।

आत्तोत्सेधांशमानेन पादोच्चं वा विधीयते ।
आत्ताधिष्ठानतुङ्गस्य द्विगुणं पादतुङ्गकम् ॥४॥

अथवा स्तम्भ की ऊँचाई का मापन दिये गये माप से (दूसरे ढंग से) करना चाहिये। अधिष्ठान की ऊँचाई का दुगुना माप स्तम्भ का रखना चाहिये।।४।।

द्विगुणादधिकोत्सेधः स्तम्भः प्रोक्तः स्वयम्भुवा ।
अष्टविंशतिमात्रैस्तु मूलभूस्तम्भविस्तृतम् ॥५॥

(बारह तल के भवन में) स्वयम्भू के अनुसार स्तम्भ की ऊँचाई अधिष्ठान

के दुगुने से अधिक होनी चाहिये। भूतल के स्तम्भ का विस्तार अट्ठाईस मात्रा (अङ्गुल-माप) होना चाहिये।।५।।

तत्तद्द्व्यङ्गुलभिन्नेन षण्मात्रं चान्त्यभूमिके।
पादोच्चे पङ्क्तिनन्दाष्टभागेंऽशं पादविस्तृतम् ।।६।।

प्रत्येक तल में उपर्युक्त माप से दो-दो अङ्गुल कम करते हुये ऊपर के तल में स्तम्भ की चौडाई का माप प्राप्त होता है। अथवा स्तम्भ की ऊँचाई का दसवाँ, नवाँ या आठवाँ भाग उसकी चौड़ाई का माप होना चाहिये।।६।।

तदर्धं वा त्रिभागोनं चतुर्भागोनमेव वा।
कुड्यस्तम्भस्य विस्तारस्तेन द्वित्रिचतुर्गुणः ।।७।।
पञ्चषड्गुण एवं स्याद् भित्तिविष्कम्भ इष्यते।
जन्मोर्ध्वे स्तम्भविक्षेपहोमाः स्तम्भविधौ विदुः ।।८।।

अथवा स्तम्भ का विस्तार आधा, तीन भाग कम अथवा चतुर्थांश कम रखना चाहिये। भित्ति-स्तम्भ के विस्तार से भित्ति-विष्कम्भ का विस्तार दुगुना, तीन गुना, चार गुना, पाँच गुना या छः गुना रखना चाहिये। स्तम्भ-स्थापन-विधि के ज्ञाता अधिष्ठान के ऊपर स्तम्भ के स्थापन के समय होम करने का विधान बतलाते हैं।।७-८।।

✵ स्तम्भभेदाः ✵

प्रतिस्तम्भः प्रतेरूर्ध्वे चोत्तराधो हितायतिः।
जन्मोर्ध्वे स्तम्भनिक्षेपः स्तम्भायामस्त्रिभागभाक् ।।९।।

स्तम्भ के भेद—प्रतिस्तम्भ को प्रति के ऊपर एवं उत्तर (भित्ति) के नीचे निर्मित किया जाता है। जन्म (अधिष्ठान का एक भाग) के ऊपर स्तम्भ को स्थापित किया जाता है एवं उसकी चौड़ाई उसकी ऊँचाई के तीसरे भाग के बराबर होती है।।९।।

गाम्भीर्यमवटं कृत्वा तदुपज्ञतलं कुरु।
पादुकाद्युत्तरान्तःस्थो निखातस्तम्भ इष्यते ।।१०।।

(निखातस्तम्भ के लिये) गहरा गर्त बनाकर उसके ऊपर तल का निर्माण किया जाता है (पुनः स्तम्भ-स्थापन होता है)। पादुक से लेकर उत्तर-भित्ति के मध्य में स्थित इस स्तम्भ को निखातस्तम्भ कहते हैं।।१०।।

अधिष्ठानोत्तरान्तःस्थो झषालस्तम्भ उच्यते।
तद्व्यासादर्कभागाद्यं षड्भागोनाग्रविस्तरः ।।११।।

अधिष्ठान से प्रारम्भ होकर उत्तरभित्ति के मध्य में स्थित स्तम्भ को झषाल स्तम्भ

कहते हैं। यह स्तम्भ मूल की अपेक्षा ऊर्ध्व भाग में छः-बारह भाग कम चौड़ा होता है।।११।।

मूलभूस्तम्भतुङ्गस्य द्वादशाद्याः षडंशयुक् ।
ऊर्ध्वोर्ध्वस्तम्भतुङ्गं स्यादेवं तद्विस्तरक्रमः ॥१२॥

(बारह मञ्जिल के भवन में) भूतल में स्तम्भ की चौड़ाई उसकी ऊँचाई का छठवाँ भाग होना चाहिये। ऊपर के तलों में भी स्तम्भों की ऊँचाई एवं चौड़ाई में यही अनुपात होना चाहिये।।१२।।

अग्राकारं युगास्त्रं तु कुम्भमण्डिसमन्वितम् ।
ब्रह्मकान्तं तदष्टास्त्रं विष्णुकान्तमिहोच्यते ॥१३॥

मूल से लेकर ऊपर तक चौकोर तथा कुम्भ एवं मण्डि से युक्त स्तम्भ को ब्रह्मकान्त कहा जाता है तथा आठ कोण वाले स्तम्भ को विष्णुकान्त कहते हैं।।१३।।

षडस्त्रमिन्द्रकान्तं स्यात् सौम्यं तत् षोडशास्त्रकम् ।
कर्णमात्रेण तन्मूले चतुरस्त्रमितोर्ध्वतः ॥१४॥

अष्टास्त्रं वा द्विरष्टास्त्रवृत्तं पूर्वास्त्रमीरितम् ।
कुम्भमण्डियुतं वाऽपि रुद्रकान्तं सुवृत्तकम् ॥१५॥

षट्कोण वाला स्तम्भ इन्द्रकान्त संज्ञक होता है। सोलह कोण वाला स्तम्भ सौम्य कहलाता है। (कोण वाले स्तम्भों में) मूल में चौकोर होता है। इसके पश्चात् अष्टकोण, षोडशकोण अथवा वृत्ताकार होता है। इसकी संज्ञा पूर्वास्त्र होती है। वृत्ताकार स्तम्भ यदि कुम्भ एवं मण्डि से युक्त हो तो उसकी संज्ञा रुद्रकान्त होती है।

विस्तारद्विगुणं मध्येऽष्टास्त्रयुक्तं युगास्त्रकम् ।
वियुक्तं कुम्भमण्डिभ्यां मध्येऽष्टास्त्रं तदुच्यते ॥१६॥

यदि स्तम्भ की लम्बाई विस्तार से दुगुनी हो, मध्य में अष्टकोण एवं ऊपर तथा नीचे चौकोर हो तथा कुम्भ एवं मण्डि से रहित हो तो उसे 'मध्ये अष्टास्त्र' कहा जाता है।।१६।।

चतुरष्टास्त्रवृत्ताभं रुद्रच्छन्दं समांशतः ।
दण्डाध्यर्धे द्विदण्डेनोत्तुङ्गद्विगुणविस्तृतम् ॥१७॥

पद्मासनं तु कर्तव्यं मूले पद्मासनं भवेत् ।
यथेष्टाकृतिसंयुक्तमूर्ध्वतो वा समण्डितम् ॥१८॥

रुद्रच्छन्द संज्ञक स्तम्भ (मूल से क्रमशः ऊपर की ओर) चतुष्कोण, अष्टकोण

एवं वृत्ताकार होता है। पद्मासन संज्ञक स्तम्भ के मूल में पद्मासन की रचना की जाती है, जिसका प्रमाण डेढ़ दण्ड अथवा दो दण्ड ऊँचा एवं उसका दुगुना चौड़ा होता है। इसके ऊर्ध्व भाग में इच्छानुसार आकृति अथवा मण्डि का निर्माण करना चाहिये।

चक्रवाकाकृतिव्याप्तं मूले पद्मासनान्वितम् ।
सभद्रं मध्यभागे तु भद्रकं तद् द्विमण्डितम् ॥१९॥

भद्रक संज्ञक स्तम्भ के मूल में पद्मासन, चक्रवाक की आकृति से युक्त दो मण्डि एवं मध्य में भद्र निर्मित होता है।।१९।।

व्यालेभसिंहभूतादिमण्डितं यत्तु मूलतः ।
यथेष्टाकृतिसंयुक्तं तत्तन्नाम्ना समीरितम् ॥२०॥

जिसके मूल में व्याल, गज, सिंह एवं भूत आदि (अन्य प्राणी) अलंकृत हों एवं ऊपर इच्छानुसार आकृति का निर्माण किया गया हो, उस स्तम्भ को उसके अलङ्कार के अनुसार संज्ञा दी जाती है।।२०।।

आत्तमेव तदायामे शुण्डभेदसमन्वितम् ।
युतं तत्कुम्भमण्डिभ्यां शुण्डपादमिति स्मृतम् ॥२१॥

जिस स्तम्भ पर लम्बाई में हाथी का सूँड़ निर्मित हो एवं कुम्भ तथा मण्डि से युक्त हो, उसे शुण्डपाद स्तम्भ कहते हैं।।२१।।

मुक्तोत्करणकर्माङ्गं पिण्डिपादं तदेव हि ।
कर्मायामेन चाग्रे तु चतुरस्रसमन्वितम् ॥२२॥

तदधस्त्वर्धदण्डेन पद्मं वस्वस्रसंयुतम् ।
तदधस्तु विकारास्रं दण्डेनाब्जं तु पूर्ववत् ॥२३॥

तदधो दण्डमानेन मध्यपट्टं युगास्रकम् ।
पद्मं च षोडशास्रं च पूर्ववत्परिकल्पयेत् ॥२४॥

मूले शेषं युगास्रं स्याच्चित्रखण्डं तदुच्यते ।
तदेवाष्टास्रकं मध्यपट्टं श्रीखण्डमुच्यते ॥२५॥

शुण्डपाद में जब पूरे स्तम्भ में मोतियाँ उत्कीर्ण होती हैं तो उसे पिण्डिपाद कहते हैं। (चित्रखण्ड संज्ञक स्तम्भ के) अग्र भाग (ऊपरी भाग) में दो दण्ड से चौकोर निर्मित होता है। उसके नीचे आधे दण्ड से अष्टकोण पद्म होता है। उसके नीचे एक दण्ड माप का सोलह कोण पद्म तथा उसके नीचे एक दण्डप्रमाण का चौकोर मध्य पट्ट होता है। इसके पश्चात् (नीचे) पहले के सदृश षोडश कोण पद्म निर्मित होता

है। मूल में शेष भाग चौकोर होता है। इस स्तम्भ को चित्रखण्ड कहते हैं। इसी में यदि मध्य पट्ट अष्टकोण हो तो उसे श्रीखण्ड स्तम्भ कहते हैं।।२२-२५।।

मध्यपट्टं कलास्त्रं चेच्छ्रीवज्रस्तम्भमुच्यते ।
अग्राकारं युगास्त्रं स्यात्त्रिपट्टक्षेपणान्वितम् ॥२६॥
क्षेपणस्तम्भमित्युक्तं पट्टं पत्रादिशोभितम् ।
ऊर्ध्वाधस्ताच्छिखामानं त्रिचतुर्भागमेव वा ॥२७॥
सर्वे पोतिकया युक्ता नानारूपैर्विचित्रिताः ।

उपर्युक्त स्तम्भ में यदि मध्य पट्ट सोलह कोण हो तो उसकी संज्ञा श्रीवज्र होती है। (क्षेपण स्तम्भ के) अग्र भाग की आकृति चौकोर होती है। जिसमें तीन पट्ट से युक्त क्षेपण निर्मित होता है, उसे क्षेपण स्तम्भ कहते हैं। इसके पट्ट पत्र आदि से अलंकृत होते हैं। उसके नीचे तीन अथवा चार भाग में शिखा का मान रक्खा जाता है। सभी स्तम्भ पोतिका से युक्त एवं विभिन्न प्रकार की आकृतियों से सुसज्जित होते हैं।।२६-२७।।

✷ दण्डलक्षणम् ✷

पादाग्रविपुलं यत्तु तद् दण्डमिति कथ्यते ॥२८॥
सर्वाण्यङ्गानि हर्म्याणां मानयेद् दण्डमानतः ।

दण्ड का लक्षण—स्तम्भ के अग्र (ऊर्ध्व) भाग की चौड़ाई को दण्ड कहते हैं। भवन के सभी भागों का प्रमाण दण्डमान से मापा जाता है।।२८।।

✷ कलशलक्षणम् ✷

सपादं सार्धपादोनद्विगुणं द्विगुणोन्नतम् ॥२९॥
श्रीकरं चन्द्रकान्तं च सौमुख्यं प्रियदर्शनम् ।
यथाक्रमेण नामानि कलशानां भवन्ति हि ॥३०॥

कलश के लक्षण—कलशों के नाम क्रमशः श्रीकर, चन्द्रकान्त, सौमुख्य एवं प्रियदर्शन हैं। इनका माप (चौड़ाई में) सवा दण्ड, डेढ़ दण्ड, पौने दो दण्ड तथा दो दण्ड एवं इसके दुगुना ऊँचा होता है।।२९-३०।।

पोतिकाखण्डमण्डीनि कुम्भं स्कन्धश्च पद्मकम् ।
मालास्थानं क्रमेणैव स्तम्भाग्रात् परिकल्पयेत् ॥३१॥

स्तम्भ के ऊर्ध्व भाग से पोतिका, खण्ड, मण्डि, कुम्भ, स्कन्ध, पद्म एवं माला-स्थान का क्रमशः निर्माण करना चाहिये।।३१।।

कुम्भोच्छ्रये नवांशे धृग्भागेन चतुरंशकैः ।
कमलं कण्ठमंशेन भागेनास्यं प्रकीर्तितम् ॥३२॥

भागेन पद्ममर्धेन वृत्तमर्धेन हीरकौ ।
हीरौ पादसमव्यासौ तत्कर्णेनास्यविस्तृतम् ॥३३॥

कुम्भ की ऊँचाई के नौ भाग करने चाहिये। इसमें एक भाग से धृग्, चार भाग से कमल, एक भाग से कण्ठ, एक भाग से मुख, एक भाग से पद्म, आधा भाग से वृत्त एवं आधा भाग से दो हीरकों का निर्माण करना चाहिये। हीरकों का व्यास स्तम्भ की चौड़ाई के बराबर एवं मुख उसके कर्ण तक विस्तृत होना चाहिये।।३२-३३।।

तत्कर्णं कुम्भविस्तारं तत्कर्णं फलकायतम् ।
अथवा फलकायामं चतुर्दण्डं त्रिदण्डकम् ॥३४॥

कर्ण फलक के बराबर चौड़ा होना चाहिये एवं कर्ण के बराबर कुम्भ का विस्तार रखना चाहिये अथवा फलक का विस्तार चार दण्ड या तीन दण्ड होना चाहिये।।३४।।

सार्धत्रिदण्डमायाममुत्सेधाख्यं त्रिदण्डकम् ।
तदुत्सेधे त्रिभागे तु भागेनोत्सन्धिरिष्यते ॥३५॥

अथवा साढ़े तीन दण्ड विस्तार होना चाहिये एवं उसकी ऊँचाई तीन दण्ड रखनी चाहिये। ऊँचाई को तीन बराबर भागों में बाँटना चाहिये। ऊर्ध्व भाग की निर्मिति (उत्सन्धि) एक भाग से करनी चाहिये।।३५।।

भागेन वेत्रमंशेन पद्मं पाल्याभमिष्यते ।
नागवक्त्रसमाकारमावेत्रात् पादरूपवत् ॥३६॥

एक भाग से वेत्र एवं एक भाग से अन्दर की ओर मुड़ा पद्म होना चाहिये। यह कुम्भ स्तम्भ की आकृति के समान वेत्र से नागवक्त्र के आकार का होना चाहिये।।३६।।

पादविस्तारविस्तारं धृक्कण्ठं वीरकाण्डकम् ।
सर्वेषामपि पादानां वीरकाण्डं युगास्रकम् ॥३७॥

स्तम्भ के विस्तार के समान धृक्, कण्ठ एवं वीरकाण्ड का विस्तार रखना चाहिये। सभी स्तम्भों का वीरकाण्ड चौकोर होना चाहिये।।३७।।

तदुत्सेधत्रिपादोनं दण्डोत्थं स्कन्धमिष्यते ।
तदधस्तु तदर्धेन पद्मं पत्रविचित्रितम् ॥३८॥

मालास्थानमधस्तस्माद् दण्डमानसमुन्नतिः ।

उसकी (वीरकाण्ड की) ऊँचाई से पौन भाग कम (एक चौथाई अथवा) एक

दण्ड ऊँचा स्कन्ध होना चाहिये। उसके नीचे उसके आधे माप का पद्म होना चाहिये, जो पत्रों से अलंकृत हो। उसके नीचे माला-स्थान होना चाहिये, जो दण्डप्रमाण ऊँचा हो।।३८।।

✻ पोतिका ✻

पादविस्तारविस्तारा पोतिका तत्समोदया ॥३९॥

पोतिका (स्तम्भ का ऊपरी भाग, जो स्तम्भ से बाहर निकला हो) का विस्तार स्तम्भ के विस्तार के बराबर होना चाहिये एवं उसकी ऊँचाई भी विस्तार के बराबर होनी चाहिये।।३९।।

पञ्चदण्डसमायामा श्रेष्ठार्धोच्चा कनिष्ठिका ।
आयता सा त्रिदण्डेन चतुर्दण्डेन दीर्घका ॥४०॥
त्रिभागोना त्रिपादोच्चा मध्यमा पोतिका भवेत् ।
पूर्वोक्तं तत् समण्डीनां सकुम्भानां चतुर्गुणम् ॥४१॥

उत्तम पोतिका की चौड़ाई पाँच दण्ड एवं उसकी ऊँचाई चौड़ाई की आधी होनी चाहिये। कनिष्ठ पोतिका की चौड़ाई तीन दण्ड एवं मध्यम पोतिका की चौड़ाई तीन भाग कम चार दण्ड होनी चाहिये। (स्तम्भ का) पूर्वोक्त प्रमाण मण्डी एवं कुम्भ के साथ चार गुना हो जाता है।।४०-४१।।

त्रिगुणं केवलानां तु पादानां प्रविधीयते ।
सर्वेषामपि पादानां यथेष्टायतमीरितम् ॥४२॥

(मण्डी, कुम्भ आदि से रहित) केवल स्तम्भ का माप तीन गुना होता है। सभी पादों का यथोचित माप वर्णित किया गया है।।४२।।

तदुच्चत्रिचतुर्भागोच्चा वा स्वाग्रे तु पट्टिका ।
अर्धं त्रिद्व्यंशमङ्घ्र्यूनं छायामानं विधीयते ॥४३॥

पोतिका की ऊँचाई के तीसरे या चौथे भाग के बराबर पोतिका के ऊपर अग्र-पट्टिका निर्मित होती है। इसका छायामान आधा, दो-तिहाई अथवा तीन-चौथाई होना चाहिये।।४३।।

त्रिभागं वा चतुर्भागं तरङ्गस्थानमिष्यते ।
सक्षुद्रक्षेपणं मध्यपट्टं पत्रविचित्रितम् ॥४४॥

तीन भाग अथवा चौथे भाग में तरङ्ग-स्थान (लहरों की रचना) होना चाहिये। यह क्षुद्र-क्षेपण, मध्य पट्ट एवं पट्टों से अलंकृत होना चाहिये।।४४।।

समास्तरङ्गाश्चान्योन्यहीनाः सर्वत्र सम्मताः ।
अग्रनिष्क्राममर्धं वा त्रिभागं वा स्वतारतः ॥४५॥

सभी लहरें सम एवं एक-दूसरे से हीन नहीं होती हैं। इनका अग्र भाग एवं निष्क्राम (प्रथम छोर से अन्तिम छोर) अपने विस्तार का आधा अथवा तीसरे भाग के बराबर होना चाहिये।।४५।।

मुष्टिबन्धोपरिक्षिप्तव्यालसंहृतिरूपवत् ।
सनालीकं समतलं सनाटकमथापि वा ॥४६॥

इसके ऊर्ध्व भाग में सर्प की कुण्डली के सदृश मुष्टिबन्ध होना चाहिये, जो नालियों के सहित समतल एवं नाटकों (नाट्य चित्रों) से युक्त हो।।४६।।

भूतेभमकरैर्व्यालसंयुक्तं चाग्रमण्डनम् ।
पार्श्वयोः पोतिकामध्ये पट्टं पादविशालवत् ॥४७॥

पोतिका के ऊर्ध्व भाग में भूत (जीव-जन्तु), गज, मकर एवं व्याल आदि का अलङ्करण होना चाहिये। पोतिका का मध्य पट्ट दोनों पार्श्वों में स्तम्भ के समान विस्तृत होना चाहिये।।४७।।

रत्नबन्धक्रियावल्ली चित्रा वाग्रस्थपट्टिका ।
नानाचित्रैर्विचित्रा वा सा प्रोक्ता चित्रपोतिका ॥४८॥

जिस पोतिका की अग्रस्थ पट्टिका (ऊपरी पट्टी पर) रत्नजटित लता अङ्कित हो अथवा अनेक प्रकार के चित्रों से जिसकी सज्जा की गई हो, उसे चित्रपोतिका कहते हैं।।४८।।

पत्रैर्विचित्रिता पत्रपोतिकेति प्रकीर्तिता ।
महार्णवतरङ्गाभतरङ्गाभा तरङ्गिणी ॥४९॥

चतुःषडष्टपङ्क्त्यर्कसंख्या वा स्युस्तरङ्गकाः ।
बहवोऽपि समाश्चैते चान्योन्याः स्युर्वराः क्रमात् ॥५०॥

विभिन्न प्रकार के पत्रों से अलंकृत पोतिका को पत्रपोतिका कहते हैं। जिस पोतिका में सागर के लहरों के सदृश लहरें निर्मित हों, वह तरङ्गिणी पोतिका होती है। इन लहरों की संख्या चार, छः, आठ, दश या बारह होनी चाहिये। अथवा बहुत-सी सम संख्याओं में लहरें होनी चाहिये, जो एक-दूसरे से आगे बढ़ती हुई हों।।४९-५०।।

❋ स्तम्भविषये विशेषः ❋

पादमर्धं त्रिपादं वा भित्तेः स्तम्भस्य निर्गतम् ।
चतुरष्टास्रवृत्तानां यथाक्रममिति स्मृतम् ॥५१॥

स्तम्भ के विषय में विशेष—भित्ति के स्तम्भ का निर्गम इस प्रकार होना चाहिये—यदि चतुष्कोण हो तो चौथाई, अष्टकोण हो तो आधा तथा वृत्ताकर हो तो तीन चौथाई।।५१।।

द्विहस्ताद्यं चतुर्हस्तं स्तम्भान्तरमिति स्मृतम्।
षडङ्गुलविवृद्ध्या तु नवभेदं प्रकीर्तितम्।।५२।।

स्तम्भान्तर दो हाथ से लेकर चार हाथ तक कहा गया है। छः-छः अङ्गुल की वृद्धि करते हुये इसके नौ भेद कहे गये हैं।।५२।।

गृहीतांशवशेनापि यथायुक्त्या प्रयोजयेत्।
स्तम्भस्तम्भान्तरं सर्वं प्रासादे सार्वदेशिके।।५३।।

सभी स्थानों पर सभी भवनों में यथोचित अंश (उपर्युक्त मापों में से) ग्रहण कर स्तम्भ एवं स्तम्भान्तर में प्रयोग करना चाहिये।।५३।।

विषमस्तम्भभागं तु वास्तुवस्तुविनाशनम्।
सायतं चापि तत्सर्वं तन्नाम्नैव प्रपद्यते।।५४।।

यदि स्तम्भ-स्थापन नियमानुकूल न हो तो वह भूमि एवं भवन (तथा उसके स्वामी) का विनाश करने वाला होता है। अनुकूल स्तम्भ-स्थापन कल्याण प्रदान करता है।।५४।।

दारुस्तम्भविशालं वा सार्धं द्वित्रिगुणं तु वा।
शिलास्तम्भविशालं स्याद् देवानां नैव मानवे।।५५।।

जितना विस्तृत काष्ठस्तम्भ होता है, उतना विस्तृत, उसका आधा, दुगुना या तीन गुना विस्तृत प्रस्तरस्तम्भ हो सकता है; किन्तु इसका प्रयोग केवल देवालय में होना चाहिये, मनुष्यालय में नहीं होना चाहिये।।५५।।

इष्टकाश्मद्रुमैः सर्वैः स्तम्भाः प्रोक्ताश्चिरन्तनैः।
युग्मायुग्मं तु देवानामयुग्मं तु नृणां मतम्।।५६।।

प्राचीन मनीषियों ने सभी स्तम्भों को ईंट, प्रस्तर अथवा काष्ठ से निर्मित कहा है। देवगृहों में स्तम्भ की संख्या सम अथवा विषम हो सकती है; किन्तु मनुष्यों के गृह में स्तम्भों की संख्या विषम होनी चाहिये।।५-६।।

अन्तःस्तम्भं बहिःस्तम्भमाजुसूत्रं यथा भवेत्।
गृहाणां भित्तिमध्ये तु शालानां तु तथा भवेत्।।५७।।

जिस प्रकार आजुसूत्र (मापसूत्र) हो, उसी के अनुसार अन्तःस्तम्भ एवं बहिःस्तम्भ

का निर्माण करना चाहिये। उसी के अनुसार गृह की भित्ति के मध्य शालाओं की भी स्थिति होनी चाहिये।।५७।।

प्रासादानां तु पाद्बाह्ये पान्मध्ये शयनासने।
उपानादिशिरः केचित्केचित्स्तूप्यन्तमुन्नतम् ।।५८।।

यह माप देवालयों में स्तम्भ के बाहर से लिया जाता है। (किन्तु) शयन एवं आसन के निर्माण में पाद (पाये = स्तम्भ) के अन्दर से लिया जाता है। (प्रासादों के निर्माण में ऊँचाई का माप) कुछ विद्वानों के अनुसार उपान से शिरःप्रदेश तक माप लेना चाहिये तथा कुछ के मतानुसार मापन कार्य प्रासाद की स्तूपी तक होना चाहिये।

मुनयः प्रवदन्त्युच्चं प्रासादे सार्वदेशिके।
पाद्बाह्ये पादमध्ये वा सभामण्डपयोर्मतम् ।।५९।।

सभी स्थानों पर प्रासादों की ऊँचाई का माप इसी प्रकार लेना चाहिये, ऐसा मुनियों का मत है। सभागार एवं मण्डप में स्तम्भों के बाहर से अथवा स्तम्भ के मध्य से माप-सूत्र ले जाना चाहिये।।५९।।

अन्तर्बहिश्च मध्ये तु सालानां मानसूत्रकम्।
युञ्जीयादेवमेवं तु सर्वेषां सम्पदां पदम् ।।६०।।
विपरीते विपत्त्यै स्यादिति शास्त्रविनिश्चयः।

भवनों में मानसूत्र बाहर (भित्ति अथवा स्तम्भ के बाहर) से, भीतर से एवं मध्य से प्रयुक्त होना चाहिये। इस प्रकार का (विविध प्रकार से मानसूत्र का) प्रयोग सभी सम्पदाओं को प्रदान करने वाला होता है। इसके विपरीत (मानसूत्र द्वारा भली-भाँति मापन न करने पर) होने पर गृहस्वामी के लिये विपत्तिकारक होता है, ऐसा शास्त्रों का मत है।।६०।।

✷ द्रव्यपरिग्रहः ✷

स्तम्भोत्तरादिकाङ्गानां द्रव्यं द्रुमोपलेष्टकाः ।।६१।।

पदार्थों का संग्रह—स्तम्भ एवं उत्तर (स्तम्भ के ऊपर निर्मित भित्ति) आदि अङ्गों में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य काष्ठ, प्रस्तर एवं ईंटें हैं।।६१।।

✷ वृक्षलक्षणम् ✷

स्निग्धसारमहासारा ह्यवृद्धास्तरुणेतराः।
अवक्रा निर्व्रणाः सर्वे ग्रहीतव्या महीरुहाः ।।६२।।

वृक्ष के लक्षण—(भवनों में प्रयुक्त होने वाले काष्ठ के गुण-धर्म इस प्रकार

हैं—) स्निग्धसार (ठोस एवं चिकना), महासार (अत्यन्त दृढ़), न ही बहुत पुराना तथा न ही अपरिपक्व हो, टेढ़ा न हो तथा वृक्ष में किसी प्रकार का चोट एवं दोष न हो; ऐसा वृक्ष गृहनिर्माण में ग्रहण करने योग्य होता है।।६२।।

पुण्याद्रिवनतीर्थस्था दर्शनीया मनोरमाः ।
सर्वसम्पत्समृद्ध्यर्था भवेयुस्ते न संशयः ॥६३॥

पवित्र स्थल, पर्वत, वन एवं तीर्थों में स्थित, देखने में सुन्दर तथा मन को आकृष्ट करने वाले वृक्ष सभी प्रकार की सम्पत्ति एवं समृद्धि प्रदान करने वाले होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।।६३।।

पुरुषः खदिरः सालो मधूकः चम्पकस्तथा ।
शिंशपार्जुनाजकर्णी क्षीरिणी पद्मचन्दनौ ॥६४॥
पिशितो धन्वनः पिण्डी सिंहो राजादनः शमी ।
तिलकश्च द्रुमाश्चैते स्तम्भवृक्षाः समीरिताः ॥६५॥
निम्बासनशिरीषाश्च एकः कालश्च कट्फलः ।
तिमिसो लिकुचश्चैव पनसः सप्तपर्णकः ॥६६॥
भौमा चैव गवाक्षी चैत्यादयश्चोर्ध्वभूरुहाः ।

स्तम्भ में प्रयोग के योग्य वृक्ष इस प्रकार हैं—पुरुष, कत्था, साल, महुआ, चम्पक, शीशम, अर्जुन, अजकर्णी, क्षीरिणी, पद्म, चन्दन, पिशित, धन्वन, पिण्डी, सिंह, राजादन, शमी एवं तिलक। इसी प्रकार निम्ब, आसन, शिरीष, एक, काल, कट्फल, तिमिस, लिकुच, कटहल, सप्तपर्णक, भौमा एवं गवाक्षी के वृक्ष भी ग्रहण करने योग्य होते हैं।।६४-६६।।

✵ शिलालक्षणम् ✵

एकवर्णाः स्थिराः स्निग्धाः सुखसंस्पर्शनान्विताः ॥६७॥
प्राचीनाश्चाप्युदीचीना भूमग्नाः शुभदाः शिलाः ।

शिला के लक्षण—शुभ शिला एक रंग की, दृढ़, (किन्तु छूने पर) चिकनी, छूने पर अच्छी लगने वाली, भूमि में गड़ी होने पर पूर्वमुख अथवा उत्तर की ओर मुख वाली होती है।।६७।।

✵ इष्टकालक्षणम् ✵

स्त्रीलिङ्गाश्चापि पुँल्लिङ्गा निर्दोषाश्च नपुंसकाः ॥६८॥

सुघनाः समदग्धाश्च सुस्वराश्चेष्टकाः शुभाः ।
स्त्रीलिङ्गाश्चापि पुँल्लिङ्गा भिन्नाश्छिद्रादिवर्जिताः ॥६९॥

ईंटों के लक्षण—इष्टकायें स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग एवं नपुंसक लिङ्ग की होती हैं। इन्हें दोषहीन, घनी (जिसमें मिट्टी खूब दबा कर बैठायी गई हो), आग में चारो ओर समान रूप से पकी हो, (बजाने पर) सुन्दर स्वर वाली, दरार, टूटन तथा छिद्ररहित होनी चाहिये। (ये लक्षण) स्त्रीलिङ्ग एवं पुँल्लिङ्ग (दोनों) इष्टकाओं के लिये कहे गये हैं।।६८-६९।।

एतैरेवंविधैर्द्रव्यैः कृतं वस्तु समृद्धये ।
धर्मार्थकामसौख्यानां भवेदेवेति निश्चितम् ॥७०॥

इस प्रकार के इन पदार्थों से निर्मित भवन निश्चित रूप से धर्म, अर्थ एवं काम के सुख को प्रदान करने वाला होता है।।७०।।

✺ वर्ज्याः वृक्षाः ✺

न देवतालयान्तःस्थाः प्रहता वा न विद्युताः ।
न दावानलसंलीढा न भूतालयमध्यगाः ॥७१॥

त्याज्य वृक्ष—गृहनिर्माण में त्याज्य वृक्ष इस प्रकार हैं—देवालय के निकट स्थित वृक्ष, शस्त्रादि से आहत वृक्ष, आकाशीय बिजली से जला हुआ वृक्ष, वन की अग्नि से जला हुआ तथा प्रेतस्थल पर उगा हुआ वृक्ष (भवन के काष्ठ के लिये) ग्राह्य नहीं होता है।।७१।।

न महापथसंरूढा न तु ग्रामसमुद्भवाः ।
न घटाम्बुभिरासिक्ता न पक्षिमृगसेविताः ॥७२॥

प्रधान मार्ग पर उगा वृक्ष, ग्राम में उत्पन्न वृक्ष, घट के जल से सिञ्चित वृक्ष तथा पक्षियों एवं पशुओं से सेवित वृक्ष गृहनिर्माण के लिये ग्राह्य नहीं होता है।।७२।।

न वायुना न मातङ्गैर्भग्ना नैव गतासवः ।
न चण्डालजनाकीर्णा न सर्वजनसेविताः ॥७३॥

वायु द्वारा तोड़ा गया, गजों द्वारा तोड़ा गया, समाप्त जीवन वाला, चण्डालवर्ग के लोगों को शरण देने वाला तथा जिस वृक्ष के नीचे (चण्डालवर्ग को छोड़ कर) अन्य सभी वर्ग के लोग शरण लेते हों (इस वर्ग के वृक्ष भी भवन के लिये अग्राह्य होते हैं)।।७३।।

नान्योन्यवलिता भग्ना न वल्मीकसमाश्रिताः ।
न लतालिङ्गिता गाढा न सिराकोटरावृताः ॥७४॥

दो वृक्ष आपस में लिपटे हुये हों, टूटे हों, दीमक लगे हों, उस वृक्ष से घनी लता लिपटी हो तथा उस वृक्ष पर पक्षियों के घोसले हों इस प्रकार के वृक्ष भवन के लिये अग्राह्य होते हैं।।७४।।

नाङ्कुरावृतसर्वाङ्गा न भृङ्गकीटदूषिताः ।
नाकालफलिनो ग्राह्या न श्मशानसमीपगाः ।।७४।।

जिस वृक्ष के सभी अङ्गों पर अङ्कुर निकले हों, भ्रमरों तथा कीटों से दोषयुक्त, विना समय फलने वाले तथा श्मशान के समीप उगे वृक्ष (गृहनिर्माण के लिये) ग्राह्य नहीं होते हैं।।७५।।

सभाचैत्यसमीपस्था देवादीनां न भूरुहाः ।
वापीकूपतटाकादिवस्तुष्वपि च सम्भवाः ।।७६।।

सभागार एवं चैत्य (ग्राम का पूजनीय स्थल) के समीप तथा देवालय के समीप उगे वृक्ष तथा वापी, कूप एवं तालाब आदि निर्माण-स्थलों पर उगे वृक्ष भी (भवन-निर्माण के लिये) ग्राह्य नहीं होते हैं।।७६।।

विनष्टवस्तुसञ्जातद्रव्यं सर्वविपत्करम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शुद्धं द्रव्यं प्रगृह्यताम् ।।७७।।

अग्राह्य वृक्षादि से निर्मित पदार्थ (जब भवन में प्रयुक्त होते हैं तो) सभी प्रकार की विपत्तियों के कारक बनते हैं। इसलिये प्रयत्नपूर्वक शुद्ध पदार्थों को ही लेना चाहिये।।७७।।

शिला देवालये ग्राह्या द्विजावनिपयोर्मताः ।
पाषण्डिनां च कर्तव्या न कुर्याद्वैश्यशूद्रयोः ।।७८।।

प्रस्तर का प्रयोग देवालय, ब्राह्मण, राजा तथा पाषण्डियों (विधर्मी) के गृह में होना चाहिये; किन्तु वैश्य एवं शूद्र के भवन में नहीं करना चाहिये।।७८।।

कर्तव्यं यदि तद्वास्तु धर्मकामार्थनाशकृत् ।
एकद्रव्यकृतं शुद्धं मिश्रं द्विद्रव्यनिर्मितम् ।।७९।।
त्रिद्रव्यसंयुतं यत्तु तत् सङ्कीर्णमुदाहृतम् ।
पूर्वोदितानां वासेषु कर्तव्यं सम्पदां पदम् ।।८०।।

यदि उस प्रकार का (वैश्य एवं शूद्र के भवन में शिलाप्रयोग) भवन निर्मित किया गया तो वह धर्म, काम एवं अर्थ का नाश करता है। एक पदार्थ से निर्मित भवन की संज्ञा 'शुद्ध', दो द्रव्य से निर्मित भवन 'मिश्र' तथा तीन द्रव्य-मिश्रित पदार्थ से

निर्मित भवन की संज्ञा 'सङ्कीर्ण' होती है। पहले वर्णित नियमों के अनुसार निर्मित भवन सम्पत्ति प्रदान करता है।।७९-८०।।

✵ वृक्षसंग्रहणम् ✵

सर्वद्वारिकनक्षत्रे शुभपक्षमुहूर्तके ।
गच्छेदरण्यं द्रव्यार्थी कृतकौतुकमङ्गलः ॥८१॥

काष्ठ हेतु वृक्ष का संग्रह—(गृहनिर्माण हेतु काष्ठ के संग्रह के लिये) पदार्थों की कामना रखने वाले (गृहस्वामी) को शुभ कृत्य करके सर्वद्वारिक नक्षत्र में शुभ (शुक्ल) पक्ष में एवं शुभ मुहूर्त में वन की ओर प्रस्थान करना चाहिये।।८१।।

निमित्तैः शकुनैर्योग्यैः सह मङ्गलशब्दकैः ।
गन्धैः पुष्पैश्च धूपैश्च मांसेन कृसरेण च ॥८२॥

पायसौदनमत्स्यैश्च भक्षैश्चापि पृथग्विधैः ।
अर्चयेदीप्सितान् सर्वान् वृक्षांश्च वनदेवताः ॥८३॥

अच्छे लक्षणों वाले शकुनों एवं मङ्गलध्वनि के साथ वनदेवताओं एवं सभी अभीष्ट वृक्षों की गन्ध, पुष्प, धूप, मांस, खिचड़ी, दूध, भात, मछली एवं विविध प्रकार की भोज्य सामग्रियों से पूजा करनी चाहिये।।८२-८३।।

भूतक्रूरबलिं दत्त्वा कर्मयोग्यद्रुमं हरेत् ।
मूलाग्रादार्जवं वृत्तं शाखानेकसमन्वितम् ॥८४॥

(वृक्षों में निवास करने वाले) भूतों (प्रेत, पिशाच, ब्रह्म आदि) के लिये क्रूर बलि (रक्त, मांस आदि) देकर अपने कार्य के अनुकूल वृक्ष का चयन करना चाहिये। ये वृक्ष जड़ से शिरोभाग तक सीधे, गोलाकार एवं अनेक शाखाओं से युक्त होने चाहिये।।८४।।

तत्तु पुंस्त्वं भवेन्मूले स्थूलं स्त्रीत्वं कृशाग्रकम् ।
स्थूलाग्रं कृशमूलं तु षण्डमेतदुदीरितम् ॥८५॥

उपर्युक्त वृक्ष 'पुरुष' होते हैं। जो वृक्ष मूल में स्थूल एवं ऊर्ध्व भाग में पतले होते हैं, वे 'स्त्री' वृक्ष हैं तथा जिनका मूल कृश एवं ऊर्ध्व भाग स्थूल हो, वे वृक्ष 'षण्ड' (नपुंसक) होते हैं।।५८।।

मुहूर्तस्तम्भमुद्दिश्य पुम्भूरुह उदीरितः ।
सर्वेष्वङ्गेषु वस्तूनां पुंस्त्रीषण्डं प्रकीर्तितम् ॥८६॥

'मुहूर्तस्तम्भ' (शिलान्यास के स्थान पर स्थापित होने वाला स्तम्भ) पुरुष वृक्ष

का होना चाहिये। गृह के अन्य भागों के लिये पुरुष, स्त्री एवं षण्ड तीनों वृक्षों का प्रयोग हो सकता है।।८६।।

पूर्वाशायां द्रुमस्यास्य स्वपेद् दर्भान्तरे शुचिः।
स्वप्रदक्षिणपार्श्वे तु संस्थाप्य परशुं सुधीः ॥८७॥

(काष्ठानयन के लिये गये व्यक्ति को) बुद्धिमान एवं पवित्र व्यक्ति (स्थपति) को वृक्ष के नीचे पूर्व दिशा में कुश बिछा कर एवं अपने दाहिने भाग में परशु रख कर रात्रि में वहीं शयन करना चाहिये।।८७।।

पीत्वा शुद्धं पयो रात्रावपराभिमुखोऽपरः।
स्थपतिर्वरवेषाढ्यो मन्त्रयेत् सपरश्वधः ॥८८॥

इसके पश्चात् रात्रि (शेष रहने पर) शुद्ध जल पीकर पश्चिमाभिमुख होकर सुन्दर वेष धारण कर हाथ में परशु लेकर स्थपति को इस प्रकार मन्त्रपाठ करना चाहिये।।८८।।

अयं मन्त्रः—

अपक्रामन्तु भूतानि देवताश्च सगुह्यकाः।
युष्मभ्यं तु बलं भूयः सोमो दिशतु पादपाः! ॥८९॥

इस वृक्ष से भूत-प्रेत, देवता, गुह्यक आदि दूर हो जायँ। हे वृक्षों! आपको सोम देवता बल प्रदान करें।।८९।।

शिवमस्तु महीपुत्रा! देवताश्च सगुह्यकाः!।
कर्मैतत् साधयिष्यामि क्रियतां वासपर्ययः ॥९०॥

हे वृक्षों, देवों एवं उनके साथ गुह्यकों! (हमारा) कल्याण हो। मैं अपना (इन काष्ठों से गृहनिर्माणरूपी) कार्य सिद्ध करना चाहता हूँ। आप दूसरे स्थान पर निवास ग्रहण करें।।९०।।

एवमुक्त्वा नमस्कृत्य पादपेभ्यो नमः शुचिः।
दुग्धतैलघृतैः सम्यक् सन्तेज्य परशोर्मुखम् ॥९१॥

इस प्रकार मन्त्र बोल कर पवित्र स्थपति वृक्षों को प्रणाम करके दूध, तेल एवं घी से परशु (फरसा, कुल्हाड़ी) के मुख (धार) को भली-भाँति तेज करे।।९१।।

उपक्रामेत्तु तं छेत्तुं यथाकामं वनस्पतिम्।
मूले हस्तं व्यपोह्योर्ध्वे त्रिश्छित्वा तत्र लक्षयेत् ॥९२॥

(परशु को तेज करके) उस अभीष्ट वृक्ष के पास उसे काटने के लिये जाना चाहिये। उस वृक्ष के मूल से एक हाथ छोड़कर तीन बार (परशु द्वारा) छेद कर उसका निरीक्षण करना चाहिये।।९२।।

वारिस्रावो विवृद्ध्यर्थः क्षीरं पुत्रविवर्धनम् ।
शोणितं स्वामिनं हन्याद्वर्जयेत्तं प्रयत्नतः ॥९३॥

कटे स्थान से यदि जल बहे तो वह वृक्ष गृहस्वामी को वृद्धि प्रदान करता है। यदि दूध का स्राव हो तो पुत्रों की वृद्धि प्रदान करने वाला तथा रक्त का (लाल वर्ण का स्राव) स्राव गृहस्वामी को मृत्यु प्रदान करने वाला होता है। ऐसे वृक्ष को प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये।।९३।।

पतने सिंहशार्दूलहस्तिशब्दाः सुशोभनाः ।
रुदितं हसितं क्रोशं कूजितं निन्दितं वरैः ॥९४॥

कटे वृक्ष के गिरने के समय यदि सिंह, शार्दूल एवं गज के स्वर सुनाई पड़ें तो शुभ होता है। इसके विपरीत विद्वानों ने रोदन, हँसने, आक्रोशपूर्ण एवं गुञ्जन के स्वर को निन्दनीय कहा है।।९४।।

पातयेदुत्तराग्रं तु पूर्वाग्रं वा वनस्पतिम् ।
ते दिशौ शुभदे स्यातामन्याशासु विपर्यये ॥९४॥

वृक्ष यदि पूर्व या उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर गिरे तो दोनों दिशायें शुभ होती हैं। अन्य दिशाओं में वृक्ष का पतन विपरीत परिणाम प्रदान करता है।।९५।।

सालाश्मर्यजकर्णीनामूर्ध्वे तु पतनं शुभम् ।
मूले पृष्ठागमे बन्धुप्रेष्ययोश्च विनाशनम् ॥९६॥

यदि साल, अश्मरी एवं अजकर्णी वृक्षों का ऊर्ध्व भाग गिरे तो शुभ; किन्तु यदि पतन होते समय ऊपरी भाग नीचे एवं पृष्ठ या मूल भाग ऊपर होकर गिरे तो गृहस्वामी के बन्धु-बान्धवों एवं परिचारकों का विनाश होता है।।९६।।

निर्गमत्स्थितिमद् भूत्वा वृक्षान्तरनिपातने ।
शिरःसङ्गेन नाशः स्यान्मूलसङ्गे श्रमो भवेत् ॥९७॥

काटने के पश्चात् अन्य वृक्षों के मध्य गिरता हुआ वृक्ष यदि अन्य वृक्षों के शीर्ष भाग से सहारा पाकर गिरने से रुक जाता है तो गृहस्वामी का विनाश होता है तथा जड़ के सहारे रुकने पर गृहस्वामी के अस्वास्थ्य का कारण बनता है।।९७।।

शरीरभङ्गं कर्तृणां नाशमग्रेऽप्यपत्यहृत् ।
अन्योन्यपतनं पूज्यं छेद्यं चोभयतः समम् ॥९८॥

यदि वृक्ष का मध्य भाग टूट जाय तो वृक्ष काटने वाले का नाश होता है तथा शीर्ष भाग के टूटने पर सन्तति का नाश होता है। वृक्षों का एक-दूसरे पर गिरना (एक

वृक्ष के ऊपर दूसरे कटे वृक्ष का गिरना) प्रशस्त होता है। वृक्षों के दोनों भागों को बराबर काटना चाहिये।।९८।।

चतुरस्रमृजुं कृत्वा मुहूर्तस्तम्भसंग्रहे ।
सितपट्टेन सञ्छाद्य स्यन्दने न्यस्य वेशयेत् ॥९९॥

(कटे वृक्ष के दोनों छोरों को बराबर काट कर) काष्ठ को चौकोर एवं सीधा बनाना चाहिये तथा उसे मुहूर्तस्तम्भ के लिये ग्रहण करना चाहिये। तत्पश्चात् उस काष्ठ को श्वेत वस्त्र से ढँककर स्यन्दन (रथ, गाड़ी) में रखना चाहिये।।९९।।

देवद्विजमहीपानां विशां वै शकटेन तु ।
शूद्रस्य पुरुषस्कन्धेनानीयात्तु विचक्षणः ॥१००॥

देवों, ब्राह्मणों, राजाओं एवं वैश्यों का काष्ठ शकट (गाड़ी) द्वारा ले जाया जाना चाहिये तथा बुद्धिमान व्यक्ति को शूद्र के गृह का काष्ठ पुरुष के कन्धों द्वारा ढ़ोकर ले जाना चाहिये।।१००।।

पार्श्वयोः शाययित्वा तु शकटे न्यस्य वेशयेत् ।
प्रशस्ते द्वारि प्रग्राह्य स्थपत्यनुगतद्रुमम् ॥१०१॥

वृक्षों (काष्ठों) को लिटा कर दोनों पार्श्वों से शकट में रखना चाहिये। स्थपति द्वारा चुने गये वृक्षों को प्रशस्त द्वार द्वारा (कर्ममण्डप में) प्रवेश कराना चाहिये।।१०१।।

कर्ममण्डपके न्यस्य बालुकोपरि शाययेत् ।
प्रागग्रं चोत्तराग्रं वाप्याशुष्कं रक्षयेत् पुनः ॥१०२॥

कर्ममण्डप (कार्यशाला) में वृक्षों का प्रवेश कराकर उन्हें बालू पर लिटा देना चाहिये। उनका शीर्ष भाग पूर्व अथवा उत्तर की ओर होना चाहिये। इनके सूखने तक इनकी रक्षा करनी चाहिये।।१०२।।

परावृत्तं न कर्तव्यमाषण्मासं तु स द्रुमः ।
सर्वेन्द्रकीला एवं स्युः प्रापणीयाः प्रयत्नतः ॥१०३॥

छः मासों तक इन वृक्षों को अपने स्थान से नहीं हिलाना चाहिये। इसी प्रकार सभी इन्द्रकीलों (कीलों) को भी प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिये।।१०३।।

अन्येषामपि कुप्यानां वेशने त्वग्रमग्रतः ।

अन्य धातु आदि पदार्थों का संग्रह करके उन्हें भी इसी प्रकार करना चाहिये।

✷ मुहूर्त्तस्तम्भः ✷

मुहूर्त्तस्तम्भो देवानां द्विजातीनां यथाक्रमम् ॥१०४॥

कार्तमालश्च खदिरः खादिरश्च मधूककः।
राजादनो यथासङ्ख्यं विस्तारायाममुच्यते ॥१०५॥

मुहूर्त्त-स्तम्भ—देवों एवं द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के मुहूर्तस्तम्भ (का काष्ठ) क्रमशः इस प्रकार होता है—कार्तमाल, खदिर, खादिर, मधूक एवं राजादन। इनका विस्तार एवं लम्बाई क्रमशः इस प्रकार वर्णित है—॥१०४-१०५॥

भानुरुद्रदशद्वारवितस्त्यायामसंयुताः।
तत्सङ्ख्याङ्गुलिविस्तीर्णाः पङ्क्त्यंशोनाग्रविस्तराः ॥१०६॥

इनकी ऊँचाई (या लम्बाई) बारह, ग्यारह, दश या नौ वितस्ति (बित्ता) एवं विस्तार भी इतने ही अंगुल का होता है। इसके अग्र भाग (शीर्ष भाग) का विस्तार दश भाग कम होता है॥१०६॥

भूतसार्धचतुर्वेदगुणतालनिखातकाः।
भूमिभूमिवशादुक्तं स्तम्भोच्चं विपुलं तु वा ॥१०७॥

गर्त में रहने वाले मूल भाग की चौड़ाई पाँच, साढ़े चार, चार या तीन बित्ता होनी चाहिये। अथवा स्तम्भ की ऊँचाई एवं चौड़ाई भवन के तल के अनुसार रखनी चाहिये॥१०७॥

झषालाङ्घ्रौ तु सर्वत्र निखातं परिवर्जयेत्।

झषालाङ्घ्रि स्तम्भ में सभी स्थानों पर गर्त का परित्याग करना चाहिये॥१०७॥

अश्वत्थोदुम्बरश्चैव प्लक्षश्च वटवृक्षकः ॥१०८॥

सप्तपर्णश्च बिल्वश्च पलाशः कुटजस्तथा।
पीलुः श्लेष्मातकी लोध्रः कदम्बः पारिजातकः ॥१०९॥

शिरीषः कोविदारश्च तिन्त्रिणीको महाद्रुमः।
शिलीन्ध्रः सर्पमारश्च शाल्मली सरलस्तथा ॥११०॥

किंशुकश्चारिमेदश्चाभयाक्षामलकद्रुमाः।
कपित्थः कण्टकश्चैव पुत्रजीवश्च डुण्डुकः ॥१११॥

कारस्करः करञ्जश्च वरणश्चाश्मारकः।
बदरो वकुलः पिण्डी पद्मकस्तिलकस्तथा ॥११२॥

पाटल्यगरुकर्पूरा न ग्राह्या गृहकर्मणि।
देवयोग्या इमे सर्वे मानुषाणामनर्थदाः ॥११३॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गृह्णीयान्न नरालये।

अश्वत्थ (पीपल), उदुम्बर (गूलर), प्लक्ष (पाकड़), वट (बरगद), सप्तपर्ण, बिल्व (बेल), पलाश, कुटज, पीलु, श्लेष्मातकी (लिसोढ़ा), लोध्र, कदम्ब, पारिजात, शिरीष, कोविदार (कचनार), तिन्त्रिणी, महाद्रुम, शिलीन्ध्र, सर्पमार, शाल्मली (सेमल), सरल (चीड़), किंशुक, अरिमेद, अभया, अक्ष, आमलकद्रुम, कपित्थ (कैथा), कण्टक, पुत्रजीव, डुण्डुक, कारस्कर, करञ्ज, वरण, अश्वमारक, बदर, वकुल, पिण्डी, पद्मक, तिलक, पाटली, अगरु तथा कपूर के वृक्षों का प्रयोग गृहनिर्माण में नहीं करना चाहिये। ये सभी वृक्ष देवों के योग्य हैं; लेकिन मनुष्यों के लिये अनर्थकारक होते हैं। इसलिये मनुष्यों के गृह-निर्माण के लिये इनको प्रयत्नपूर्वक नहीं ग्रहण करना चाहिये अर्थात् इन वृक्षकाष्ठों का परित्याग कर देना चाहिये।

❋ इष्टकासंग्रहणम् ❋

ऊषरं पाण्डुरं कृष्णाचिक्कणं ताम्रपुल्लकम् ॥११४॥

ईंटों का संग्रह—(मृत्तिका चार प्रकार की होती है—) ऊषर (लोनी, नमकीन), पाण्डुर (सफेद), कृष्ण-चिक्कण (काली और चिकनी) एवं ताम्रपुल्लक (लाल वर्ण की खिली हुई)।।११४।।

मृदश्चतस्त्रस्तास्वेव गृह्णीयात्ताम्रपुल्लकम् ।
अशर्कराश्ममूलास्थिलोष्टं सतनुवालुकम् ॥११५॥

मृत्तिकायें चार प्रकार की होती हैं। इनमें ताम्रपुल्लक मृत्तिका इष्टकादि के लिये ग्रहण करने योग्य होती है। इसमें कंकड़, पत्थर, जड़ एवं अस्थि के टुकड़े नहीं होने चाहिये; साथ ही इसमें महीन बालू होना चाहिये।।११५।।

एकवर्णं सुखस्पर्शमिष्टं लोष्टेष्टकादिषु ।
मृत्खण्डं पूरयेदग्रे जानुदघ्ने जले ततः ॥११६॥

यह मृत्तिका एक रंग की एवं छूने में सुखद होनी चाहिये। लोष्ट (टाइल्स) एवं ईंट के निर्माण के लिये (गर्त में) घुटने के बराबर जल में मिट्टी डालनी चाहिये।।११६।।

आलोड्य मर्दयेत्पद्भ्यां चत्वारिंशत्पुनः पुनः ।
क्षीरद्रुमकदम्बाम्राभयाक्षत्वग्जलैरपि ॥११७॥
त्रिफलाम्बुभिरासिक्त्वा मर्दयेन्मासमात्रकम् ।

मिट्टी एवं पानी को अच्छी तरह से मिलाकर पैरों से चालीस बार उनका मर्दन करना चाहिये। इसके पश्चात् क्षीरद्रुम, कदम्ब, आम, अभया एवं अक्ष वृक्ष के छाल के जल से एवं त्रिफला के जल से सिञ्चित कर तीस बार मर्दन करना चाहिये अर्थात् पैरों से सानना चाहिये।।११७।।

चतुष्पञ्चषडष्टाभिमर्त्रैस्तद्द्विगुणायताः ॥११८॥
व्यासार्धार्धत्रिभागैकतीव्रा मध्ये परेऽपरे ।
इष्टका बहुशः शोष्याः समदग्धाः पुनश्च ताः ॥११९॥

(उपर्युक्त विधि से तैयार की गई मिट्टी से) चार, पाँच, छः या आठ अङ्गुल चौड़ी, चौड़ाई की दुगुनी लम्बी तथा चौड़ाई की चतुर्थांश, आधा अथवा तीसरे भाग के बराबर मोटी ईंटों का निर्माण करना चाहिये। इनकी मोटाई एक छोर से दूसरे छोर तक बराबर होती है। ईंटों को पूर्ण रूप से सुखाकर पुनः इन्हें समान रूप से पकाया जाता है।।११८-११९।।

एकद्वित्रिचतुर्मासमतीत्यैव विचक्षणः ।
जले प्रक्षिप्य यत्नेन जलादुद्धृत्य तत्पुनः ।
निरार्द्रास्ताः प्रयोक्तव्या इष्टका इष्टकर्मणि ॥१२०॥

इसके पश्चात् एक, दो, तीन या चार मास बीत जाने पर बुद्धिमान (स्थपति) को ईंटों को यत्नपूर्वक जल में डाल कर पुनः जल से निकालना चाहिये। जब ईंटें सूख जायँ तब इच्छित निर्माणकार्य में इनका प्रयोग करना चाहिये।।१२०।।

एवं द्रुमेष्टकशिला विधिना गृहीत्वा
कुर्वन्तु वस्तु विहिता हि वराः समृद्ध्यै ।
यन्निन्दितं त्वपरवस्त्ववशिष्टमाद्यै-
र्द्रव्यं विनष्टभवनप्रभवं विपत्त्यै ॥१२१॥

इस प्रकार विधिपूर्वक वृक्ष (काष्ठ), ईंट एवं शिला आदि लेकर भवननिर्माण करना चाहिये। श्रेष्ठ जन ऐसे भवन को समृद्धिदायक कहते हैं। जो पदार्थ निन्दित हैं अथवा दूसरे भवन से लिये गये हैं (पुराने भवन से निकले ईंट, काष्ठ आदि), उनसे निर्मित भवन नष्ट हो जाते हैं तथा (गृहस्वामी के लिये) विपत्ति के कारण बनते हैं, ऐसा प्राचीन जनों का मत है।।१२१।।

स्तम्भायामं तारमाकारभेदं
सालङ्कारं भूषणं च क्रमेण ।
युक्त्या युक्तं सम्पदामास्पदं तत्
प्रोक्तं नृणां तैतिलानां मयेह ॥१२२॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे पादप्रमाणद्रव्यपरिग्रहो
नाम पञ्चदशोऽध्यायः

स्तम्भों की लम्बाई, मोटाई एवं आकारों का वर्णन उनके अलङ्कार एवं सज्जा-सहित क्रमानुसार किया गया है। मनुष्यों एवं देवों के गृह में विधिपूर्वक इनका प्रयोग सम्पत्ति प्रदान करता है, ऐसा मय द्वारा वर्णित है।।१२२।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

१. स्तम्भ के मान एवं भेद (श्लोक १-२८)

(क) समराङ्गणसूत्रधार (२८.२७-३३) में पद्मकस्तम्भ, घटपल्लवक स्तम्भ, कुबेर एवं श्रीधर संज्ञक चार स्तम्भों का उल्लेख किया गया है। विभिन्न प्रकार के अलङ्करणों से युक्त पद्मकस्तम्भ, अष्टकोण घटिका, पुष्पमाला एवं पल्लव आदि से अलंकृत घटपल्लवक स्तम्भ, षोडश कोण से युक्त कुबेरस्तम्भ तथा ऊपर पल्लवों से युक्त चौकोर श्रीधर संज्ञक स्तम्भ होते हैं—

एवं गृहाणां चत्वारः स्तम्भा लक्ष्मभिरीरिताः। (२८.३३)

(ख) विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (६४ अ.) में स्तम्भों को सभी निर्माण का आधार कहा गया है। इसका निर्माण सुकरता, सुख एवं शोभा के लिये किया जाता है। इसका निर्माण प्रस्तर, धातु, काष्ठ अथवा इष्टकाओं द्वारा किया जाता है—

निर्माणस्य यथा भूमिराधारस्सम्प्रकीर्तितः।
तथा तस्याधारमाहुः पादं शिल्पविशारदाः।।१।।

सौकर्यञ्च सुखं शोभालाभः पादप्रकल्पनात्।
तस्मात्तत्कल्पयेच्छिल्पी शिलालोहद्रुमेष्टकैः।।२।।

इस ग्रन्थ में बारह प्रकार के स्तम्भों का वर्णन किया गया है। ये हैं—देवकान्त, ब्रह्मकान्त, इन्द्रकान्त, विष्णुकान्त, स्कन्दकान्त, सोमकान्त, सुप्रतीकान्त, सूर्यकान्त, ब्राह्मणकान्त, कैलासकान्त, मेरुकान्त एवं नन्दिकान्त स्तम्भ। आकृति एवं लक्षण-सहित इनका वर्णन इस प्रकार है—

देवकान्तं ब्रह्मकान्तमिन्द्रकान्तमथापि वा।।३।।

विष्णुकान्तं स्कन्दकान्तं सोमकान्तमिति क्रमात्।
वर्तुलं चतुरस्रञ्च षडस्रन्त्वष्टपट्टिकम्।।४।।

द्वादशास्रं षोडशास्रं पादकल्पं विदुर्बुधाः।
पुरः पश्चात्सर्वतो वा कल्पस्तम्भप्रकल्पनम्।।५।।

युग्मद्वियुग्मसङ्कीर्णोपस्तम्भादिप्रकल्पनम्।
सुप्रतीकान्तकं सूर्यकान्तं ब्राह्मणकान्तकम्।।६।।

कैलासमेरुकं कान्तं तथा नन्दीशकान्तकम्।
इति द्वादशभेदेन स्तम्भानां कल्पनं मतम्।।७।।

इनके प्रमाण एवं अलङ्करण का भी वर्णन प्राप्त होता है (८-३४ श्लोक)। इन पर गज, वाजन, चक्रवाक, हंस, शुक, सारिका, विभिन्न देवता, लता, पुष्प आदि का अङ्कन करना चाहिये। इनके लिये उपयुक्त काष्ठ तिलक, शाल, श्रीपर्ण, चन्दन, शमी आदि सारवान एवं दोषरहित वृक्षों से ग्रहण करने चाहिये।

(ग) राजवल्लभमण्डन (अ. ५) में स्तम्भ के विषय में इस प्रकार वर्णन प्राप्त होता है—

स्तम्भोऽष्टास्रसुवृत्तभद्रसहितो रूपेण चालङ्कृतो
युक्तः पल्लवकैस्तथाभरणकं स्यात्पल्लवेनावृतम्।
कुम्भी भद्रयुता कुमारसहितं शीर्षं तथा किन्नराः
पत्रं चेति गृहे न शोभनमिदं प्रासादके शस्यते।। (५.३३)

स्तम्भ अष्टकोणीय, वृत्ताकार, भद्रयुक्त, विविध रूपों से सुसज्जित, पल्लव, आभरण, कुम्भी, भद्र, कुमार एवं शीर्ष पर किन्नर से युक्त होना चाहिये। इस प्रकार का स्तम्भ देवालय में प्रशस्त होता है।

(घ) मनुष्यालयचन्द्रिका (५ अ. २१-२५) में दृढ़ अधिष्ठान के लिये ओमा, घट, मण्डि अथवा घटफलक, वीरकाण्ड एवं पोतिका संज्ञक अवयवों का निर्माण किया जाता है। इन स्तम्भों का मध्य भाग गृहकर्त्ता को रुचि के अनुसार चौकोर, गोल, अष्ट अथवा षोडश कोण बनाना चाहिये। स्तम्भ की स्थापना के लिये स्तम्भ के मूल में स्थित ओमा में गर्त बनाना चाहिये। स्तम्भ में मूलाग्र (लकड़ी की चूल) निर्मित कर उसे ओमा में स्थापित किया जाता है—

स्तम्भाः स्वविस्तारहुताशभागप्रक्लृप्तमूलाग्रशिखासमेताः।
स्थाप्या यथार्हं निजपीठकोर्ध्वं तद्गर्तसंलग्नशिखाः समस्ताः।।२३।।

(ङ) शिल्परत्न (पूर्वभाग २१ अ.) में स्तम्भों के माप, अङ्ग, आकृति एवं अलङ्करण आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इनमें चौकोर स्तम्भ ब्रह्मकान्त, अष्टकोण विष्णुकान्त (५८ श्लोक), षट्कोण इन्द्रकान्त या स्कन्दकान्त, द्वादश कोण भानुकान्त, षोडश कोण चन्द्रकान्त (५९), वतुर्लाकार ईशकान्त, मूल में चौकोर एवं मध्य में अष्टकोण रुद्रकान्त स्तम्भ (६०-६१) होते हैं। अलङ्करणों के अनुसार भद्रकान्त, वज्रकान्त आदि स्तम्भों के भेद वर्णित हैं। स्तम्भों का सामान्य वर्णन इस प्रकार किया गया है—

कार्याः स्युश्चरणा युगाष्टनृपकोणाः सर्वतो वर्तुला
विस्तारत्रिगुणोपरित्रिगुणविस्तारोन्मिताष्टास्रकाः ।

मूलोद्भावितकर्णसूत्रचतुरस्रोर्ध्वांशवृत्ताः पुनः
शुण्डूद्भेदविचित्रवृत्तिरुचिरा वारब्धगेहोचिताः।।५७।।

लगभग यही श्लोक तन्त्रसमुच्चय (२.२४) में भी प्राप्त होता है।

(च) मत्स्यपुराण (२५५.३-६) में पाँच प्रकार के स्तम्भों द्विवज्र, षोडशास्र, बत्तीस कोण, प्रलीनक एवं वृत्ताकार का वर्णन, उनके पद्म-कुम्भादि अङ्गों का एवं अलङ्करण का उल्लेख प्राप्त होता है—

द्विवज्रः षोडशास्रस्तु द्वात्रिंशास्रः प्रलीनकः।
मध्यप्रदेशे यः स्तम्भो वृत्तो वृत्त इति स्मृतः।।

एते पञ्च महास्तम्भाः प्रशस्ताः सर्ववास्तुषु।
पद्मवल्लीलताकुम्भपत्रदर्पणरूपिताः ।।

स्तम्भस्य नवांशेन पद्मकुम्भान्तराणि तु।
स्तम्भतुल्या तुला प्रोक्ता हीना चोपतुला ततः।।

त्रिभागेनेह सर्वत्र चतुर्भागेन वा पुनः।
हीनं हीनं चतुर्थांशात्तथा सर्वासु भूमिषु।।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त बृहत्संहिता (५३.२८-२९), प्रासादमण्डन (७.१४), अपराजितपृच्छा (१८४), क्षीरार्णव, ज्ञानप्रकाशदीपार्णव, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति आदि ग्रन्थों में भी स्तम्भ का वर्णन प्राप्त होता है।

२. कलश (श्लोक ३१)

कलश के विषय में ईशानशिवगुरुदेवपद्धति एवं शिल्परत्न में इस प्रकार प्राप्त होता है—

(क) पोतिकाखण्डमण्डीनि कुम्भं लशुनमूलकम्।
अम्भोजमालास्थानानि स्तम्भाग्रे योजयेत् क्रमात्।।
अग्रहीनं तु लशुनं मूलोच्चं विपुलं भवेत्।
(क्रिया०-३१.६०-६१)

(ख) बोधिकाखण्डमण्डीनि कुम्भं लशुनमूलकम्।
अम्भोजमालां चान्तानि पादपीठं पुनः क्रमात्।।
क्रमेण योजयेदग्रात् सर्वस्तम्भेषु बुद्धिमान्।
तत्र बोधिकया हीनं कारयेद् वापि पीठकम्।।
(शिल्परत्न, पूर्व०-२१.११६-११७)

(श्लोक ३२-३४) कलश के विषय में मयमत के साथ अन्य ग्रन्थों में प्राप्त वर्णन की तुलना इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

मयमत	अजिता (१४.३४-३६)	दीप्तागम (५.२३-२४)	ईशानशिव-गुरुदेवपद्धति (क्रिया.३१.५१-५३)	शिल्परत्न (२१.७९-८०)
दृग् १।९	दृग १।९	धृग् १।९	धृग् १।९	धृग् १।९
कमल ४।९	कुम्भ ४।९	कलश ४।९	कुम्भ ४।९	घट ४।९
कण्ठ १।९	कण्ठ १।९	कण्ठ १।९	कण्ठ १।९	कर्ण १।९
आस्य १।९	आस्य १।९	आस्य १।९	मुख १।९	मुख १।९
पद्म १।९	पद्म १।९	पद्म १।९	पद्म १।९	पद्म १।९
वृत्त १।१८	वृत्त-	वृत्त-	वृत्त १।१८	पीठिका १।९
हीरकौ १।१८	ग्रीव १।९	भित्रौ १।९	भित्रकौ १।१८	

(मयमत में ब्रूनो डेगेन्स की टिप्पणी २०, पृष्ठ १८९)

३. **पोतिका** (श्लोक ३९-५०)

स्तम्भ के शीर्षभाग पर वीरकाण्ड के ऊपर स्थापित होता है। इसके विषय में अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार प्राप्त होता है—

(क) मनुष्यालयचन्द्रिका (अ. ५) में इसे रूपोत्तर को सहारा देने वाला अङ्ग कहा गया है। इसका माप इस प्रकार वर्णित है—

स्तम्भाग्रोत्तरतारयोगदलविस्तारं तथा स्तम्भम-
ध्योद्यद्व्यासततां च तद्दलघनां रूपोत्तरे पोतिकाम्।। (२९)

पत्रोत्तरे चेद् विततावङ्घ्रिहीनतीव्रा विधेया खलु पोतिकेयम्।
खण्डोत्तरे तुल्यवितानतीव्रा सर्वाश्च सर्वेषु यथोपशोभम्।। (३०)

(ख)

....वीरकाण्डं त्रिसार्धे-
षूदन्वद्दण्डदीर्घां चरणततदर्धोच्छ्रायां पोतिकां च।।

(तन्त्रसमुच्चय-२.२५)

(ग) वास्तुविद्या (८ अ.) में त्रिदण्डा, चतुर्दण्डा एवं पञ्चदण्डा तथा पत्री, चित्री एवं महार्णवी संज्ञक तीन प्रकार की पोतिकाओं का वर्णन प्राप्त होता है—

पोतिका तु त्रिधा ज्ञेया नामभेदेन दैर्घ्यतः।
त्रिदण्डा च चतुर्दण्डा पञ्चदण्डा यथाक्रमम्।।
महार्णवी च चित्री च पत्री च प्रतिलोमतः। (८.४४, ४५)

(घ) शिल्परत्न (पूर्वभाग) में उपर्युक्त तीनों का वर्णन इस प्रकार है—

महार्णवी च पत्री च चित्री चेति त्रिधैव सा।
भूतेभमकरव्यालरत्नबन्धविचित्रिता ।।

बल्लीचित्राग्रपट्टा च सा ख्याता चित्रपोतिका।
केवलं पत्रवल्लीभिर्विचित्रा पत्रपोतिका।

तरङ्गमात्रचित्रा या पोतिका स्यान्महार्णवी।।

(२१.१११-११३)

५. काष्ठसंग्रह—ग्राह्य वृक्ष (श्लोक ६२-६६) वर्ज्य काष्ठ (श्लोक ७१-८०)

(क) विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (अ. ४) में गृहनिर्माण में विशेषत: स्तम्भ आदि के लिये (श्लोक १६ में) प्रशस्त वृक्षों का परिगणन इस प्रकार किया गया है—

आम्रातको मधूकश्च नागरङ्गश्च तिन्दुक:।
खदिरो पूतिको वेणु: पाटलश्च विभीतक:।।

कर्णिकारश्च सरल: कर्कन्धुस्तिनिशस्तथा।
काश्मरी च रसालश्च पारिभद्रश्च केसर:।।

श्रीपर्णस्तिलकश्चापि नक्तमालश्च भद्रक:।
अन्ये च क्षीरवृक्षा ये निम्बाद्याश्च सुगन्धिन:।। (११-१३)

वर्ज्य वृक्ष इस प्रकार हैं—

मधूकं तिनिशं पूतिमन्यं क्षीरतरुं तथा।
तिर्यग्दारौ चित्रकार्ये योजयेन्न कदाचन।।

नाडीवृक्षा: पिन्नवृक्षा: गुलिकाभिन्नदारव:।
गजदन्तप्रभिन्नाश्च वक्रा भिन्नास्तथा वने।।

पक्षिहीना दिवाभीतैरुषिताश्च द्विजाधमै:।
विद्युता भिन्नवृक्षाश्च योधानामिषुभिर्हता:।।

कण्टकावृतदेहाश्च न प्रशस्ता: प्रकीर्तिता:।

* * * * * * * *

पतिता दक्षिणाशायां तथा प्रेतवनं गता:।
दुष्टभूमिस्थिता वृक्षा वर्ज्या निन्द्याश्शुभेप्सुभि:।। (१८-२१,२३)

(ख) मत्स्यपुराण (२५७ अ.) में प्रशस्त एवं अप्रशस्त वृक्षों की चर्चा इस प्रकार है—

पूर्वोत्तरेण पतितं गृहदारु प्रशस्यते।
अन्यथा न शुभं विन्द्याद्याम्योपरि निपातनम्।।

क्षीरवृक्षोद्भवं दारु न गृहे विनिवेशयेत्।
कृताधिवासं विहगैरनिलानलपीडितम्।।

गजावरुग्णं च तथा विद्युन्निर्घातपीडितम्।
अर्धशुष्कं तथा दारु भग्नशुष्कं तथैव च।।

चैत्यं देवालयोत्पन्नं नदीसङ्गमजं तथा।
श्मशानकूपनिलयं तडागादिसमुद्भवम्।।

वर्जयेत्सर्वथा दारु यदीच्छेद्विपुलां श्रियम्।
तथा कण्टकिनो वृक्षान्नीपनिम्बविभीतकान्।।

श्लेष्मातकानाम्रतरून् वर्जयेद् गृहकर्मणि।
आसनाशोकमधुकसर्जशालाः शुभावहाः।।

चन्दनं पनसं धन्यं सुरदारुहरिद्रवः।
द्वाभ्यामेकेन वा कुर्यात्त्रिभिर्वा भवनं शुभम्।।

बहुभिः कारितं यस्मादनेकभयदं भवेत्।
एकैकशिंशपा धन्या श्रीपर्णी तिन्दुकी तथा।

एता नान्यसमायुक्ताः कदाचिच्छुभकारकाः।
स्पन्दनः पनसस्तद्वत् सरलार्जुनपद्मकाः।। (२५८.३-११)

(ग) राजवल्लभमण्डन (५ अ.) में ग्रहणीय एवं गर्हणीय वृक्षों का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

त्याज्य वृक्ष—

वृक्षं दग्धविशुष्ककण्टकयुतं नीडैश्च बैल्वद्रुमम्।
क्षौरं मारुतपातितं च भवने चिञ्चां बिभीतं त्यजेत्।। (५.१६)

ग्राह्य वृक्ष—

शाकः शालमधूकसर्जखदिरा रक्तासनाः शोभना
एकोऽसौ सरलोऽर्जुनस्य पनसः श्रीपर्णिनी शिंशिपाः।
हारिद्रस्त्वपि चन्दनः सुरतरु पद्माक्षकस्तिन्दुकी
नैतेऽन्येन युता भवन्ति फलदाः शाकादयः शोभनाः।। (५.१७)

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त बृहत्संहिता, समराङ्गणसूत्रधार आदि ग्रन्थों में ग्राह्य एवं त्याज्य वृक्षों की चर्चा प्राप्त होती है।

६. **शिलालक्षण** (श्लोक ६७-६८)

शिल्परत्न (पूर्वभाग-१४) में शिलालक्षण अत्यन्त विस्तार से वर्णित है। ग्राह्य शिला का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

सिद्धाद्याकरसम्भवा वसुमती भग्ना स्ववर्णोचिता
स्निग्धा शस्त्रसहा गभीरनिनदा दिश्याहिताग्रा शिला।
ग्राह्या बिम्बविधौ स्फुलिङ्गबहुला तस्याच्छिरोधोमुखा
यत्काष्ठाभिमुखी समुत्थितवती स्थाप्या च तद्दिङ्मुखी।। (१४.११)

इसके अतिरिक्त १२-२० श्लोकों में ग्राह्य शिलाओं के लक्षण एवं शेष में दोष-युक्त शिलाओं के लक्षण वर्णित हैं।

७. **इष्टका** (श्लोक ६७-६८)

इष्टकाओं का वर्णन शिल्परत्न (पूर्वभाग-१४) में प्राप्त होता है—

स्थूलमूलेष्टका स्त्री स्यादग्रस्थूला नपुंसका:।।
सर्वत्र समविस्तारास्तुल्या: स्यु: पुरुषेष्टका:।
अथवा यमरेखा: स्युर्ऋजवश्चेत् पुमानथ।।
वक्राश्चेद्युग्मरेखा: सा स्त्रीलिङ्गाख्या प्रकीर्तिता।
युग्मरेखास्त्वयुग्मं वा कर्णाभाश्चेन्नपुंसका:।।
ईषदुन्नतगं मूलं नतं वाग्रमुदाहृतम्। (५५-५८)

इष्टका-निर्माण के लिये ग्राह्य मृत्तिका का वर्णन शिल्परत्न (पूर्व-१४) में इस प्रकार प्राप्त होता है—

चिक्कणा पाण्डराख्या च सलोणा च विगर्हिता।
चतुर्थी ताम्रफुल्ला तु कर्मयोग्यमृदिष्यते।।
तुषाङ्गारास्थिपाषाणशर्कराकाष्ठलोष्टकै: ।
वर्जिता सूक्ष्मसिकता ताम्रफुल्लेष्टकोचिता।। (४५-४६)

(तुलना ईशान, क्रिया ३३.३६)

मृत्तिका को इष्टका-निर्माण के योग्य बनाने की विधि शिल्परत्न (१४.४७-५४) में विस्तार से वर्णित है।

अथ षोडशोऽध्यायः

(प्रस्तरकरणम्)

उत्तरादिवृतेरन्तं प्रस्तारावयवं क्रमात् ।
संवक्ष्ये क्षिप्य सर्वेषां हर्म्याणामथ योग्यकम् ॥१॥

प्रस्तर-निर्माण—मैं (मय ऋषि) सभी प्रकार के भवनों के अनुरूप उत्तर से प्रारम्भ कर वृति (प्रति) पर्यन्त प्रस्तार (प्रस्तर) के अंगों का सम्यक् रूप से क्रमशः वर्णन कर रहा हूँ।।१।।

✵ उत्तरवाजनौ ✵

उत्तरं त्रिविधं पादविस्तारं तत्समोद्गमम् ।
त्रिपादोदयमध्योच्चं विस्तारं पादतः समम् ॥२॥

उत्तर एवं वाजन—उत्तर (स्तम्भ के ऊपर की भित्ति) तीन प्रकार का होता है। प्रथम की चौड़ाई स्तम्भ के बराबर होनी चाहिये एवं उसकी ऊँचाई चौड़ाई के बराबर होनी चाहिये। दूसरे उत्तर की ऊँचाई चौड़ाई से तीन चौथाई अधिक होनी चाहिये एवं तीसरे उत्तर की ऊँचाई चौड़ाई की आधी होनी चाहिये।।२।।

खण्डोत्तरं पत्रबन्धं रूपोत्तरमिति त्रिधा ।
त्रिपादं वा त्रिभागोनमर्धं वा कर्णनिर्गमम् ॥३॥

इन तीनों उत्तरों की संज्ञा खण्डोत्तर, पत्रबन्ध एवं रूपोत्तर है। इनका कर्णनिर्गम (कोणों पर निकली निर्मिति) तीन चौथाई, तीन भाग कम अथवा आधा होना चाहिये।

स्वस्तिकं वर्धमानं च नन्द्यावर्तसमाकृतिः ।
सर्वतोभद्रवृत्तिर्वा प्रत्युत्तरनिवेशनम् ॥४॥

उत्तर से वृति (अथवा प्रति) के मध्य होने वाले निवेश स्वस्तिक, वर्धमान, नन्द्यावर्त अथवा सर्वतोभद्र आकृति के होते हैं।।४।।

त्रिभागैकं चतुर्भागं वाजनं निर्गमोद्गमम् ।
चतुरस्त्रं सपर्णाग्रं तदूर्ध्वे मुष्टिबन्धनम् ॥५॥

वाजन के तीसरे अथवा चौथे भाग से चार कोणों वाले एवं ऊपरी भाग में पर्ण

से युक्त निर्गम का प्रारम्भ होना चाहिये। निर्गम के ऊपर मुष्टिबन्ध निर्मित होना चाहिये।

तुलाच्छेदेन वा कुर्यात् पृथग्वा वाजनोपरि।
स्तम्भार्धविपुलं स्वार्धं तीव्रं पट्टाम्बुजक्रियम् ॥६॥
सनालिकमधस्तात्तु वाजनाद् दण्डनिर्गमम्।

वाजन के ऊपर मुष्टिबन्ध तुलाच्छेद के द्वारा अथवा स्वतन्त्र रूप से निर्मित होना चाहिये। स्तम्भ की चौड़ाई का आधा चौड़ा एवं अपनी चौड़ाई का आधा मोटा अम्बुज-पट्ट निर्मित होना चाहिये। वाजन के नीचे नाली से युक्त दण्डनिर्गम का निर्माण होना चाहिये।।६।।

✵ प्रमालिका ✵

मूलाग्रयोः शिखोपेता तदूर्ध्वे तु प्रमालिका ॥७॥
स्तम्भव्याससमोच्चा वा त्रिचतुर्भागतीव्रका।
कुम्भमण्डियुताग्रा च हस्तिमुण्डकसन्निभा ॥८॥

उसके ऊपर मूल एवं ऊर्ध्व भाग में शिखा से (चूल) युक्त प्रमालिका निर्मित होती है। यह स्तम्भ के व्यास के बराबर ऊँची एवं उसके तीसरे या चौथे भाग के बराबर मोटी होती है। साथ ही हाथी के सूँड़ के समान आकृति वाली कुम्भ एवं मण्डि से युक्त होती है।।७-८।।

✵ दण्डिका ✵

दण्डिकासमनिष्क्रान्ता तदूर्ध्वे दण्डिका भवेत्।
स्तम्भार्धविपुला स्वार्धतीव्रा नीव्रार्धनिष्क्रमा ॥९॥
मुष्टिबन्धसमाकारचतुरस्रा यथा तथा।

इसके ऊपर दण्डिका होती है। यह स्तम्भ की आधी चौड़ी, चौड़ाई की आधी मोटी एवं एक दण्ड माप की होती है। इसका निष्क्रम नीव्र का आधा होता है। इसकी आकृति मुष्टिबन्ध के समान चौकोर होती है।।९।।

✵ वलयं गोपानञ्च ✵

यथेष्टविपुलोत्तुङ्गं तत्तुङ्गसमवेशनम् ॥१०॥
वलयं स्यात्तदूर्ध्वे तु गोपानं वा तदूर्ध्वतः।
मुष्टिबन्धविशालोच्चा पट्टिकाक्षेपणाम्बुजा ॥११॥

इसके ऊपर ऊँचाई पर इच्छानुसार चौड़ा एवं ऊँचा वलय होना चाहिये। उसके ऊपर गोपान तथा उसके ऊपर क्षेपणाम्बुज पट्टिका होती है, जो मुष्टिबन्ध के समान विस्तृत एवं ऊँची होती है।।१०-११।।

छित्त्वार्पितावशिष्टा तु दण्डिकोपरि पट्टिका।
तस्यां छित्त्वा तु तन्मानं गोपानं चार्पयेद्बुधः ॥१२॥

यह पट्टिका दण्डिका के ऊपर छील-काट कर लगाई जाती है। उसके ऊपर उसके प्रमाण के अनुसार काट कर बुद्धिमान (स्थपति) को गोपान निर्मित करना चाहिये।।१२।।

उत्तरान्तावलम्बं वा यथायुक्ति यथारुचि।
वाजनोर्ध्वे तुलोर्ध्वे वा गोपानं योजयेद्बुधः ॥१३॥

उत्तर के अन्तिम भाग में इच्छानुसार युक्तिपूर्वक अवलम्ब निर्मित करना चाहिये। वाजन अथवा तुला के ऊपर बुद्धिमान (स्थपति) को गोपान लगाना चाहिये।।१३।।

तुलान्तरसमं गोपानान्तरं प्रविधीयते।
गोपानदण्डिकोर्ध्वं चेद्वाजनान्तावलम्बनम् ॥१४॥

जितना (भित्ति से) तुला का अन्तर होता है, उतना ही अन्तर गोपान का भी होना चाहिये। गोपान यदि दण्डिका के ऊपरी भाग में निर्मित हो तो वाजन के अन्तिम भाग में अवलम्बन होना चाहिये।।१४।।

दण्डार्धविपुलं स्वार्धं तीव्रं गोपानमूर्ध्वतः।
कम्पं समान्तरं कुर्याद् वलयच्छिद्रमन्तरे ॥१५॥

गोपान के ऊपर दण्ड का आधा चौड़ा एवं चौड़ाई का आधा मोटा कम्प निर्मित होना चाहिये। इसे वलयछिद्र अन्तर के बराबर अन्तर पर रखते हुये उसके समानान्तर निर्मित करना चाहिये।।१५।।

✵ कायपादम् ✵

दण्डिकावाजनान्तःस्थं कायपादं यथांशकम्।
पादविस्तारमर्धार्धनिष्क्रान्तं साग्रपट्टिकम् ॥१६॥

दण्डिका एवं वाजन के बीच में पूर्वोक्त वर्णित भाग के अनुसार कायपाद (स्तम्भ को सहारा देने वाली कड़ी) लगाना चाहिये। यह स्तम्भ के विस्तार के बराबर होता है एवं उसका निष्क्रान्त उसके विस्तार के आधे का आधा होता है एवं अग्रपट्टी से युक्त होता है।।१६।।

पादानामन्तरं छाद्यं फलकैः सारदारुजैः।
अष्टांशबहलं छन्नफलकाच्छाद्यमूर्ध्वतः ॥१७॥

गोपानस्योपरिष्टात्तु च्छादयेल्लोहलोष्टकैः।
कपोतपालिकोत्सेधनिष्क्रान्तं द्वित्रिदण्डकम् ॥१८॥

स्तम्भों के मध्य भाग को सार वृक्ष के काष्ठ के फलकों (पटरों) से छा देना चाहिये। इसे दण्ड के आठवें भाग की मोटाई वाले फलकों से छाना चाहिये। इसके ऊपर गोपान के ऊपर धातुनिर्मित लोष्टकों (टाइल्स) से आच्छादन करना चाहिये। इसके साथ दो या तीन दण्ड माप की ऊँचाई पर निकली हुई कपोतपालिका निर्मित होनी चाहिये।।१७-१८।।

एकहस्तं द्विहस्तं वा क्षुद्रे महति मन्दिरे।
यथाशोभं यथाचित्रं कपोते कर्णपालिका ॥१९॥
तथा मध्यस्थिता वाऽपि सौधे शैले समाहिता।

छोटे भवन में एक हाथ की एवं बड़े भवन में दो हाथ की सुन्दरता के लिये चित्रयुक्त कर्णपालिका कपोत पर निर्मित करनी चाहिये। अथवा इसे भवन के मध्य भाग में प्रस्तर-निर्मित कर्णपालिका लगानी चाहिये।।१९।।

❋ वाजनम् ❋

विधेया वाजनस्योर्ध्वे भूतहंसादिकावलिः ॥२०॥
दण्डोच्चा वा त्रिपादोच्चा वाजनं पूर्ववद्भवेत्।
कपोतालम्बनं तत्स्याद्दण्डार्धं वाऽथ दण्डकम् ॥२१॥

वाजन के ऊपर भूत (प्राणी, पशु आदि) एवं हंस आदि की पंक्ति एक दण्ड या पौन दण्ड ऊँची होनी चाहिये। वाजन पूर्व के सदृश होना चाहिये। वहाँ आधे दण्ड या एक दण्ड माप का कपोतालम्बन होना चाहिये।।२०-२१।।

अध्यर्धादित्रिदण्डान्तं कपोतोच्चविनिर्गतम्।
वसन्तकं वा निद्रा वा विधेया वाजनोपरि ॥२२॥
त्रिपादोच्चा तदूर्ध्वं स्यात्कपोतोच्चं तु पूर्ववत्।

कपोत की ऊँचाई से निकला निर्गम डेढ़ दण्ड से लेकर तीन दण्डपर्यन्त होता है। वाजन के ऊपर वसन्तक अथवा निद्रा निर्मित करनी चाहिये। यह उसके ऊपर पौन दण्ड ऊँची होनी चाहिये एवं कपोत की ऊँचाई पूर्ववर्णित रखनी चाहिये।।२२।।

❋ कपोतम् ❋

एवं स्याद् दृढकल्प्यं तच्छिलयेष्टकमात्रकैः ॥२३॥
यथाप्रयोगं स्थैर्यं तु तथा योज्यं विचक्षणैः।
कपोतोच्चत्रिभागं वा पादं वा क्षुद्रनिष्कृतिः ॥२४॥

इस प्रकार पूर्वोक्त वर्णित भागों को प्रस्तर अथवा ईंटों से दृढ़ बनाना चाहिये।

जिस वस्तु के प्रयोग से स्थिरता प्राप्त हो, उसी का प्रयोग बुद्धिमान (स्थपति) को करना चाहिये। कपोत की ऊँचाई के तीन भाग अथवा चतुर्थांश के बराबर क्षुद्रनिष्कृति (बाहर निकला भाग) बनाना चाहिये।।२४।।

कपोते नासिका क्षुद्रे नीव्रोर्ध्वे स्थितकर्णिका।
सपाददण्डा वाध्यर्धं द्विदण्डं विस्तृता स्थिता॥२५॥

कपोत के नीव्र के ऊपर नासिका (खिड़की के सदृश आकृति) होती है, जो कर्णिका (लता) की भाँति होती है। यह सवा दण्ड, डेढ़ दण्ड या दो दण्ड विस्तृत होती है।।२५।।

सिंहश्रोत्रशिखालिङ्गं पट्टिकान्तस्य पट्टिका।
विधेया स्वस्तिकाकृत्या नासिकोर्ध्वे तु नासिका॥२६॥

कुक्षिमानं शिखामानं यथाशोभनमेव वा।
प्रतिवाजनकस्योर्ध्वे नेष्यते नासिकोच्छ्रयम्॥२७॥

इसके शीर्ष भाग की आकृति सिंह के कान के सदृश होती है। पट्टिका के अन्तिम भाग में स्वस्तिक की आकृति वाली पट्टिका होती है। नासिका के ऊपर नासिका निर्मित होनी चाहिये। इसके मूल भाग एवं ऊर्ध्व भाग का प्रमाण शोभा के अनुसार होना चाहिये। प्रतिवाजनक के ऊपर नासिका की ऊँचाई नहीं होनी चाहिये।।२६-२७।।

❋ प्रस्तरोर्ध्वभागम् ❋

आलिङ्गं पादपादोच्चं पादात् पादविनिर्गतम्।
तस्मादन्तरितं चोर्ध्वे निष्क्रान्तावेशनक्रियम्॥२८॥

प्रस्तर का ऊपरी भाग—प्रस्तर के ऊर्ध्व भाग की योजना इस प्रकार है—आलिङ्ग का माप पाद के चतुर्थांश माप का होता है एवं पादविनिर्गत (बाहर निकला भाग) भी चतुर्थांश माप का होना चाहिये। उन दोनों के मध्य में ऊर्ध्व भाग पर निष्क्रान्त स्थापित करना चाहिये।।२८।।

त्रिपट्टाग्रं हि पादोच्चं पादे पादान्तरे स्थितम्।
दण्डं त्रिपादमर्धं वा प्रत्युत्सेधं तदूर्ध्वतः॥२९॥

दो स्तम्भों के मध्य, स्तम्भों के ऊपर स्तम्भ की ऊँचाई का त्रिपट्टाग्र (तीन पट्टियों की आकृति) निर्मित होनी चाहिये। उसके ऊपर प्रति का निर्माण करना चाहिये, जिसका माप एक दण्ड, तीन चौथाई अथवा आधा दण्ड होना चाहिये।।२९।।

स्वोच्चत्रिपादनिष्क्रान्ता प्रतिरर्धेन वा तथा।
दण्डः सपादः सार्धो वा प्रतिवक्त्रं विनिर्गमः॥३०॥

प्रतिवक्त्र संज्ञक भाग का माप प्रति के माप का तीन चौथाई, आधा, एक दण्ड, सवा दण्ड अथवा डेढ़ दण्ड रखना चाहिये।।३०।।

तावदूर्ध्वोद्गतिस्तस्याः प्रागुक्तविधिना कुरु।
सव्याला वा ससिंहेभा ऋज्वी वा स्यात्प्रतेः कृतिः ॥३१॥

उसके ऊपर उसकी गति का निर्माण पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये। प्रति की रचना व्याल के सहित, सिंह के सहित, गज के सहित अथवा सीधी करनी चाहिये।

तदुच्चत्रिचतुर्भागं वाजनं निर्गमोद्गमम्।
समकरं चित्रखण्डं नागवक्त्रमिति त्रिधा ॥३२॥

इसके ऊपर इसकी ऊँचाई के तीसरे अथवा चौथे भाग से वाजन एवं निर्गम का प्रारम्भ करना चाहिये। ये समकर, चित्रखण्ड एवं नागवक्त्र—तीन प्रकार के होते हैं।

नागवक्त्रं नागफणं स्वस्त्याकृतिशिरःक्रियम्।
तैतिलानां द्विजातीनां भवेत् समकरा प्रतिः ॥३३॥

नागवक्त्र आकृति में नाग के फण एवं स्वस्ति की आकृति में (नाग का) सिर निर्मित होता है। देवों एवं ब्राह्मणों के भवन में समकर प्रति का निर्माण करना चाहिये।

चतुरस्रं तु खण्डाग्रं मकरं चित्रखण्डकम्।
नृपाणां वणिजां शूद्रजन्मनामर्धचन्द्रकम् ॥३४॥

हस्तिरूपं भवेन्मुण्डं प्रत्यग्रं चित्रसन्निभम्।
ककरं कर्कटं बन्धमन्यदप्येवमूह्यताम् ॥३५॥

(समकर प्रति) आकृति में चौकोर एवं शीर्षभाग में मकर निर्मित होता है। चित्रखण्ड प्रति राजाओं, व्यापारियों (वैश्यों) एवं शूद्रों के (भवन के) अनुकूल होता है। इसकी आकृति अर्धचन्द्र के सदृश होती है। इसका शीर्षभाग गज की आकृति से युक्त होता है। इस प्रति का अग्र भाग चित्र की भाँति होता है; इसलिये इसे ककर, कर्कट, बन्ध अथवा अन्य संज्ञा से भी सम्बोधित करते हैं।।३४-३५।।

*** तुलादिबन्धम् ***

वाजनोर्ध्वे वलीकोर्ध्वे तुलां सम्यङ् निवेशयेत्।
दण्डोच्चं वा त्रिपादोच्चमर्धतारसमन्वितम् ॥३६॥

वाजन के ऊपर (अथवा) वलीक के ऊपर भली-भाँति तुला (बीम) को स्थापित करना चाहिये। इसकी ऊँचाई एक दण्ड अथवा तीन चौथाई दण्ड होनी चाहिये तथा इसकी मोटाई ऊँचाई की आधी होनी चाहिये।।३६।।

त्रिचतुष्पञ्चदण्डेन दीर्घं तत्साग्रनालिकम् ।
सव्यालाग्रं सम्भृताग्रं पार्श्वाङ्गस्थतरङ्गवत् ॥३७॥

वलीक की लम्बाई तीन, चार या पाँच दण्ड होनी चाहिये। इसके अग्र भाग में नालियाँ, व्याल या बिन्दु होना चाहिये एवं इसका पार्श्व भाग तरङ्ग की भाँति होना चाहिये।।३७।।

वलीकं स्याद्वलीकोर्ध्वे कर्तव्या वर्णपट्टिका ।
दण्डार्धार्धविशालोच्चा निश्छिद्रं स्यात्तदन्तरे ॥३८॥

फलकैश्च तदूर्ध्वे तु दण्डोत्सेधा तुला स्थिरा ।
त्रिपादविस्तृता न्यस्ता प्रवेशानुगता शुभा ॥३९॥

(उपर्युक्त वर्णन के अनुसार) वलीक होना चाहिये। वलीक के ऊपर वर्णपट्टिका का निर्माण करना चाहिये। इसका विस्तार आधा दण्ड एवं ऊँचाई विस्तार का आधा होना चाहिये। उसके मध्य भाग को फलकों द्वारा छेदरहित करना चाहिये। इसके ऊपर एक दण्ड ऊँची स्थिर तुला स्थापित करनी चाहिये। तुला का विस्तार तीन चौथाई दण्ड होना चाहिये। इसे द्वार की ओर उन्मुख होना चाहिये।।३८-३९।।

तुलाविस्तारतारोच्चा जयन्ती स्यात्तुलोपरि ।
अर्धदण्डेन तत्रोच्चा जयन्त्यूर्ध्वेऽनुमार्गकम् ॥४०॥

तुला के ऊपर तुला की चौड़ाई के बराबर ऊँचाई वाली जयन्ती रक्खी जानी चाहिये। जयन्ती के ऊपर आधा दण्ड ऊँचा अनुमार्गक रखना चाहिये।।४०।।

तदूर्ध्वे फलका पादपादषड्भागतीव्रकाः ।
इष्टकाचूर्णसङ्घातप्रस्तरस्तम्भविस्तरम् ॥४१॥

उसके ऊपर फलकों को स्थापित करना चाहिये। इसकी मोटाई दण्ड के चौथे या छठवें भाग के बराबर होनी चाहिये। प्रस्तर एवं स्तम्भ के विस्तार को ईंटों एवं चूर्ण से जोड़ना चाहिये।।४१।।

करालमुद्रिगुल्मासकल्कचिक्कणकर्मवान् ।
उत्तरं वाजनं चैव तत्पार्श्वानुगतं भवेत् ॥४२॥

कराल, मुद्रि, गुल्मास, कल्क एवं चिक्कण (ये सभी ईंटों को जोड़ने एवं लेप में प्रयुक्त होते हैं) का प्रयोग करना चाहिये। उत्तर एवं वाजन पार्श्व में लगने चाहिये।

तुला द्वारानुयाता हि जयन्ती तिर्यगागता ।
अनुमार्गं तदूर्ध्वे तु द्वारस्यानुगतं शुभम् ॥४३॥

तुला (की स्थापना) द्वार के अनुसार होनी चाहिये। जयन्ती (उसके ऊपर) तिरछी रक्खी जानी चाहिये। उसके ऊपर द्वार के अनुसार अनुमार्ग रक्खा जाना चाहिये।

द्वारतिर्यग्गता वाऽथ तुला देवनृपेशयोः ।
त्रिदण्डं वा द्विदण्डं वा स्याद्वलीकतुलान्तरम् ॥४४॥

देवालय एवं राजभवन में तुला द्वार से तिरछी होनी चाहिये। वलीक एवं तुला के मध्य का अवकाश दो या तीन दण्ड होना चाहिये।।४४।।

द्विदण्डं सार्धमध्यर्धं जयन्त्यन्तरमिष्यते ।
दण्डान्तरमनु मार्गं निश्छिद्रं स्यात्तदूर्ध्वतः ॥४५॥

जयन्तियों के मध्य का अन्तर डेढ़ या ढ़ाई दण्ड होता है। उनके ऊपर एक-एक दण्ड के अन्तर पर रक्खे अनुमार्ग उनके मध्य के छिद्र को भर देते हैं।।४५।।

अथ चित्रविचित्राङ्गा विधेया प्रस्तरक्रिया ।
क्षुद्राणां तु तुलादीनि यथा स्थैर्यं तथाचरेत् ॥४६॥

इस प्रकार प्रस्तर-क्रिया चित्र-विचित्र अङ्गों से निर्मित होती है। क्षुद्र एवं तुला को इस प्रकार रखना चाहिये, जिससे कि वे दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जायँ।।४६।।

विरूपं वा सरूपं वा सर्वमङ्गं प्रयोजयेत् ।
तुलाद्रव्योपरिष्टात्तु फलकाच्छादनं तु वा ॥४७॥
इष्टका वा पिधातव्या शेषं पूर्ववदाचरेत् ।

रूप (आकृति) के साथ अथवा विना रूप के (प्रस्तर-प्रकल्पन में) सभी अङ्गों का प्रयोग करना चाहिये। तुला के ऊपर फलकों द्वारा आच्छादन करना चाहिये। अथवा ईंटों से आच्छादन करना चाहिये। शेष कार्य पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये।।४७।।

❋ प्रस्तरमानम् ❋

पङ्क्त्यष्टभागविकलं हि मसूरकोञ्चा-
न्मञ्चोन्नतं मतमथो तलिपार्धकं वा ।
यावद् बलं विपुलसुन्दरतां समेति
तावद् विधेयमधुना विधिना विधिज्ञैः ॥४८॥

प्रस्तर की ऊँचाई मसूर की ऊँचाई के बराबर होनी चाहिये एवं स्तम्भ की ऊँचाई से दश या आठ भाग कम होनी चाहिये। प्रस्तर की ऊँचाई एवं माप इस प्रकार रखना चाहिये, जिससे कि भवन को दृढ़ता एवं सौन्दर्य प्रदान किया जा सके, ऐसा विद्वानों का मत है।।४८।।

*** लेपः ***

मधुघृतदधिदुग्धं माषयूषं च चर्म
कदलिफलगुलञ्च त्रैफलं नालिकेरम्।
क्रमवशमनुभागैर्वर्धितं लब्धचूर्णं
शतमथ कृतमस्य द्वैगुणं शर्करास्तु ॥४९॥

लेप-सामग्री—लेप के लिये यह मिश्रण तैयार किया जाता है—शहद, घृत, दही, दूध, उड़द का पानी, चमड़ा, केला, गुड़, त्रिफला एवं नारियल। इन्हें क्रमशः एक-एक भाग बढ़ाते हुये लेना चाहिये। इनमें एक सौ भाग चूना मिलाना चाहिये तथा इस मिश्रण में दुगुनी मात्रा में बालू मिलाना चाहिये।।४९।।

*** युग्मायुग्ममानम् ***

हस्तस्तम्भतुलादिकान् नरगृहे युञ्ज्यादयुग्मं यथा
युग्मायुग्मकसंख्यया सुरगृहे युञ्जीत हस्तादिकान्।

सम एवं विषम मान—मनुष्यों के गृह में हस्त, स्तम्भ तथा तुला आदि का प्रयोग विषम संख्याओं में करना चाहिये; किन्तु देवालय में हस्त आदि का प्रयोग सम अथवा विषम संख्याओं में होता है।

*** द्वारम् ***

मध्ये द्वारमनिन्दितं सुरमहिदेवक्षितीशालये
शेषाणामुपमध्यमेव विहितं तत्सम्पदामास्पदम् ॥५०॥

देवता, ब्राह्मण एवं राजाओं के गृह में मध्य में द्वारस्थापन निन्दनीय नहीं है; किन्तु अन्य वर्ण वालों के लिये द्वार मध्य के पार्श्व में शुभ होता है।।५०।।

*** वेदिः ***

प्रतेरुपरि वेदिः स्यात् सार्धद्वित्र्यङ्घ्रिणोदयम् ॥५१॥

प्रति के ऊपर वेदि का निर्माण होना चाहिये, जिसकी ऊँचाई प्रति की डेढ़, पौने दो या दुगुनी होनी चाहिये।।५१।।

द्वौ षट् चत्वारि कम्पानि पादपादघनानि च।
पद्मशैवलपत्रादिचित्राङ्गा वेदिका मताः ॥५२॥

कम्प की संख्या दो, चार या छः होनी चाहिये। इनकी मोटाई चौथाई दण्ड होनी चाहिये। इनकी वेदिका पद्मपुष्प, शैवाल एवं पत्र आदि चित्रों से सज्जित होनी चाहिये।।५२।।

कम्पाधस्तात् प्रयोज्या हि स्तम्भास्तत्रैव युक्तितः ।
ऊर्ध्वाधः कम्पवत् पद्मपट्टिकं चाग्रबन्धनम् ॥५३॥

कम्प के नीचे स्तम्भों को उचित रीति से जोड़ना चाहिये। इन स्तम्भों का मूल एवं अग्र भाग कम्प के अनुसार होना चाहिये तथा इसे पद्मपट्टी एवं अग्रबन्धन से युक्त होना चाहिये।।५३।।

❋ जालकानि ❋

वेदिकोपरि योज्यानि जालकानि विचक्षणैः ।
त्यक्त्वा भित्त्यङ्घ्रिमध्यं तु चतुर्दण्डान्तविस्तृतम् ॥५४॥

झरोखा, जाल—विद्वानों के अनुसार वेदियों के ऊपर जालकों (खिड़की, रोशनदान) का प्रयोग करना चाहिये। इन्हें भित्ति के साथ स्तम्भ के मध्य भाग में नहीं होना चाहिये। इनकी चौड़ाई चार दण्ड होनी चाहिये।।५४।।

द्विदण्डादिनिजव्यासद्विगुणं तुङ्गमीरितम् ।
सार्धमङ्घ्र्यूनकं वोच्चं त्यक्त्वा मध्याङ्घ्रिरन्ध्रकम् ॥५५॥

इनकी चौड़ाई दो दण्ड से प्रारम्भ कर (चार दण्डपर्यन्त) तथा ऊँचाई चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये। अथवा ऊँचाई डेढ़ या पौने दो भाग (चौड़ाई की) होनी चाहिये। यह स्तम्भ के मध्य रन्ध्र को छोड़ कर होनी चाहिये।।५५।।

युग्मायुग्माङ्घ्रिभिः कम्पैर्युक्तं तुङ्गे च वैपुले ।
गवाक्षं कुञ्जराक्षं च नन्द्यावर्तमृजुक्रियम् ॥५६॥
पुष्पखण्डं सकर्णं च योजितव्यं यथोचितम् ।
दीर्घास्रं कर्णकच्छिद्रं तद् गवाक्षमिति स्मृतम् ॥५७॥

सम एवं विषम संख्याओं वाले पादों एवं कम्पों से युक्त सजावटी खिड़कियों का यथोचित ऊँचाई एवं विस्तार के साथ प्रयोग करना चाहिये। इनकी संज्ञा गवाक्ष, कुञ्जराक्ष, नन्द्यावर्त, ऋजुक्रिय, पुष्पखण्ड एवं सकर्ण है। गवाक्ष संज्ञक जालक (खिड़की, झरोखा) लम्बा, अनेक कोणों वाला एवं छिद्रयुक्त होता है।।५६-५७।।

युग्मास्रं कर्णकच्छिद्रं कुञ्जराक्षमिति स्मृतम् ।
पञ्चसूत्रमयच्छिद्रं प्रदक्षिणवशात् कृतम् ॥५८॥
नन्द्यावर्ताकृतिवशान्नन्द्यावर्तमिति स्मृतम् ।
स्तम्भतिर्यग्गतं कम्पमृजुत्वात्तदृजुक्रियम् ॥५९॥

चौकोर एवं कर्णकछिद्र (विभिन्न प्रकार के छिद्रों वाले) से युक्त जालक कुञ्जराक्ष

संज्ञक होता है। पाँच सूत्रों से प्रदक्षिणक्रम (बायें से दाहिने) से निर्मित छिद्रयुक्त जालक नन्द्यावर्त आकृति का होने के कारण नन्द्यावर्त संज्ञक होता है। तिरछे एवं सीधे स्तम्भों से निर्मित एवं कम्पयुक्त जालक की संज्ञा ऋजुक्रिय होती है।।५८-५९।।

पुष्पखण्डं सकर्णं च नन्द्यावर्तं तथोच्यते।
भित्तिमध्याद्बहिस्तस्य स्तम्भयोगं कवाटयुक् ॥६०॥

पुष्पखण्ड एवं सकर्ण जालक नन्द्यावर्त के समान होते हैं। भित्ति के मध्य से हट कर जालकों के स्तम्भों का योग होता है एवं जालक कवाट (पल्लों) से युक्त होते हैं।।६०।।

कवाटयुगलं वैकं घाटनोद्घाटनक्षमम्।
पादवर्गे भवेद् ग्रीवावर्गे वातायनस्थितिः ॥६१॥

ये कवाट एक अथवा दो होते हैं एवं खुलने तथा बन्द होने में समर्थ होते हैं। जालकों की स्थिति स्तम्भ के बराबर अथवा भवन की ग्रीवा के बराबर होती है।।६१।।

गुलिकाजालकं धामविन्यासाकृतिरन्ध्रकम्।
स्वस्तिकं वर्धमानं च सर्वतोभद्रसन्निभम् ॥६२॥

गोल आकृति वाले जालक सूर्य की आकृति वाले एवं छिद्रयुक्त होते हैं। ये स्वस्तिक, वर्धमान तथा सर्वतोभद्र प्रकार के होते हैं।।६२।।

❋ भित्तिः ❋

द्रुमोपलेष्टकाद्रव्यैर्युक्त्या युञ्जीत बुद्धिमान्।
जालकं फालकं कुड्यमैष्टकञ्च त्रिधा मतम् ॥६३॥

दीवार—बुद्धिमान (स्थपति) को गृहस्वामी की इच्छानुसार अथवा आवश्यकतानुसार) काष्ठ, प्रस्तर अथवा ईंटों से भित्ति-निर्माण करना चाहिये। इस प्रकार जालक (काष्ठ-निर्मित), फलक (प्रस्तरफलकों से निर्मित) तथा ऐष्टक (ईंटों से निर्मित) तीन प्रकार की भित्तियाँ होती हैं।।६३।।

जालकं जालकैर्युक्तमिष्टकामयमैष्टकम्।
फालकं फलकोपेतं भित्तिमध्येऽङ्घ्रिसंयुतम् ॥६४॥

जालक भित्ति जालकों (काष्ठनिर्मित) से युक्त, ऐष्टक भित्ति ईंटों से युक्त तथा फालक भित्ति फलकों (प्रस्तरखण्डों) से युक्त होती है। भित्ति के मध्य में पाद होते हैं।।६४।।

भित्तिबन्धनमूर्ध्वाधःपद्मसङ्घट्टपट्टिकम्।
पादपादषडष्टांशबहला फलका भवेत् ॥६५॥

दीवार बनाते समय ऊपर एवं नीचे कमलपुष्पों के समूह से युक्त पट्टिका का निर्माण करना चाहिये। फलकों की मोटाई स्तम्भ के चौथे, छठे या आठवें भाग के बराबर होनी चाहिये।।६५।।

शिबिकाकुड्यवद् वाऽथ सर्वत्र फलकामयम्।
एतत्तु फलकाकुड्यं यत्तु यत्र यथोचितम्।
तदेव तत्र योज्यं स्याद् वस्तुविद्याविचक्षणैः ।।६६।।

अथवा सभी स्थान पर शिबिका (पालकी) की भित्ति के समान फलका निर्मित होनी चाहिये। (यहाँ सम्भवतः काष्ठखण्डों से निर्मित भित्ति का तात्पर्य है) इस प्रकार जहाँ-जहाँ उचित हो, फलका कुड्य वहाँ-वहाँ (फलकनिर्मित भित्ति) का प्रयोग करना चाहिये, ऐसा वास्तुशास्त्र के विशेषज्ञों का मत है।।६६।।

एवं प्रोक्तं प्रस्तरं वेदिकाङ्गं युक्त्या तज्ज्ञैर्जालकं च त्रिकुड्यम्।
नैव च्छेद्या वेदिका जालकार्थं न प्रत्यङ्गं सर्वतश्छेदनीयम् ।।६७।।

इति मयमते वस्तुशास्त्रे प्रस्तरकरणं
नाम षोडशोऽध्यायः

इस प्रकार प्रस्तर-करण, वेदिकाङ्ग, जालक एवं तीन प्रकार की भित्तियों का वर्णन एवं उनकी रीति का वर्णन विद्वानों के मतानुसार किया गया। जालक के निर्माण के लिये वेदिका को कभी नहीं तोड़ना चाहिये तथा प्रति के अङ्गों को भी नहीं तोड़ना चाहिये।।६७।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

१. प्रस्तर के अवयव (श्लोक १)

कामिकागम (१.५४.१-२, ब्रूनो डेगेन्ज द्वारा पृ. २१३, पादटिप्पणी-२ में उद्धृत) के अनुसार प्रस्तर के अङ्ग इस प्रकार हैं—

अथ वक्ष्ये विशेषेण प्रस्तरस्य विधिक्रमम्।
उत्तरं वाजनञ्चैव मुष्टिबन्धं मृणालिकाम्।।
दण्डिकावलयक्षुद्रगोपानाच्छादनानि च।
आलिङ्गान्तरिता चैवं प्रत्यङ्गं वाजनं क्रमात्।।

२. उत्तर (श्लोक २-३)

स्तम्भ के उत्तर रक्खे जाने वाले फलक अथवा फलकों की संज्ञा उत्तर होती है। ये तीन प्रकार के खण्डोत्तर, पत्रोत्तर एवं रूपोत्तर होते हैं। इनमें खण्डोत्तर का विस्तार एवं ऊँचाई स्तम्भ की चौड़ाई के बराबर, पत्रोत्तर ऊँचाई में विस्तार से चतुर्थांश न्यून तथा रूपोत्तर ऊँचाई में विस्तार से आधा होता है। अन्य वास्तुग्रन्थों में इनका वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

(क) खण्डोत्तरं चरणविस्तृतितुल्यविस्तारोत्सेधमुत्तममतश्चरणोनतीव्रम्।
पत्रोत्तरं दलविहीनघनं कनिष्ठंरूपोत्तरं घनतती विपरीततो वा।।

(तन्त्रसमुच्चय-२.४४)

यही श्लोक शिल्परत्न (पूर्वभाग-२९.१) में भी प्राप्त होता है।

(ख)

उत्तरं विन्यसेदूर्ध्वं तच्चापि त्रिविधं मतम्।
खण्डोत्तरं पत्रबन्धं ततो रूपोत्तरं भवेत्।।

स्तम्भविस्तारविस्तीर्णमुन्नतं चाङ्घ्रिजातिजम्।
खण्डोत्तरं स्यादेतस्मात् पादोनं पत्रबन्धकम्।।

स्तम्भव्याससमोत्सेधमुत्सेधार्धेन विस्तृतम्।
विपरीतं तु वा नीचं रूपोत्तरमिदं भवेत्।।

(ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, क्रियापाद, (४) उत्तरार्ध-३१.७५-७७)

(ग) स्तम्भाधरस्तारभेदप्रकथनविधिनैवोत्तराणां च तारं
स्वाभीष्टं कल्पयेद् वा वसुवसुयुगलार्कोर्मिरव्याङ्गुलैर्वा।
श्रेष्ठं खण्डोत्तरं तद्वितितिसमघनं मध्यमं पत्रसंज्ञं
पादोनोच्चं कनिष्ठं विततिदलघनं तत्तु रूपोत्तराख्यम्।।

उत्तरविस्तारघने व्यत्यस्यापि प्रकल्पयेत् क्वापि।
तत्र तु चूलीति मता तस्यामेवार्पयेत् लुपाः।।

(मनुष्यालयचन्द्रिका-५.३१-३२)

३. वाजन (श्लोक-५-६)

स्तम्भ के उत्तर संज्ञक फलक के ऊपर वाजन की संरचना होती है, जो प्रायः रूपोत्तर के ऊपर होता है। रूपोत्तर के पाँच भाग करने पर दो भाग के बराबर वाजन होता है। इसके छः भाग करने पर एक भाग से अल्प वाजन एवं दो भाग से महावाजन का निर्माण होता है। अन्यत्र इसके सन्दर्भ इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

(क) उत्सेधे विशिखांशिते द्वितयतो रूपोत्तरे वाजनम्
षड्भक्तेऽल्पमिलांशतो द्वितयतो वा स्यान्महावाजनम्।
एतन्निर्गमनं निजांशविहितं न्यसेदुपर्युत्तर-
स्यैतत्तीव्रसमुच्छ्रयोच्छ्रयदलांशव्याततां पट्टिकाम्।।
(तन्त्रसमुच्चय-२.४५)

यही श्लोक शिल्परत्न (पूर्वभाग-२९.७) में प्राप्त होता है।

(ख) शिल्परत्न (पूर्व., ३० अ. ३-४) में वाजन के प्रमाण के विषय में वर्णन किया गया है।

(ग) मनुष्यालयचन्द्रिका (अ. ५) में वाजन का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

एक एव यदि वाजनं भवत्युत्तरस्य शरभाजिते घने।
उच्चमंशयुगलेन निष्क्रमोऽप्यस्य पट्टमवशिष्टभागतः।।
अल्पवाजनयुतोत्तरे घने नागभागिनि महत् त्रिभागतः।
एकतोऽल्पमुभयोश्च निष्क्रमः स्वोच्चतो भवति पट्टमब्धिभिः।।

(५.३३-३४)

४. प्रस्तर का प्रमाण (श्लोक-४८)

प्रस्तर के मान के विषय में शिल्परत्न (पूर्वभाग, ३० अ.) का कथन है कि इसका प्रमाण स्तम्भ की ऊँचाई का आधा या मासूर (अधिष्ठान) की ऊँचाई के मान के अनुसार रखना चाहिये—

स्तम्भोत्सेधार्धमानं वा मासूरोत्सेधमात्रकम्।
प्रस्तरस्योच्छ्रयं कुर्यात् पादस्योर्ध्वं विशेषतः।। (३०.१)

५. लेप (श्लोक-४९)

लेप के विषय में सुधा शब्द से शिल्परत्न (पूर्व.-१४ अ.) में अत्यन्त विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। सुधा की पाँच प्रकृतियाँ हैं—

करालमुद्गीगुल्मासकल्कचिक्कणकाश्च याः।।५८।।

इनमें चिक्कण सुधा का उल्लेख मयमत में किया गया है। शिल्परत्न में यह इस प्रकार वर्णित है—

चिक्कणं केवलं क्वाथं बद्धोदकमिति द्विधा।।६३।।

* * * * * * * *

क्षीरद्रुमामलाक्षाणां कदम्बाभययोरपि।।६५।।

त्वग्जलैस्त्रिफलातोयं माषजूषश्च तत्समम्।
संयम्य शर्कराशुक्त्योश्चूर्णं तत्क्वाथवारिणि।।६६।।

खुरसंघुट्टनं कृत्वा स्त्रावयित्वाथ वाससा।
चिक्कणं कल्पयेत्तेन बद्धोदमथ चोच्यते।।६७।।

दधिदुग्धं माषजूषैर्गुलाज्यकदलीफलैः।
नालिकेराम्रफलयोर्जलैश्चैतत् प्रकल्पितम्।।६८।।

बद्धोदकं भवेत्तच्च समभागं नियोजयेत्।
लब्धचूर्णशतांशं तु क्षौद्रमंशद्वयं भवेत्।।६९।।

आज्यं तु कदलीपक्वं नालिकेराम्बुमाषयुक्।
क्षीराङ्गत्वक्कषायं च क्षीरं दधि ततो गुलम्।।७०।।

पिच्छिलं त्रिफलाम्भश्च त्र्यंशादिकमिदं क्रमात्।
अंशवृद्ध्या समायोज्य पूतपक्वाम्बुशक्तितः।।७१।।

एकीकृत्य करालं च प्रक्षिपेद् दृढ़वेष्टितम्।
अतीत्यैकदिनं पश्चादथैव घनतां भवेत्।।७२।।

(ख) बृहत्संहिता (५७ अ. वज्रलेपाध्याय) में वज्रलेपों का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

१. आमं तिन्दुकमानं कपित्थकं पुष्पमपि च शाल्मल्याः।
बीजानि शल्लकीनां धन्वनवल्को वचा चेति।।

एतैः सलिलद्रोणः क्वाथयितव्योऽष्टभागशेषश्च।
अवतार्योऽस्य च कल्को द्रव्यैरेते समनुयोज्यः।।

श्रीवासकरसगुग्गुलभल्लातककुन्दुरुकसर्जरसैः ।
अतसीबिल्वैश्च युतः कल्कोऽयं वज्रलेपाख्यः।। (१-३)

२. लाक्षाकुन्दुरुगुग्गुलुगृहधूमकपित्थबिल्वमध्यानि ।
नागफलनिम्बतिन्दुकमदनफलमधूकमञ्जिष्ठा ।।

सर्जरसरसामलकानि चेति कल्कः कृतो द्वितीयोऽयम्।
वज्राख्यः प्रथमगुणैरयमपि तेष्वेव कार्येषु।। (५-६)

३. वज्रतल संज्ञक लेप इस प्रकार है—

गोमहिषाजविषाणैः खररोम्णा महिषचर्मगव्यैश्च।
निम्बकपित्थरसैः सह वज्रतलो नाम कल्कोऽन्यः।। (७)

४. वज्रसङ्घात संज्ञक लेप इस प्रकार निर्मित होता है—

अष्टौ सीसकभागाः कांसस्य द्वौ तु रीतिकाभागः।
मयकथितौ योगोऽयं विज्ञेयो वज्रसंघातः।। (८)

६. भित्ति

(क) शिल्परत्न (पूर्व. २१ अ.) में पाँच प्रकार की—शिलानिर्मित, इष्टकानिर्मित, जालक-(जाल)-निर्मित, फलकनिर्मित एवं मृत्तिकानिर्मित भित्तियों का वर्णन प्राप्त होता है—

तत् कुड्यं पञ्चधा प्रोक्तं तत्तद्द्रव्यविशेषतः।।
शिलामयं चेष्टकं च जालकामयमित्यपि।
फलकामयमप्येतन्मृण्मयं च परं पुनः।। (९-१०)

(ख) वास्तुविद्या (१५ अ.) में शिला, मृत्तिका एवं काष्ठनिर्मित भित्तियों का वर्णन प्राप्त होता है—

शिलया च मृदाप्यथवा तरुणा रचयेदथ कुड्यमतीव दृढम्। (१)

इसकी 'लघुविवृति' टीका (त्रिवेन्द्रम् १९४० में प्रकाशित, पृ. १८६) में चौदह प्रकार के भित्ति-निर्मित गृहों का वर्णन प्राप्त होता है—

गृहं तु विविधं प्रोक्तं शरीरैस्तु पृथग्विधैः।
पाषणैर्निचितं यच्च तद् गृहं मन्दिरं स्मृतम्।।

पक्वेष्टकं वास्तुनाम भवनं हितमुत्तमम्।
आमेष्टकं सुमन्तं तु सुधारं कर्दमेन तु।।

मानस्यं वर्धितं काष्ठैर्वेणुभिर्नन्दनं स्मृतम्।
वस्त्रैश्च विजयं प्रोक्तं राज्ञां शिल्पिविकल्पितम्।।

कालिनामेति विज्ञेयमष्टमं तृणजातिभिः।
उत्तमानि तु चत्वारि गृहाणि गृहमेधिनाम्।।

सौवर्णं राजतं ताम्रमायसं च प्रकीर्तितम्।
सौवर्णं पुष्करं नाम राजतं श्रीभवं तथा।।

ताम्रेण सूत्रमन्तं तु चण्डनाम तथायसम्।
देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसकिन्नरैः ।।

द्वादशैते प्रकारास्तु ग्रहाणां नियताः स्मृताः।
जातुषं त्वानिलं नाम त्रापुषं वारिबन्धनम्।।

एवञ्जातिषु सर्वासु गृहाणि च चतुर्दश।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

(सन्धिकर्मविधानम्)

पार्श्वगस्थितशयितद्रव्याणां सन्धिरुच्यते।
एकस्मिन् वस्तुनि द्रव्यैर्बहुभिश्च निघट्टनात् ॥१॥
दुर्बलत्वाद् द्रुमाग्राणामबले बलवर्धनात्।
सन्धिकर्म प्रशस्तं स्यात् सजातीयैर्वरद्रुमैः ॥२॥

सन्धिकार्य का विधान—पार्श्व में खड़े एवं लेटे (ऊर्ध्वाधर एवं क्षैतिज स्थिति) पदार्थों की सन्धि होती है। एक वस्तु (के निर्माण) में बहुत वस्तुओं के संयोग से, वृक्ष के अग्र भाग (के काष्ठों) की दुर्बलता के कारण, दुर्बल के बलवृद्धि के कारण सन्धिकर्म प्रशस्त होता है। समान जाति वाले वृक्षों (कोष्ठों) का सन्धिकर्म प्रशस्त होता है।।१-२।।

✵ सन्धिभेदाः ✵

मल्ललीलं तथा ब्रह्मराजं वै वेणुपर्वकम्।
पूकपर्वं देवसन्धिर्दण्डिका षड्विधाः स्मृता ॥३॥

सन्धि के भेद—सन्धियाँ छः प्रकार की होती हैं—मल्ललील, ब्रह्मराज, वेणुपर्वक, पूकपर्व, देवसन्धि एवं दण्डिका।।३।।

✵ सन्धिविधिः ✵

चतुर्दिक्षु बहिः स्थित्वा निरीक्ष्य स्थपतिर्गृहम्।
दक्षिणादक्षिणे दीर्घादीर्घाभ्यां सन्धयेत् क्रमात् ॥४॥

जोड़ने की विधि—स्थपति घर के बाहर खड़े होकर चारो दिशाओं से उसका निरीक्षण करे। तत्पश्चात् दक्षिण को उत्तर से एवं दीर्घ (लम्बाई) को अदीर्घ (छोटी लम्बाई) से क्रमशः जोड़े।।४।।

मध्ये च दक्षिणे चैव यः सन्धिं कर्तुमीहते।
मध्येऽतिदीर्घं युञ्जीयाद् दीर्घमल्पं च पूर्ववत् ॥५॥

यदि मध्य एवं दक्षिण में सन्धि करना चाहते हों तो मध्य के अति दीर्घ को पूर्व की भाँति छोटे दीर्घ से जोड़ना चाहिये।।५।।

वामेऽवामे समद्रव्यं मध्ये दीर्घमथापि वा।
मध्यद्रव्यं विना वामेऽवामे द्रव्यं समं तथा ॥६॥

अथवा वाम भाग एवं दक्षिण भाग में समान माप के द्रव्य हों तथा मध्य में स्थित पदार्थ दीर्घ हों तो उनमें सन्धि करनी चाहिये। यदि मध्य का पदार्थ न हो तथा दोनों ओर समान माप के द्रव्य हों तो भी सन्धि करनी चाहिये।।६।।

एतत्सन्धिं बहिः कुर्यात् तथैवाभ्यन्तरे विदुः।
स्थपतिर्हृदयस्थाने स्थित्या प्रेक्ष्य चतुर्दिशि ॥७॥

इस प्रकार गृह के बाहरी भाग की सन्धि करनी चाहिये। भीतरी भाग की सन्धि के लिये गृह के मध्य स्थान में खड़े होकर स्थपति को चारो दिशाओं का निरीक्षण करना चाहिये। जिस प्रकार बाहरी भाग की सन्धि होती है, उसी प्रकार भीतरी भाग की भी सन्धि होती है।।७।।

दीर्घमल्पं समद्रव्यं पूर्ववत् परिकल्पयेत्।
आधाराधेयनीत्यैव द्रव्यसन्धानमूह्यताम् ॥८॥

दीर्घ, छोटे एवं समान माप के द्रव्यों की सन्धि पूर्ववर्णित विधि से करनी चाहिये। आधार एवं आधेय के नियम (दीर्घ का अल्प दीर्घ से, दीर्घ को मध्य में रखकर सम माप की सन्धि आदि) का पालन करते हुये पदार्थों को जोड़ना चाहिये।।८।।

मूले मूलं न युञ्जीयादग्रे चाग्रं तथैव च।
मूलाग्रद्रव्ययोगेन सन्धिकर्म सुखप्रदम् ॥९॥
मूलं हि शयितञ्चाधश्चाग्रमूर्ध्वे तु योजयेत्।

किसी पदार्थ के मूल को मूल से एवं अग्र भाग को अग्र भाग से नहीं जोड़ना चाहिये। मूल एवं अग्र भाग को जोड़ने से सन्धिकार्य सुखद होता है। मूल भाग को नीचे लिटा कर रखना चाहिये एवं उसके ऊपर अग्र भाग को जोड़ना चाहिये।।९।।

✷ मल्ललीलादिसन्धयः ✷

द्विद्रव्यमेकसन्धिः स्यान्मल्ललीलमिति स्मृतम् ॥१०॥
त्रिद्रव्यैस्तु द्विसन्धिः स्याद् ब्रह्मराजमितीरितम्।
चतुर्भिः पञ्चभिर्द्रव्यैस्त्रिचतुः सन्धयः क्रमात् ॥११॥

दो द्रव्यों को जोड़ कर एक सन्धि होती है। इसे **मल्ललील** कहा गया है। तीन पदार्थों को जोड़ने से दो सन्धियाँ बनती हैं। इसे **ब्रह्मराज** कहते हैं। चार एवं पाँच पदार्थों के योग से क्रमशः तीन एवं चार सन्धियाँ होती हैं।।१०-११।।

वेणुपर्वमिति प्रोक्तं तैतलानां नृणां गृहे।
षड्भिस्तु सप्तभिर्द्रव्यैः सन्धयः पञ्च षट् क्रमात् ॥१२॥

(तीन एवं चार सन्धियों को) **वेणुपर्व** कहते हैं। यह देवालय एवं मनुष्यों के गृहों में होता है। छः एवं सात पदार्थों के योग से पाँच एवं छः सन्धियाँ बनती हैं।।१२।।

पूकपर्वेति तत् प्रोक्तं धनधान्यकरं स्मृतम्।
अष्टाभिर्नवभिर्द्रव्यैः सन्धयः सप्त वाऽष्टधा ॥१३॥

(उपर्युक्त सन्धियों को) **पूकपर्व** कहा गया है; साथ ही इसे धन-धान्य प्रदान करने वाला कहा गया है। आठ एवं नौ पदार्थों के योग से सात एवं आठ सन्धियाँ निर्मित होती हैं।।१३।।

देवसन्धिरिति प्रोक्तः सर्ववासेषु योग्यतः।
बहुसन्धिर्बहुद्रव्यैर्दीर्घमल्पं च पूर्ववत् ॥१४॥
दण्डिकेति समाख्याता धनधान्यसुखप्रदा।

(पूर्वोक्त सन्धियों को) **देवसन्धि** कहते हैं। यह सभी प्रकार के गृहों के अनुकूल होती है। बहुत-से पदार्थों से बहुत-सी सन्धियाँ निर्मित होती हैं। इनमें दीर्घ एवं अल्प दीर्घ (कम लम्बा) के संयोग का नियम पहले की भाँति ही लगता है। इस सन्धि को दण्डिका कहा गया है। यह सन्धि धन, धान्य एवं सुख प्रदान करती है।।१४।।

✵ सर्वतोभद्रसन्धिः ✵

दक्षिणापरभागे तु द्रव्यमूलं प्रशस्यते ॥१५॥
अग्रमग्रं तथैशान्ये तेषां बन्धनमुच्यते।
आधारं प्रथमं प्राच्यां मूलाग्रच्छेदनान्वितम् ॥१६॥
दक्षिणोत्तरयोरग्रं तस्योपरि निधापयेत्।
दक्षिणोत्तरयोर्मूलमूर्ध्वच्छेदनसंयुतम् ॥१७॥
पश्चिमस्थमधश्छेद्यं क्षेप्यमाधेययोगतः।
एतत्तु सर्वतोभद्रमवागादि तथा विदुः ॥१८॥

(सर्वतोभद्र सन्धि में) दक्षिण एवं अपर भाग (दक्षिण-पूर्व) में पदार्थ का मूल रखना प्रशस्त होता है; साथ ही इसका ऊर्ध्व भाग ईशान कोण में होना चाहिये। अब इनके बन्धन का उल्लेख किया जाता है। प्रथम आधार पूर्व दिशा होती है, जहाँ मूल एवं अग्र छेद से युक्त पदार्थ रक्खा जाता है। उसके ऊपर दक्षिण एवं उत्तर में अग्र भाग से युक्त पदार्थ रक्खा जाता है। इनके मूल भाग एवं ऊर्ध्व छेद से युक्त अग्र भाग

संयुक्त होते हैं। पश्चिमी दिशा में रक्खे पदार्थ का छेद नीचे की ओर रखना चाहिये एवं इसे आधेय होना चाहिये। इस प्रकार दक्षिण से प्रारम्भ होने वाला यह संयोग (सन्धि) **सर्वतोभद्र** संज्ञक होता है।।१५-१८।।

॥ नन्द्यावर्तसन्धिः ॥

नन्द्यावर्तविधानेन नन्द्यावर्तं प्रकल्पयेत्।
दक्षिणोत्तरगं दीर्घं दक्षिणे तु सकर्णकम् ॥१९॥

नन्द्यावर्त सन्धि नन्द्यावर्त आकृति के अनुसार बनाई जाती है। दक्षिण से उत्तर की ओर जाने वाली लम्बाई में दक्षिण दिशा में निकला भाग कर्णकयुक्त होता है।।१९।।

प्राक्प्रत्यग्गतमायामं पश्चिमे तु सकर्णकम्।
दक्षिणोत्तरगं दीर्घमुत्तरे तु सकर्णकम् ॥२०॥

पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाले आयाम (लम्बाई) का कर्णक पश्चिम में होता है। दक्षिण एवं उत्तर की लम्बाई (सन्धि के दूसरी ओर) में उत्तर दिशा में कर्णक होता है।।२०।।

पूर्वपश्चिमगं दीर्घं पूर्वायां तु सकर्णकम्।
आधाराधेयनीत्यैव पूर्वादीनि च विन्यसेत् ॥२१॥
नन्द्यावर्तमिदं तद्वदवागादीनि च क्रमात्।

पूर्व एवं पश्चिम की (दूसरी दिशा में) लम्बाई में पूर्व दिशा में कर्णक होता है। आधार एवं आधेय नियम के अनुसार पूर्व आदि में इस प्रकार रखना चाहिये। इस नन्द्यावर्त सन्धि को दक्षिणक्रम से करना चाहिये।।२१।।

॥ स्वस्तिबन्धसन्धिः ॥

पक्षयोर्बहुभिर्द्रव्यैर्दीर्घं प्रागुदगग्रकम् ॥२२॥
सशिखैश्च बहुद्रव्यैर्द्वाभ्यां वा तिर्यगग्रकम्।
स्वस्त्याकृतिसमायुक्तं स्वस्तिबन्धनमिष्यते ॥२३॥

जब पूर्व-उत्तर की ओर शीर्ष भाग वाले दीर्घ से बहुत से पदार्थ जुड़ते हैं, जब तिरछे अग्र भाग वाले दीर्घ से दो या बहुत से पदार्थ शिखाओं (चूलों) से जुड़ते हैं एवं यह योग यदि स्वस्तिक की आकृति का होता है तो इसे **स्वस्तिबन्ध** सन्धि कहते हैं।।२२-२३।।

॥ वर्धमानसन्धिः ॥

परितो बहुभिर्द्रव्यैर्युक्तं तद्वत्तदन्तरे।
मध्येऽङ्कणसमायुक्तं बाह्ये युक्त्या सभद्रकम् ॥२४॥

जब चारो ओर बहुत से पदार्थों का संयोग होता है एवं इसी प्रकार भीतर भी होता है तथा मध्य भाग में आँगन जैसी आकृति होती है तो बाह्य भाग से युक्त यह आकृति सभद्रक होती है।।२४।।

पूर्वद्रव्यं परद्रव्यं भद्रकं दक्षिणोत्तरम्।
शालानां भित्तिमाश्रित्य युक्त्या साधु समाचरेत्॥२५॥
एवं युञ्ज्यादिदं बन्धं वर्धमानमितीरितम्।
अधोभूमिक्रियायुक्त्या स्यादूर्ध्वोर्ध्वतलं प्रति॥२६॥

पूर्व दिशा का पदार्थ दक्षिण की ओर एवं पश्चिम दिशा का पदार्थ उत्तर की ओर कक्षों की भित्ति का आश्रय लेते हुये उचित रीति से रखते हुये जोड़ना चाहिये। इस बन्ध को **वर्धमान** कहते हैं। निचले तल के कार्य के अनुसार ऊपर एवं उसके ऊपर के तल में भी करना चाहिये।।२५-२६।।

विपरीतं विपत्त्यै स्यादिति शास्त्रविनिश्चयः।
दीर्घादीर्घेषु संयोगद्रव्यसन्धानतर्पणम्॥२७॥

इसके विपरीत करने से विपत्ति आती है, ऐसा शास्त्रों का मत है। दीर्घ एवं अदीर्घ (कम लम्बा) का संयोग पदार्थों का विधिवत् परीक्षण एवं निरीक्षण करके ही करना चाहिये।।२७।।

यथाबलं यथायोगं तथा योज्यं विचक्षणैः।
एवं विधिविशिष्टं स्यात्सम्पत्त्यै द्रव्यबन्धनम्॥२८॥

जिस स्थान पर जितने बल की एवं जिस प्रकार के योग (सन्धि, जोड़) की आवश्यकता हो, वहाँ उसी प्रकार की सन्धि का प्रयोग बुद्धिमान (स्थपति) को करना चाहिये। इस प्रकार विशेष विधि से की गई सन्धि सम्पत्तिकारक होती है।।२८।।

✻ सन्धिभेदाः ✻

मेषयुद्धं त्रिखण्डं च सौभद्रं चार्धपाणिकम्।
महावृत्तं च पञ्चैते स्तम्भानां सन्धयः स्मृताः॥२९॥

सन्धि के भेद—स्तम्भों की पाँच प्रकार की सन्धियाँ इस प्रकार कही गई हैं—मेषयुद्ध, त्रिखण्ड, सौभद्र, अर्धपाणिक एवं महावृत्त।।२९।।

षट्शिखा झषदन्तं च सूकरघ्राणमेव च।
सङ्कीर्णकीलं वज्राभं पञ्चैव शयितेष्वपि॥३०॥

(खड़ी स्थिति की सन्धियाँ पूर्ववर्णित हैं) लेटी स्थिति (अथवा क्षैतिज) की

पाँच प्रकार की सन्धियाँ इस प्रकार हैं—षट्शिखा, झषदन्त, सूकरघ्राण, सङ्कीर्णकील एवं वज्राभ।।३०।।

✷ स्तम्भसन्धयः ✷

स्वव्यासकर्णमध्यर्धद्विगुणं वा तदायतम्।
त्र्यंशैकं मध्यमशिखं मेषयुद्धं प्रकीर्तितम् ॥३१॥

स्तम्भ की सन्धियाँ—जब सन्धि वाले पदार्थ का मध्य भाग चौड़ाई में स्तम्भ के तीसरे भाग के बराबर एवं लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी अथवा ढाई गुनी हो तो इसे **मेषयुद्ध** सन्धि कहते हैं।।३१।।

स्वस्त्याकारं त्रिखण्डं स्यात्सत्रिचूलि त्रिखण्डकम्।
पार्श्वे चतुःशिखोपेतं सौभद्रमिति संज्ञितम् ॥३२॥

त्रिखण्ड सन्धि स्वस्तिक के आकार की होती है। इसके तीन भाग एवं तीन चूलियाँ होती हैं। पार्श्व में चार शिखा (चूली) से युक्त सन्धि **सौभद्र** कहलाती है।।३२।।

अर्धं छित्त्वा तु मूलेऽग्रे चान्योन्याभिनिवेशनात्।
अर्धपाणिरिति प्रोक्तो गृहीतघनमानतः ॥३३॥

जिस सन्धि के लिये स्तम्भ की मोटाई के अनुसार आधा भाग मूल (निचले) भाग का एवं आधा भाग अग्र (ऊर्ध्व) भाग का काटा जाता है, उसे **अर्धपाणि** सन्धि कहते हैं।।३३।।

अर्धवृत्तशिखं मध्ये तन्महावृत्तमुच्यते।
वृत्ताकृतिषु पादेषु प्रयुञ्जीत विचक्षणः ॥३४॥

जब चूलिका का आकार अर्धवृत्ताकार हो एवं मध्य भाग (जहाँ जोड़ बैठाया जाय) में अर्धवृत्त हो तो उस सन्धि को **महावृत्त** कहते हैं। बुद्धिमान (स्थपति) स्तम्भों के वृत्ताकार भाग में इस सन्धि का प्रयोग करते हैं।।३४।।

स्तम्भानां स्तम्भदैर्घ्यार्धादधः सन्धानमाचरेत्।
स्तम्भमध्योर्ध्वसन्धिश्चेद् विपदामास्पदं सदा ॥३५॥

स्तम्भों में की जाने वाली सन्धि स्तम्भों की लम्बाई के मध्य भाग के नीचे करनी चाहिये। स्तम्भ के मध्य एवं उसके ऊपर यदि सन्धि हो तो वह सर्वदा विपत्ति प्रदान करती है।।३५।।

कुम्भमण्ड्यादिसंयुक्तं सन्धानं सम्पदां पदम्।
सालङ्कारे शिलास्तम्भे यथा योगं तथाचरेत् ॥३६॥

कुम्भ एवं मण्डि आदि से युक्त स्तम्भ की सन्धि (उपर्युक्त दोनों की सन्धि) सम्पत्ति-कारक होती है। सज्जा से युक्त प्रस्तर-स्तम्भ की सन्धि जैसी आवश्यकता हो, उसके अनुसार करनी चाहिये।।३६।।

स्थितस्य पादपस्याङ्गप्रवृत्तिवशतो विदुः ।
ऊर्ध्वमूलमधश्चाग्रं सर्वसम्पद्विनाशनम् ।।३७।।

खड़े वृक्ष के (काष्ठों के) विविध अङ्गों का संयोग अनुकूलता के अनुसार करना चाहिये। ऊर्ध्व भाग का मूल भाग के साथ एवं निचले भाग के साथ शीर्ष भाग की सन्धि सभी प्रकार की सम्पत्तियों का नाश करती है।।३७।।

✹ शयितसन्धयः ✹

अर्धपाणिद्विललाटे लाङ्गलाकारषट्शिखा ।
घनमध्यस्थकीला या सा मता षट्शिखाह्वया ।।३८।।

क्षैतिज सन्धियाँ—जिसके दोनों छोरों पर अर्धपाणि सन्धियाँ हों एवं सन्धि वाले पदार्थ में छः लाङ्गल (हल के) आकार की शिखायें (चूलें) बनी हों, साथ ही मध्य की कील मोटी हो, उस सन्धि को **षट्शिखा** सन्धि कहते हैं।।३८।।

स्वायामतिर्यग्बाहुस्थशिखं तु झषदन्तकम् ।
ऊर्ध्वाधस्ताद् यथायोग्यं यथाबलशिखान्वितम् ।।३९।।

झषदन्तक सन्धि में पदार्थ के ऊपर एवं नीचे दोनों ओर बहुत-सी शिखायें होती हैं। ये सभी शिखायें आवश्यकतानुसार एवं बल के अनुसार निर्मित होती हैं।।३९।।

सूकरघ्राणमित्युक्तं सूकरघ्राणसन्निभम् ।
यथाबलं यथायुक्ति नानाबलशिखान्वितम् ।।४०।।

सूअर की नाक के समान, आवश्यकतानुसार शक्ति एवं योग से युक्त, विभिन्न बल की शिखाओं वाली सन्धि **सूकरघ्राण** कही जाती है।।४०।।

नानाकीलैस्तु सङ्कीर्णं स्यात्तु सङ्कीर्णकीलकम् ।
वज्राकृतिशिखं नाम्ना वज्रसन्निभमेव तत् ।।४१।।

विभिन्न प्रकार की कीलों से युक्त सन्धि को **सङ्कीर्णकीलक** कहते हैं। **वज्रसन्निभ** सन्धि में वज्र के आकृति की शिखा होती है।।४१।।

एतस्मिन् पङ्क्तिसन्धाने सन्धिरेकाकृतिर्भवेत् ।
उपर्युपरि चैवं स्याद् विपरीते विपत्करम् ।।४२।।

इस प्रकार एक पंक्ति को जोड़ने में ऊपर से नीचे तक एक ही आकार की सन्धि

का प्रयोग करना चाहिये। इसके विपरीत सन्धि करने पर विपत्ति आती है।।४२।।

अन्तर्मूलं बहिश्चाग्रं पार्श्वद्रव्येषु योजयेत्।
अन्तरग्रं बहिर्मूलं स्वामिनश्च विनाशनम् ।।४३।।

(सन्धि करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि) मूल भाग भीतर की ओर एवं अग्र भाग बाहर की ओर रहे। यदि अग्र भाग भीतर एवं मूल भाग बाहर रहता है तो वह स्वामी के विनाश का कारण बनता है।।४३।।

*** विद्धं कीलं च ***

शिखा दन्तं च शूलं च विद्धं पर्यायमीरितम्।
शल्यं च शङ्कुराणिश्च कीलं पर्यायमुच्यते ।।४४।।
अष्टसप्तकषडंशकेऽङ्घ्रिके भागतारमथ शूलकीलयोः।

विद्ध एवं कील—शिखा, दन्त, शूल एवं विद्ध—ये सभी (चूली, चूल के) पर्याय हैं तथा शल्य, शङ्कु, आणि तथा कील—ये सभी शब्द (कील के) पर्याय हैं। शूल एवं कील का माप स्तम्भ की चौड़ाई का आठ, सात या छठवें भाग के बराबर होता है।।४४।।

*** सन्धिदोषाः ***

कीलपार्श्वमथ पादमध्यमं योजयेत् सममुदग्रबुद्धिमान् ।।४५।।

सन्धि के दोष—बुद्धिमान (स्थपति) को चाहिये कि कील का पार्श्व स्तम्भ के मध्य में लगाये।।४५।।

स्तम्भान्तं दन्तान्तकं चेद्विनाशं
दन्तान्तं चेत् स्तम्भमध्यं तदेव।
स्तम्भान्तं चेत् सन्धिमध्यं सरोगं
सन्धेर्मध्यं पादमध्यं क्षयं स्यात् ।।४६।।

स्तम्भ का अन्तिम भाग एवं दन्त (शिखा, चूल) का अन्तिम भाग यदि आपस में जुड़ें तो विनाश के कारण बनते हैं। इसी प्रकार यदि दन्त का अन्तिम भाग स्तम्भ के मध्य में पड़े तो भी वही परिणाम होता है। यदि स्तम्भ का अन्तिम भाग सन्धि के मध्य पड़े तो वह रोगकारक होता है तथा सन्धि का मध्य एवं पाद का मध्य यदि एक साथ हो तो वह क्षय का कारण होता है।।४६।।

दिग्विदिग्द्वारदेवांशं सर्वं त्यक्त्वा प्रयोजयेत्।
अर्कार्किवरुणेन्दूनां स्थानं दिगिति कीर्तितम् ।।४७।।

दिक्, विदिक् एवं द्वार के देवताओं के सभी भागों को छोड़कर सन्धि का प्रयोग करना चाहिये। अर्क (सूर्य), आर्कि (यम), वरुण एवं इन्दु देवों का स्थान दिक् कहलाता है (ये दिशायें क्रमश: पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर हैं)।।४७।।

अग्निराक्षसवाय्वीशस्थानं विदिगिति स्मृतम्।
गृहक्षतश्च पुष्पाख्यो भल्लाटश्च महेन्द्रकः।।४८।।
एतेषामंशकद्वारं तत्र सन्धिं न सन्धयेत्।
शल्यञ्च दन्तं त्यक्त्वैव पूर्वोक्तानाञ्च सम्मतम्।।४९।।

अग्नि, राक्षस, वायु एवं ईश देवता का स्थान विदिक् (कोण) कहलाता है। गृहक्षत, पुष्पाख्य, भल्लाट एवं महेन्द्र देवों का भाग द्वारभाग है। इन स्थानों पर सन्धि नहीं करनी चाहिये। पूर्व-वर्णित स्थानों पर शल्य (कील) एवं दन्त (चूल) का प्रयोग नहीं करना चाहिये।।४८-४९।।

मध्यार्धमध्यमध्यं च त्यक्त्वा युञ्जीत बुद्धिमान्।
द्रव्यमध्यस्थसूत्रस्य वामेऽवामे तु दन्तकम्।।५०।।

इसी प्रकार दन्त का प्रयोग मध्य अथवा मध्यार्ध के मध्य (चतुर्थांश भाग के बिन्दु) को छोड़ कर करना चाहिये। दन्त का प्रयोग पदार्थ के केन्द्र-सूत्र के दाहिने एवं बाँयें भाग में करना चाहिये।।५०।।

द्रव्यविस्तारमध्यस्था शिखा शीघ्रविनाशिनी।
अन्योन्यसन्धिविद्धं च शिखा कीलस्य वेधनम्।।५१।।

पदार्थ के विस्तार के मध्य में स्थित शिखा (चूल) शीघ्र ही विनाश करती है। शिखा के लिये निर्मित स्थान में कील लगाना तथा कील के स्थान में शिखा का प्रयोग करना वेधन होता है।।५१।।

धर्मार्थकामसौख्यानां विपत्तिं नित्यमादिशेत्।
वामदक्षिणयोगेन प्रतिसन्धिं परित्यजेत्।।५२।।

(उपर्युक्त वेधन) धर्म, अर्थ, काम एव सुख का नाश करती है। बाँयें स्थान में होने वाली सन्धि दाहिने एवं दाहिने स्थान की सन्धि बाँयें हो तो इसका (प्रतिसन्धि का) परित्याग करना चाहिये।।५२।।

तारतीव्रान्तरस्थं यत् कल्प्यशल्यमिति स्मृतम्।
पूर्ववद् विधिना सन्ध्यायाममध्ये तु योजयेत्।।५३।।

पदार्थ की चौड़ाई के बराबर स्थान पर लम्बाई में हुई सन्धि **कल्प्यशल्य** कहलाती

है। पूर्ववर्णित विधि से पदार्थ के मध्य स्थान को छोड़ कर सन्धि करनी चाहिये।।५३।।

अज्ञानात् त्वरयानुक्तस्थाने वा योजयेद् यदि ।
सर्वेषामपि वर्णानां सर्वसम्पत्क्षयो भवेत् ॥५४॥

अज्ञानता अथवा शीघ्रता के कारण वर्जित स्थान पर यदि सन्धि की जाय तो सभी वर्ण वाले गृहस्थों की सभी सम्पत्तियों का नाश होता है।।५४।।

पुराणैर्न नवद्रव्यैर्न पुराणैर्नवैरपि ।
नवैर्नवानां द्रव्याणां योगो जीर्णैश्च जीर्णिनाम् ॥५५॥

पुराने पदार्थों की नये पदार्थ से तथा नये पदार्थों की पुराने पदार्थों के साथ सन्धि नहीं करनी चाहिये। नये पदार्थों की नये से एवं पुराने पदार्थों का पुराने पदार्थ से सन्धि करनी चाहिये।।५५।।

युक्त्यैव द्रव्यसन्धानं सम्पदामास्पदं सदा ।
विपरीते विनाशाय भवेदेवेति निश्चयः ॥५६॥

उचित रीति से पदार्थों की सन्धि सम्पत्तिकारक होती है। इसके विपरीत करने से निश्चय ही विनाश होता है।।५६।।

ऊर्ध्वद्रव्याणि सर्वाणि वाजनादीनि यान्यपि ।
सशिखान्यशिखान्येतान्युक्त्या योज्यानि पूर्ववत् ॥५७॥

(स्तम्भ के) ऊपर के सभी वाजन आदि पदार्थ शिखा के साथ अथवा विना शिखा के पूर्ववर्णित विधि के अनुसार उचित रीति से जोड़ना चाहिये।।५७।।

पादोपरि भवेत् सन्धिरन्तरे नैव कारयेत् ।
ब्रह्मस्थलोर्ध्वगद्रव्यसन्धानं विपदां पदम् ॥५८॥

सन्धि स्तम्भ के ऊपर होती है। उनके मध्य में सन्धि नहीं करनी चाहिये। ब्रह्मस्थल (मध्य स्थान) के ऊपर पदार्थों की सन्धि विपत्तिकारक होती है।।५८।।

ब्रह्मस्थानस्थितः स्तम्भः स्वामिनश्च विनाशनम् ।
तुलादीन्युपरिद्रव्याणामत्र दोषो न विद्यते ॥५९॥

ब्रह्मस्थान पर स्थित स्तम्भ गृहस्वामी का विनाश करता है। तुला आदि यदि ऊपर स्थित पदार्थ वहाँ पड़ें तो दोष नहीं होता है।।५९।।

पुंस्त्रीनपुंसकमहीरुहसन्धिकार्ये
पुंसा च पुंविहितमेव तथैव पुंस्त्री ।
नैवोभयेन च नपुंसकसङ्गमः स्या-
ज्जात्यैकया शुभद उक्तविधिक्रमं वा ॥६०॥

पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग एवं नपुसंकलिङ्ग वृक्षों के काष्ठों के सन्धि की समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पुरुष-काष्ठ से पुरुष-काष्ठ का एवं इसी प्रकार स्त्री-काष्ठ से स्त्रीकाष्ठ का ही सन्धिकर्म हो। इनके साथ नपुंसक काष्ठ की सन्धि नहीं होनी चाहिये। नपुंसक काष्ठ का सजातीय काष्ठ से संयोग होना चाहिये। एक जाति के काष्ठों की सन्धि शुभ परिणाम देती है।।६०।।

एवं युक्त्या द्रव्यसन्धानयोगं प्रोक्तं नृणां तैतिलानां निवासे।
युक्त्या युक्तं सम्पदामास्पदं तद्युक्त्यायुक्तं सर्वसम्पत्क्षयं स्यात्॥६१॥

इस विधि से मनुष्यों एवं देवों के आवास में पदार्थों की सन्धि करनी चाहिये। इस रीति से की गई सन्धि सम्पत्ति प्रदान करती है। इसके विपरीत रीति से हुई सन्धि सभी सम्पत्तियों का नाश करती है।।६१।।

छिद्रं स्वल्पतरं विधेयमधुना दीर्घान्वितच्छेदनं
स्थूलं काष्ठशिलेभदन्तमुदितं निम्नं हि पक्वेष्टकम्।
पक्वं निर्गमनं सुधाभिरनिशं कुर्यात्तनुत्वं यथा
पूर्वं मानसमुन्नयेत्तदपरं शिल्प्युत्तमः शातधीः॥६२॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे सन्धिकर्मविधानो
नाम सप्तदशोऽध्यायः

अच्छे स्थपति को छोटा, किन्तु गहरा छिद्र बनाना चाहिये। कील काष्ठ, प्रस्तर या गजदन्त निर्मित से होना चाहिये। पकी ईंट में छिद्र छोटा एवं कम गहरा होना चाहिये। इसके छिद्र को सुधा के प्रयोग से पतला एवं उचित घेरे वाला बनाना चाहिये। जिनका यहाँ वर्णन नहीं किया गया है, उनके योग को बुद्धिमान स्थपति को अपनी बुद्धि द्वारा युक्तिपूर्वक करना चाहिये।।६२।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

१. सन्धि (श्लोक २)

मानसार (१७.२) में काष्ठखण्डों में की जाने वाली सन्धियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

वृक्षमूले बलं युक्तं वृक्षाग्रे बलहीनकम्।
तस्मात्तु बन्धयेत्सर्वं दारुसम्मूलतः सुधीः।।

२. सन्धिभेद (श्लोक ३)

सन्धिभेदों का वर्णन विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (६१ अ.) में इस प्रकार प्राप्त होता है—

करनिम्नं भूमिनिम्नं कुम्भनिम्नं क्वचिन्मतम्।।
खड्गनिम्नं महानिम्नं निम्नं नानाविधं क्वचित्।
कल्पनार्हं प्रकर्तव्यं शैलदार्विष्टिकास्वपि।। (१३-१४)

३. सन्धिविधि (श्लोक ४-९)

सन्धिविधि का वर्णन वास्तुविद्या (८ अ.) में इस प्रकार प्राप्त होता है—

सन्धिकर्माभिधानानि संक्षिप्य प्रवदाम्यहम्।
ह्रस्वद्रव्यं तथा वामे दीर्घद्रव्यं तु दक्षिणे।।
यथाक्रमं प्रयोक्तव्यं कीलपार्श्वं तु दक्षिणे।
सन्धिखण्डस्य दैर्घ्यं तु स्वव्याससममुच्यते।।
अर्धं वा पादहीनं वा योग्यायोग्यं च कारयेत्।
महीरुहाङ्घ्रिसन्धौ च खण्डं कार्यं घनांशकैः।।
एकेनापि तथा द्वाभ्यां त्रितयेनापि दृश्यते।
स्तम्भाग्रात् तद्गतिस्तम्भादाधारेऽधः शिखान्तरी।। (३८-४१)

४. मेषयुद्ध सन्धि (श्लोक २९)

(क) इस सन्धि का प्रयोग वंश या अग्रधानी के मूल शिखा से कूट को जोड़ने में किया जाता है। इसे कूट के पार्श्वरन्ध्र से जोड़ा जाता है—

वंशाग्रमूलशिखया यदि कूटपार्श्वरन्ध्रप्रवेशकृतसन्धिरिहाजयुद्धः।
आधारभेदकृतसन्धिवशेन कूटस्याधोगतं भवति मूलमिहापि नित्यम्।।
(मनुष्यालयचन्द्रिका-६.१३)

(ख) मानसार (१७ अ.) में मेषयुद्ध का वर्णन प्राप्त होता है। शिलास्तम्भों में इसका प्रयोग करना चाहिये—

शिलास्तम्भं तु सर्वेषां मेषयुद्धं प्रकल्पयेत्। (१७.५७)

मेषयुद्ध सन्धि में चारो दिशाओं में चार शूल बने रहते हैं—

मेषयुद्धे चतुर्दिक्षु चतुःशूलं तु संयुतम्। (१७.५४)

इसमें कर्ण कोने के नीचे एवं मध्य भाग में छिद्र बनाना चाहिये—

अधः कर्णं मध्ये छिद्रं मेषयुद्धं हि योजयेत्। (१७.४७)

अथाष्टादशोऽध्यायः

(प्रासादोर्ध्ववर्गाः)

गलभूषणमेतेषां शिरश्छन्दमथाधुना ।
लुपामानं च वक्ष्येऽहं स्थूपिकालक्षणं क्रमात् ॥१॥

प्रासाद के ऊर्ध्व वर्ग—अब मैं (मय ऋषि) इन (प्रासादों) के गले के अलङ्करणों का, शीर्ष-भाग के आच्छादन का, लुपा के प्रमाण का एवं स्तूपिका के लक्षण का क्रमशः वर्णन करता हूँ।।१।।

❋ गललक्षणम् ❋

वेदिकाद्विगुणोत्सेधं कन्धरं शिखरोदयम् ।
तद्द्वित्रिगुणतुङ्गं वा वेदिकोच्चं तु वा गलम् ॥२॥

गल का लक्षण—भवन का गल वेदिका की ऊँचाई का दुगुना ऊँचा होना चाहिये। उसके ऊपर शिखरोदय गल का दुगुना अथव तीन गुना ऊँचा होना चाहिये। अथवा गल की ऊँचाई वेदिका की ऊँचाई के बराबर होनी चाहिये।।२।।

गर्भभित्तित्रिभागैकमङ्घ्रेर्वेद्यङ्घ्रिवेशनम् ।
ग्रीवावेशं ततस्तावदेवं दैवे च मानवे ॥३॥

गर्भ-भित्ति (कक्ष की दीवार) के तीन भाग के एक भाग के बराबर अङ्घ्रि (पाद, चरण, स्तम्भ) की वेदी में अङ्घ्रि का निवेश होना चाहिये। इसी प्रकार भित्ति के ऊपरी भाग में ग्रीवा (काष्ठ, गल) का निवेश होना चाहिये। यह विधान देवालय एवं मनुष्यगृह—दोनों के लिये कहा गया है।।३।।

पञ्चांशे भित्तिविष्कम्भे भागो वेद्यङ्घ्रिवेशनम् ।
ग्रीवावेशं ततस्तावच्चतुरंशे तथैव च ॥४॥

(अथवा) भित्ति-विष्कम्भ के पाँचवें भाग के बराबर पाद-निवेश की वेदिका एवं ग्रीवावेश (कण्ठ-निवेश) होता है। इसी प्रकार ये दोनों भित्ति-विष्कम्भ के चौथे भाग के बराबर भी हो सकते हैं।।४।।

एवं त्रिविधनीत्या तु ग्रीवा साध्या प्रयत्नतः ।
उत्तरं वाजनं चैव मुष्टिबन्धं मृणालिका ॥५॥

दण्डिकावलयं चैव गलभूषणमिष्यते ।
मुष्टिबन्धोपरि क्षिप्तव्यालनाटकमूर्ध्वतः ॥६॥
दण्डिका च विधातव्या तदूर्ध्वे शिखरक्रिया ।

इस प्रकार इन तीन प्रकारों से (किसी एक नियम से आवश्यकतानुसार) प्रयत्नपूर्वक कण्ठ निर्मित करना चाहिये। उत्तरवाजन, मुष्टिबन्ध, मृणालिका, दण्डिका एवं वलय गल के भूषण होते हैं। मुष्टिबन्ध के ऊपर व्याल एवं नाट्य-दृश्य ऊपर से (नीचे तक) होते हैं। दण्डिका का निर्माण (इस प्रकार) होना चाहिये (जिसमें) उसके ऊपर शिखर-निर्माण हो सके।।५-६।।

❋ शिखरभेदाः ❋

शिखरोत्सेधमात्तोच्चा भागमानवशेन वा ॥७॥

दण्डिकावधिविस्तारं पञ्चांशं द्व्यंशमानकम् ।
सप्तनन्दशिवांशे तु त्रयोदशतिथौ तथा ॥८॥

सप्तदशांशके बन्धवेदभूतषडंशकम् ।
सप्ताष्टांशं तु तारार्धमित्यष्टौ शिखरोदयाः ॥९॥

पाञ्चालं चापि वैदेहं मागधं चापि कौरवम् ।
कौसलं शौरसेनं च गान्धारावन्तिकं तथा ॥१०॥

शिखर के भेद—शिखर की ऊँचाई वर्णित भाग के मान के अनुसार होती है। अथवा दण्डिका के मध्य के विस्तार के अनुसार रक्खी जाती है। इसका माप इस प्रकार होता है—पाँच भाग में दो भाग, सात भाग में तीन भाग, नौ भाग में चार भाग, ग्यारह भाग में पाँच भाग, तेरह भाग में छः भाग, पन्द्रह भाग में सात भाग, सत्रह भाग में आठ भाग अथवा दण्डिका की मोटाई का आधा भाग। इस प्रकार शिखर के आठ भेद बनते हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—पाञ्चाल, वैदेह, मागध, कौरव, कौसल, शौरसेन, गान्धार एवं आवन्तिक। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

१. पाँच भाग में दो भाग—पाञ्चाल
२. सात भाग में तीन भाग—वैदेह
३. नौ भाग में चार भाग—मागध
४. ग्यारह भाग में पाँच भाग—कौरव
५. तेरह भाग में छः भाग—कौसल
६. पन्द्रह भाग में सात भाग—शौरसेन
७. सत्रह भाग में आठ भाग—गान्धार
८. दण्डिका मोटाई का आधा भाग—आवन्तिक।।७-१०।।

यथाक्रमेण नामानि ज्ञातव्यानि विचक्षणैः।
जघनाद् बहिरेवैते एकाः सर्वे समाहिताः ॥११॥
सर्वे ते तैतलानां स्युरर्धादधस्तु मानुषम्।

ज्ञानियों द्वारा इनका (पाञ्चाल आदि का) नाम क्रमशः जानना चाहिये। ये सभी जङ्घा के बाहर निकले होते हैं। इन शिखरों में नीचे वाला (आवन्तिक) शिखर मनुष्य के आवास के योग्य एवं शेष सभी देवालय के योग्य होते हैं।।११।।

तद्दशाद्यासप्तदशभागादेकांशवर्धनात् ॥१२॥
आवन्तिका प्रभृत्यूर्ध्वमष्टाविष्टलुपोदयाः।
व्यामिश्रं च कलिङ्गं च तथा कौशिकमेव च ॥१३॥
वराटं द्राविडं चैव बर्बरं कोल्लकं पुनः।
तथा शौण्डिकमित्येते व्यामिश्रादिलुपोदयाः ॥१४॥

इन आवन्तिक आदि शिखरों पर लुपा-संयोजन के लिये दश भाग से प्रारम्भ कर एक-एक अंश बढ़ाते हुये सत्रह भाग पर्यन्त आठ प्रकार की ऊँचाइयाँ प्राप्त होती हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—व्यामिश्र, कलिङ्ग, कौशिक, वराट, द्राविड, बर्बर, कोल्लक तथा शौण्डिक।।१२-१४।।

✷ शिखराकृतिः ✷

देवानां प्रथितान्येव पाषण्ड्यास्त्रमिणामपि।
चतुरस्रं च वृत्तं च षडस्राष्टास्रमेव च ॥१५॥
द्वादशास्रं द्विरष्टास्रं पद्मकुड्मलसन्निभम्।
तथामलकपक्वाभं दीर्घवृत्तं च गोलकम् ॥१६॥

शिखर की आकृति—देवों एवं साधुओं-संन्यासियों का भवन के शिखरों के आकार चौकोर, वृत्ताकर, षट्कोण, अष्टकोण, द्वादश कोण, षोडश कोण, पद्माकार, पके आँवले के आकार का, लम्बी गोलाई के आकार का और गोलाकार होता है।

अष्टास्राद्यष्टधाराणि हर्म्यादीनां शिरांसि हि।
षडाद्याषष्टिकर्णं च सम्मतं शिखराकृतिः ॥१७॥

हर्म्यों (महलों) के शिखर आठ कोण एवं आठ धाराओं वाले होते हैं; किन्तु ये छः कोण से लेकर साठ कोणपर्यन्त हो सकते हैं।।१७।।

✷ स्थूपिकोत्सेधः ✷

तदुच्छ्रयचतुष्पञ्चभागं स्यात् पद्मतुङ्गकम्।
तत्समोच्चत्रिभागा वा तदूर्ध्वे स्थूपिकायतिः ॥१८॥

शिखर की ऊँचाई के चौथे या पाँचवें भाग के बराबर ऊँचा कमल होना चाहिये। उसके ऊपर पद्म के बराबर अथवा उसके तीसरे भाग के बराबर लम्बी स्थूपिका (स्तूपिका) होती है।।१८।।

अल्पीयसी शिरोर्धा वा भागोच्चा वा त्रिभागिके ।
सङ्क्षेपात् स्थूपिकाभूषा ह्युपरिष्टात् प्रकाश्यते ।।१९।।

अत्यन्त छोटे भवन में स्थूपिका (स्तूपिका) का प्रमाण शिखर का आधा अथवा तीसरे भाग के बराबर होना चाहिये। इस प्रकार संक्षेप में स्थूपिका के अलङ्करणों का वर्णन ऊपर किया गया।।१९।।

✹ लुपासंख्या ✹

पञ्चाद्येकादशान्ताश्च चतुराद्या दशान्तकाः ।
चतुर्विधा लुपासंख्या देवेऽदेवे निकेतने ।।२०।।

देवों एवं मनुष्यों के भवन में चार प्रकार के लुपाओं (लट्ठे, लकड़ी के पट्टे) की संख्या होती है। यह पाँच से लेकर ग्यारह पर्यन्त (पाँच, सात, नौ, ग्यारह) अथवा चार से लेकर दस तक (चार, छः, आठ, दश) होती है।।२०।।

✹ पुष्करम् ✹

पूर्वोक्तं ह्यन्तरोच्चं तु व्यामिश्रं नाम पुष्करम् ।
ऊर्ध्वस्थान्यप्यधस्थानि पुष्कराण्यर्धमानतः ।।२१।।

पूर्व-वर्णित अन्तर की ऊँचाई व्यामिश्र नामक पुष्कर (शिखर का एक भाग) की हैं। ऊर्ध्व-स्थित एवं अधोभाग में स्थित पुष्कर का माप आधे प्रमाण से रखना चाहिये।।२१।।

अर्धमारभ्य संवर्त्य पञ्चादुक्तोच्चसीमयुक् ।
आरोह्याण्यवरोह्याणि गुह्यमेतदुदाहृतम् ।।२२।।

आधे प्रमाण से प्रारम्भ कर सबसे ऊँचे प्रमाण तक जाना चाहिये। इसके पश्चात् वापस (नीचे तक) लौटना चाहिये। आरोह एवं अवरोह का यह गोपनीय क्रम इस प्रकार वर्णित है।।२२।।

✹ लुपामानम् ✹

दण्डिकावधि तारार्धं चतुरस्त्रीकृतं समम् ।
कोष्णीषासनसीमाख्यसूत्रयुक्तं खलं नयेत् ।।२३।।

(दो) दण्डिकाओं के मध्य की मोटाई (चौड़ाई) के आधे माप के बराबर एक

सम चतुर्भुज बनाना चाहिये। इस चतुर्भुज के चारो भुजाओं (सूत्रों) की संज्ञा क, उष्णीष, आसन एवं सीम होती है।।२३।।

दण्डिकोत्तरबाहुल्यं सूत्रयेदासनादधः ।
आसने चतुरंशाद्यादंशांशं बिन्दु विन्यसेत् ॥२४॥

आसन सूत्र के नीचे दण्डिका एवं उत्तर के बराबर सूत्र फैलाना चाहिये (रेखा बनानी चाहिये)। इसके पश्चात् आसनसूत्र पर चार से प्रारम्भ कर दश भागपर्यन्त (चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ, दश) बिन्दु चिह्नित करना चाहिये।।२४।।

कोष्णीषसन्धेस्तद्बिन्दु सीमच्छायोच्चमावहेत् ।
छायोच्चायतमानानि कमूलादासने न्यसेत् ॥२५॥

क सूत्र एवं उष्णीष सूत्र की सन्धि से उस बिन्दु को सीम की छाया (शिखर का एक भाग) की ऊँचाई तक ले जाना चाहिये। छाया की ऊँचाई तक लम्बाई के मान को क सूत्र के मूल से आसनसूत्र पर न्यस्त करना चाहिये।।२५।।

तान्येव दण्डिकादीनां पर्यन्तानि भवन्ति हि ।
कोष्णीषसङ्गात् पर्यन्तबिन्द्वन्तं तल्लुपायतम् ॥२६॥

ये ही सूत्र दण्डिका आदि तक होते हैं। लुपाओं की लम्बाई क एवं उष्णीष सूत्र के सन्धिस्थल से बिन्दु के अन्त तक होती है।।२६।।

तत्तत्पर्यन्तविस्तारं कसूत्रे विन्यसेत् पुनः ।
स्वस्वकर्णगतच्छायामानैः सर्वान् विमानयेत् ॥२७॥

क सूत्र पर उनका (लुपाओं का) विस्तार पुनः विन्यस्त करना चाहिये (अर्थात् लुपायें कहाँ-कहाँ लगनी हैं—इसे चिह्नित करना चाहिये)। सभी को अपने कर्ण से छायामान तक मापना चाहिये।।२७।।

तत्तत्पर्यन्तसूत्राणि मल्लपर्यन्तसूत्रवत् ।
एवं मध्यलुपासीम्नो वर्धन्ते वर्णसंख्यया ॥२८॥

वे पर्यन्त सूत्र मल्ल (शिखर के एक भाग) तक सूत्र की भाँति होते हैं। इस प्रकार मध्य में स्थित लुपा अन्य लुपाओं (पार्श्व में स्थित लुपा) की संख्या के अनुसार बढ़ सकते हैं।।२८।।

एवमावर्त्य तत्पश्चादारोह्यैवावरोह्य च ।
तत्तत्पुष्करसञ्जातं तत्तन्मल्लायतं विदुः ॥२९॥

इस प्रकार (लुपा-संयोजन) करने से तथा आरोह एवं अवरोह से पुष्कर निर्मित

होता है एवं इससे मल्ल की लम्बाई ज्ञात होती है।।२९।।

✵ पञ्चलुपाभेदाः ✵

समध्यं च विमध्यं च लुपाकलनमेव हि।
मध्यं च मध्यकर्णं चाप्याकर्णमनुकोटिकम् ॥३०॥

कोटिरित्येवमुच्यन्ते पञ्च वर्णलुपाः क्रमात्।
युग्मांशेऽयुग्मसंख्याभिरयुग्मे युग्मसंख्यया ॥३१॥

लुपायें (अपनी स्थिति के अनुसार दो प्रकार की) समध्य (मध्य में लगने वाली) एवं विमध्य (मध्य से हट कर लगने वाली) होती हैं। लुपायें पाँच प्रकार की क्रमशः इस प्रकार होती हैं—मध्य, मध्यकर्ण, आकर्ण, अनुकोटिक एवं कोटि। यदि रेखा का विभाजन सम भागों में हुआ हो तो लुपा की संख्या विषम होती है एवं विषम भागों में सम संख्या में लुपायें होती हैं।।३०-३१।।

कान्तान्तरासिकोष्णीषसीमान्तं स्वांशसंख्यया।
चूलिका भ्रमणीया हि समयासमया च सा ॥३२॥

तत्तत्सूत्रात् स्थिता दन्तस्तनसूत्राणि सूत्रयेत्।
शयितसूत्रादधः पृष्ठवंशसूत्राणि सूत्रयेत् ॥३३॥

कान्ता, अन्तरा, असिका, उष्णीष, सीमान्त, चूलिका, भ्रमणीया, समया एवं असमया उन सूत्रों से स्थित होकर दन्त एवं स्तन संज्ञक सूत्रों को सूत्र में बाँधती हैं (दन्त से स्तन संज्ञक सूत्र के मध्य उपर्युक्तों की स्थिति होती है)। नीचे स्थित शयित सूत्र (क्षैतिज सूत्र) पृष्ठवंश (लुपायें जिस पर टिकती हैं) को सूत्र में बाँधते हैं।

शयितस्थितसूत्रान्तः कीलं तत्कूटमूर्धनि।
निधायार्धेन्दुवत् सर्वाश्चूलिका विलिखेत् समाः ॥३४॥

शयित सूत्र के भीतरी भाग में स्थित कील के ऊर्ध्व भाग में कूट को अर्धचन्द्र की भाँति स्थापित कर सभी सम चूलिकाओं को चिह्नित करना चाहिये।।३४।।

लुपाविलुपमध्यान्तर्गता सा चूलिकाकृतिः।
एवं स्याद् ऋजुकार्यं हि तथा कुक्कुटपक्षवत् ॥३५॥

लुपा एवं विलुप के मध्य में भीतर स्थित चूलिका की आकृति निर्मित होती है। इस प्रकार ऋजु निर्मित होता है एवं इसकी आकृति कुक्कुट पक्षी के पंख के समान होती है।।३५।।

बालकूटस्य विस्तारस्थितसूत्रस्तनान्तरे।
कूटमध्यमसूत्रं तु वलयच्छिद्रमध्यगम् ॥३६॥

बालकूट के विस्तार में स्थित सूत्रस्तन के मध्य में, वलय के छिद्र के मध्य में स्थित कूट का मध्यम सूत्र होता है।।३६।।

पर्यन्तसूत्रकादन्तर्दण्डिकोत्तरजा ततिः।
तदन्तर्जानुकव्यासस्तदन्तश्चूलिकास्थितिः ॥३७॥

पर्यन्त-सूत्र से अन्तर-दण्डिका के वाम भाग में जो विस्तार होता है, वहाँ अन्तर्जानुक का व्यास एवं उसके मध्य में चूलिका की स्थिति होती है।।३७।।

✵ शिखरावयवमानानि ✵

लुपातारं तु दण्डं वा सपादं सार्धमेव वा।
विस्तारत्रिचतुष्पञ्चभागैकांशं तु तद्घनम् ॥३८॥

शिखर के अङ्गों के प्रमाण—लुपा की चौड़ाई एक दण्ड, सवा दण्ड या डेढ़ दण्ड होती है तथा इसकी मोटाई का माप विस्तार का तीसरा, चौथा या पाँचवाँ भाग होता है।।३८।।

जानुव्यासं चोत्तरार्धचूलिकार्धार्धमेव वा।
दण्डिकाविपुलं तावत् त्रिपादार्धं तु तद्घनम् ॥३९॥

जानु का व्यास उत्तर का आधा अथवा चूलिका के आधे का आधा (चतुर्थांश) होना चाहिये। इसकी मोटाई दण्डिका के बराबर, तीन चौथाई अथवा आधी होनी चाहिये।।३९।।

वलयं जानुनीव्रं च दण्डिकाविपुलार्धतः।
मल्लमध्यादिचामीली जानुकालम्बनं च यत् ॥४०॥
पर्यन्तजानुकान्तं च चूलिकाभाग एव सः।
शयनात् तावदेव स्यान्नीव्रालम्बनसूत्रकम् ॥४१॥

वलय एवं जानु के नीव्र (किनारा) का माप दण्डिका के विस्तार का आधा होना चाहिये। मल्ल का मध्य एवं आदि अमीली एवं जानु के आलम्बन से जानु के अन्त तक चूलिका का अंश होता है। नीव्र का आलम्बन-सूत्र शयन से होता है।

कुठारिकाललाटं च जघनं च समं मतम्।
पादविष्कम्भकर्णो वा विष्कम्भद्विगुणोऽथ वा ॥४२॥

कुठारिका, ललाट एवं जघन का मान एक समान होता है। पाद-विष्कम्भ एवं कर्ण का माप समान होता है अथवा विष्कम्भ का दुगुना होता है।।४२।।

कूटव्यासो लुपापिण्डी कर्णस्तद्द्विगुणायतः।
तदर्धं नालिकालम्बमूर्ध्वे मल्लाग्रसङ्गतिः ॥४३॥

कूट के व्यास के बराबर लुपा की पिण्डी होती है एवं कर्ण की लम्बाई उसकी दुगुनी होती है। उसके आधे माप का नालिका-लम्ब होता है। इसके ऊपर मल्ल के अग्र भाग को जोड़ा जाता है।।४३।।

छिद्रं तत्तीव्रमात्रं स्यान्मल्लानां तु प्रवेशनम्।
जानुकं च लुपामध्यं मध्यपृष्ठस्थवंशकम् ॥४४॥
समं स्यात् तीव्रताराभ्यां चूल्यंशो वा लुपान्तरम्।
लुपातीव्राष्टगुणं वा वलयो वंशविस्तरः ॥४५॥

छिद्र उसकी मोटाई के अनुसार होना चाहिये, जिससे उसमें मल्लों का प्रवेश हो सके। जानुक, लुपामध्य एवं मध्य पृष्ठ पर स्थित वंश समान माप के होते हैं। उनकी मोटाई चूली के भाग अथवा लुपा के मध्य भाग के बराबर होती है। अथवा लुपा की मोटाई के आठवें भाग के बराबर वलय एवं वंश का विस्तार होता है।।४४-४५।।

❋ छादनम् ❋

तदर्धं वेशनं तीव्रं फलकैर्लोहलोष्टकैः।
मृण्मयैस्तु यथास्थैर्यमिच्छया छादयेत् पुनः ॥४६॥
लुपोर्ध्वे फलकान् न्यस्य वाष्टबन्धमधोर्ध्वतः।

आच्छादन, छाजन—उपर्युक्त माप का आधा मोटा (आच्छादन होना चाहिये)। काष्ठ के फलकों, धातु के लोष्टकों (धातुनिर्मित पट्ट) अथवा मृत्तिका-निर्मित लोष्टकों से इच्छानुसार (भवन के शीर्ष को) इस प्रकार आच्छादित करना चाहिये, जिससे आच्छादन स्थिर रहे। लुपा के ऊपर फलकों (या लोष्टकों) को रखकर नीचे एवं ऊपर अष्टबन्ध (विशिष्ट गारा) लगाना चाहिये।।४६।।

❋ वलयसन्धिः ❋

लुपामध्यादधश्छिद्रं वलयस्य विधीयते ॥४७॥
क्रियायां परलेखास्तु कल्प्याः षोडशसंख्यया।
कुक्षिव्यासाष्टभागैकं मात्रामानमिति स्मृतम् ॥४८॥

वलय की सन्धि—वलय के छिद्र लुपा के मध्य के नीचे होता है। इसके लिये सोलह संख्या में परलेखायें (विशिष्ट रेखायें) निर्मित करनी चाहिये। इसका प्रमाण कुक्षि के व्यास के आठवें भाग के अङ्गुलिमान के बराबर होनी चाहिये।।४७-४८।।

तेन भागेन सप्तार्धाद् द्व्यर्धभागविवर्धनात्।
आपञ्चदशसंख्यान्ताः परलेखास्तु षोडश ॥४९॥

उस भाग से साढ़े सात से प्रारम्भ कर ढ़ाई भाग बढ़ाते हुये पन्द्रह संख्या तक ले जाना चाहिये। इस प्रकार सोलह परलेखायें बनती हैं।।४९।।

लुपाध ऊर्ध्वबिन्द्वादि मध्ये विन्यस्य तद्विधिम्।
तद्बिन्द्वादि विलोक्या हि परलेखा विचक्षणैः ।।५०।।

लुपा के नीचे एवं ऊपर बिन्द्वादि को मध्य में करना चाहिये। उस बिन्द्वादि से बुद्धिमान (स्थपति) को परलेखा का अवलोकन करना चाहिये।।५०।।

प्रासादानामिमाः प्रोक्ता गृहादीनां च षोडश।
लुपायामाद्याद्द्विगुणं तन्मानं तेन बुद्धिमान् ।।५१।।

प्रासादों (महलों, देवालयों) की ये परलेखायें गृहों में सोलह संख्याओं में होती हैं। लुपाओं में प्रथम से दुगुना मान करते हुये उनका मान बुद्धिमान (स्थपति) को स्वीकार करना चाहिये।।५१।।

कोष्णीषासनसूत्राभ्यामधः शफरमालिखेत्।
तस्मादुपरि मल्लस्य लेखयेत् तद्विचक्षणः ।।५२।।

क, उष्णीष तथा आसन सूत्र के नीचे शफर को अङ्कित करना चाहिये। उसके ऊपर बुद्धिमान (स्थपति) को मल्ल का अङ्कन करना चाहिये।।५२।।

मल्लायतादधोभागे त्रिःपञ्चांशीकृते: क्रमात्।
तत्तदंशावसानं तु मत्स्यं तत्तत् समुल्लिखेत् ।।५३।।

मल्ल के नीचे लम्बाई के पन्द्रह भाग करने चाहिये। उन-उन भागों के अन्त से मत्स्य की आकृति बनानी चाहिये।।५३।।

सर्वासां परलेखानां क्रमोऽयं परिकीर्तितः।
पाञ्चालादिलुपानां च प्रत्येकं प्रोच्यते बुधैः ।।५४।।

सभी परलेखाओं का यही क्रम कहा गया है। पाञ्चाल आदि लुपाओं में से प्रत्येक के विषय में बुद्धिमानों ने वर्णन किया है।।५४।।

ऋजाकार्ययुता मल्लाद् या लेखासनकाग्रयोः।
मध्ये परं हि सा प्राज्ञैः परलेखा प्रकीर्तिता ।।५५।।

आसन एवं क सूत्र के अग्रभाग से एवं मल्ल से संयुक्त, मध्य भाग एवं उसके बाद सीधी रेखा को बुद्धिमानों ने परलेखा कहा है।।५५।।

✵ घटिका ✵

लुपाबाहुल्यमानेन घटिकां चतुरश्रिकाम्।
वितस्त्यायामिनीमृज्वीं कृतमध्यमसूत्रिताम् ।।५६।।

लुपा की चौड़ाई के मान से चौकोर घटिका का निर्माण करना चाहिये। यह एक वितस्ति (बित्ता, बालिश्त) लम्बी, सीधी, मध्यम सूत्र से युक्त होती है।।५६।।

चूलिकान्तर्वर्णलुपातिर्यक् सूत्रस्वमध्यमात् ।
विन्यस्य घटिकां पश्चाच्छित्रां शमनसूत्रवत् ।।५७।।

चूलिका, अन्तर्वर्ण, लुपा एवं तिर्यक् सूत्र के मध्य में घटिका को स्थापित करना चाहिये। इसके पश्चात् इसे शमन सूत्र के समान छिद्रयुक्त करना चाहिये।।५७।।

प्रतिवर्णं तु घटिकां तद्वर्णे तां निधापयेत् ।
क्षिप्तसूत्रस्य शेषांशच्छिन्ने वर्णलुपोदरे ।।५८।।

दण्डिकोत्तरवलयस्थितसूत्रसमं लिखेत् ।
उदरायाममध्ये तु लिखिते ककरं भवेत् ।।५९।।

प्रत्येक वर्ण की घटिका को उसके वर्ण पर स्थापित करना चाहिये। क्षिप्त सूत्र के शेष भाग के वर्ण लुपा के उदर भाग पर दण्डिका, उत्तर एवं वलय पर स्थित सम-सूत्र का आलेखन करना चाहिये। उदर भाग की लम्बाई के मध्य भाग में सम-सूत्र के अङ्कन से ककर निर्मित होता है।।५८-५९।।

घटिकाललाटमध्यं ककरं च समं यथा ।
तथा निधाय घटिकां लुपोदरवशायताम् ।।६०।।

तल्ललाटकृतिच्छेद्या वलयाद्या लुपोदरे ।
इष्टपार्श्वे क्षिपेच्छायां छिद्रैश्च वलयस्य तु ।।६१।।

जिस प्रकार घटिका ललाट के मध्य में हो तथा ककर सम हो, उस विधि से लुपा के उदर भाग में लम्बाई में रखकर उसे ललाट की आकृति में काटना चाहिये। वलय आदि को लुपा के उदर भाग में इच्छित भाग रखना चाहिये। वलय के छिद्रों के साथ छाया को स्थापित करना चाहिये।।६०-६१।।

तत्तद्धटिकया तत्तन्मध्यसंहितमध्यया ।
या ललाटगतच्छाया तासां तासां तु सा भवेत् ।।६२।।

उस-उस घटिका के साथ तथा मध्य में स्थित उनके मध्य भाग से संयुक्त जो ललाट से सम्बद्ध छाया है, वह उन-उन (घटिकाओं) की होती है।।६२।।

दण्डिकावलयच्छिद्रस्तनजानूत्तरादिषु ।
शिरोमध्येऽर्धमध्ये च न्यसेन्मुण्डतुलोपरि ।।६३।।

दण्डिका, वलय, छिद्र, स्तन, जानु एवं उत्तर आदि पर, शिर के मध्य भाग में

तथा अर्ध के मध्य में तुला के ऊपर मुण्ड (सजावटी अङ्ग) स्थापित करना चाहिये।

विटभागशिखोपेततुलापादः सवंशहृत्।
सवर्णा मत्स्यबन्धाश्च खर्जूरपत्रसन्निभाः ॥६४॥

विट भाग (शीर्ष भाग) शिखा से युक्त, तुला-पाद से युक्त, वंश से युक्त, वर्ण से युक्त, मत्स्य-बन्ध एवं खर्जूर-पत्र के समान आकृति से युक्त होती है।।६४।।

❋ पुनश्छादनम् ❋

सवलयक्षो विधातव्या लुपाः शिखरकान्तरे।
लुपोर्ध्वे फलकं वोर्ध्वे तस्याः कम्पं निधाय च ॥६५॥
इष्टकासुधया वाऽपि प्रच्छादनमलङ्क्रियात्।

पुनः आच्छादन—शिखर के भीतरी भाग में वलयक्ष के साथ लुपा रखनी चाहिये। लुपा के ऊपर फलक अथवा कम्प रखना चाहिये तथा सुधा (गारा) एवं ईंटों से आच्छादन को सुन्दर बनाना चाहिये (अर्थात् उन्हें सही एवं सुन्दर बनाना चाहिये)।

❋ स्थूपिकाकीलम् ❋

स्थूपिकाकीले दीर्घं च पादोत्सेधसमं मतम् ॥६६॥
अर्धार्धमग्रविस्तारं दण्डार्धं मूलविस्तृतम्।
आशङ्कुमूलमुण्डान्तं तस्य मूलस्य वेधनम् ॥६७॥

स्तूपिका की कील—स्थूपिका (स्तूपिका) के कील की लम्बाई स्तम्भ की लम्बाई के बराबर होनी चाहिये। इसके शीर्ष भाग की चौड़ाई चौथाई दण्ड एवं मूल की चौड़ाई आधा दण्ड होनी चाहिये। इसके मूल का वेधन शङ्कु के मूल से लेकर मुण्ड पर्यन्त होना चाहिये।।६६-६७।।

वंशाधस्तान्निधातव्या मण्डनागाग्रपट्टिका।
बालकूटस्तनं शङ्कुमूलमुण्डकमेव च ॥६८॥

वंश के नीचे मण्डनाग, अग्रपट्टिका, बालकूट, स्तन, शङ्कुमूल एवं मुण्डक स्थापित करना चाहिये।।६८।।

अन्तःस्थवलयं वर्णपट्टिका च सनालिका।
मत्स्यबन्धनखर्जूरपत्रमल्लनिबन्धनात् ॥६९॥
वलक्षस्वस्तिधाराभिः शिखरान्तरलङ्क्रियात्।

शिखर के भीतरी भाग की सज्जा अन्तःस्थ वलय, नालियों से युक्त वर्णपट्टिका, मत्स्यबन्धन, खर्जूरपत्र, मलय, वलक्ष तथा स्वस्ति धाराओं से करनी चाहिये।।६९।।

विस्तारो मुखपट्ट्याश्च दण्ड्यो वाध्यर्ध एव वा ।।७०।।

नीप्रं षडष्टभागं वा कर्णिकोच्चं तु तत्ततिः ।
शक्तिध्वजस्य मूलस्य विपुलं दण्डमानतः ।।७१।।

तत्कण्ठं तावदेवोच्चं सपादं सार्धमेव वा ।
ग्रीवान्तगग्रपत्रं तु स्तम्भव्यासार्धतुङ्गवत् ।।७२।।

मुखपट्टी का विस्तार एक दण्ड या डेढ़ दण्ड होना चाहिये। नीप्र का माप उसके छठवें या आठवें भाग के बराबर होना चाहिये एवं उसकी चौड़ाई कर्णिका की ऊँचाई के बराबर होनी चाहिये। शक्तिध्वज के मूल की चौड़ाई एक दण्ड होनी चाहिये। उसका कण्ठ उसके बराबर, उसका सवा भाग या डेढ़ भाग अधिक होना चाहिये। ग्रीवा के अन्त तक जाने वाले गग्रपत्र का मान स्तम्भ की चौड़ाई का आधा ऊँचा होना चाहिये।

द्विदण्डादित्रिदण्डान्तमन्तरं गग्रपत्रयोः ।
वाताहतचलच्चारुलतावत् कर्णिकाक्रिया ।।७३।।

दो गग्रपत्रों के मध्य का भाग दो दण्ड से प्रारम्भ कर तीन दण्ड तक होना चाहिये। कर्णिका वायु के वेग से हिलती हुई लता की भाँति होनी चाहिये।।७३।।

अर्धकर्णमधस्तस्माच्छिरोऽधार्धेन चानतिः ।
ग्रीवोपरि कपोलान्तं त्रिदण्डं सार्धमेव वा ।।७४।।

नीचे अर्धकर्ण होना चाहिये एवं उसके ऊपर शिर होना चाहिये। डेढ़ भाग से अनति होनी चाहिये। ग्रीवा के ऊपर कपोल-पर्यन्त का भाग तीन या साढ़े तीन दण्ड होना चाहिये।।७४।।

तावच्छक्तिध्वजान्तं स्यात् सपत्रं वा सशूलकम् ।
नेत्रसंश्लिष्टमल्लं तु चूलिकास्तनमण्डलम् ।।७५।।

उससे पत्र एवं शूल से युक्त शक्तिध्वज लगा होना चाहिये। वहाँ नेत्र से युक्त मल्ल, चूलिका एवं स्तनमण्डल आदि निर्मित होना चाहिये।।७५।।

शयितस्थितपट्टाभ्यां मृणाल्यादिविभूषितम् ।
अर्धकर्णोर्ध्वपट्टोर्ध्वप्रत्यूर्ध्वे मुष्टिबन्धनम् ।।७६।।

क्षैतिज स्थित पट्ट कमल आदि से अलङ्कृत होना चाहिये। अर्धकर्ण, ऊर्ध्वपट्ट एवं ऊर्ध्वप्रति के ऊपर मुष्टिबन्ध निर्मित होना चाहिये।।७६।।

यथोशोभननिष्क्रान्तं त्रिमुखं स्यात् तदूर्ध्वतः ।
शूलाभं मतलाभं वा सव्यालं वा सनाटकम् ।।७७।।

शोभा के अनुसार निष्क्रान्त होना चाहिये। उसके ऊपर त्रिमुख होना चाहिये, जो शूल के समान, मतल के सदृश, व्याल (गज अथवा सर्प) के सदृश अथवा नृत्यादि के दृश्यों से युक्त हो।।७७।।

*** ललाटभूषणम् ***

तदूर्ध्वे कूटकोष्ठादिमण्डितं स्याद् विमानवत्।
सपट्टक्षुद्रकम्पाङ्गं मध्यतोरणमेव वा ।।७८।।

ललाट के अलङ्करण—उसके ऊपर कूट एवं कोष्ठ आदि से अलङ्कृत विमान (मन्दिर) के सदृश रचना होनी चाहिये, जो पट्ट, क्षुद्रकम्प आदि अङ्गों अथवा मध्य तोरण से युक्त हो।।७८।।

तोरणाभ्यन्तरे लक्ष्मीः साभिषेकाम्बुजासिका।
एवंविधैरथान्यैश्च मण्डनीया ललाटिका ।।७९।।

तोरण के मध्य में लक्ष्मी अङ्कित होनी चाहिये, जिनका (गजों द्वारा) अभिषेक किया जा रहा हो एवं हाथ में कमल-पुष्प हो। इस प्रकार अथवा अन्य विधि से ललाटिका को सजाना चाहिये।।७९।।

ललाटवंशसंविद्धमध्यशूलदृढीकृता ।
स्तम्भविस्तारविस्तीर्णा विधातव्या कुठारिका ।।८०।।

तत्कर्णं पत्रमकरं मण्डितं चावलम्बितम्।
अर्धकर्णेन चार्धं वा यथायुक्ति यथारुचि ।।८१।।

ललाट के वंश विद्ध, मध्य के शूल से दृढ़ बनाई गई, एक दण्ड विस्तृत कुठारिका होनी चाहिये। इसका कर्ण पत्र एवं मकर से अलङ्कृत तथा उस पर टिका होना चाहिये। अथवा पत्र तथा मकर मध्य में या अर्धकर्ण पर रुचि एवं योजना के अनुसार निर्मित करना चाहिये।।८०-८१।।

*** स्थूपिका ***

अन्तर्गतलुपातिर्यगग्रबन्धनविष्टकम् ।
तदूर्ध्वे तेन निर्विद्धं स्थूपिका यूपमिष्यते ।।८२।।

स्तूपिका—अग्र भाग (ऊपरी भाग) में जोड़े गये ईंटों के मध्य में तिरछी लुपायें प्रविष्ट होती हैं। उसके ऊपर उनको भेद कर स्थूपिका-यूप निकली होती है।।८२।।

पूर्वोक्तं स्थूपिकामानमलङ्कारमथोच्यते।
सार्धमर्धं तदूर्ध्वेऽर्धमर्धमंशं शरांशकम् ।।८३।।

अंशमर्धं च भागं स्यादर्धमंशं तथार्धकम्।
भागमर्धं तथार्धांशमंशमर्धं यथार्धकम् ॥८४॥
चतुरर्धं क्रमेणैवोत्तुङ्गे द्वाविंशदंशके।
पद्मं च क्षेपणं वेत्रं क्षेपणं पङ्कजं घटम् ॥८५॥
पङ्कजं क्षेपणं धृक् च क्षेपणं वेत्रमूर्ध्वतः।
क्षेपणं धृक् च कम्पं तु पद्मं फलकमम्बुजम् ॥८६॥
वेत्रं च मुकुलं चैव क्रमेणोक्तवशान्नयेत्।

स्थूपिका के प्रमाण का पहले वर्णन किया जा चुका है। अब उसके अलङ्करणों के बाईस भागों का (प्रमाणसहित) वर्णन किया जा रहा है; जो इस प्रकार है—पद्म : डेढ़, क्षेपण : आधा, वेत्र : आधा, क्षेपण : आधा, पङ्कज : एक, घट : पाँच, पङ्कज : एक, क्षेपण : आधा, धृक् : एक, क्षेपण : आधा, वेत्र : एक, क्षेपण : आधा, धृक् : एक, कम्प : आधा, पद्म : आधा, फलक : एक, अम्बुज : आधा, वेत्र : आधा तथा मुकुल : साढ़े चार।।८३-८६।।

सप्तद्व्यंशत्रिकद्व्यंशैः पञ्चनन्देन्द्रियत्रिकैः ॥८७॥
द्वित्रिवेदत्रिकद्व्यंशैर्गुणपञ्चर्तुपञ्चभिः।
द्वित्रिभागैः क्रमाद् व्यासं मूलपद्मादिषु न्यसेत् ॥८८॥

पद्म से प्रारम्भ कर मुकुल पर्यन्त (ऊपर वर्णित क्रम से अङ्गों) की चौड़ाई इस प्रकार होनी चाहिये—पद्म : सात भाग, क्षेपण : दो, वेत्र : तीन, क्षेपण : दो, पङ्कज : पाँच, घट : नौ, पङ्कज : पाँच, क्षेपण : तीन, धृक् : दो, क्षेपण : तीन, वेत्र : चार, क्षेपण : तीन, धृक् : दो, कम्प : तीन, पद्म : पाँच, फलक : छः, अम्बुज : पाँच, वेत्र : दो एवं मुकुल : तीन भाग।।८७-८८।।

मुकुलाग्रमंशमर्धार्धं यथाशोभवशान्नयेत्।
चतुरष्टद्विरष्टास्रं साधारं वर्तुलं तु वा ॥८९॥

मुकुल के अग्र भाग को शोभा के अनुसार एक या डेढ़ भाग बढ़ाया जा सकता है। इसका आकार चार, आठ या सोलह कोण वाला अथवा गोल रक्खा जा सकता है। जिस आकार से ऊपरी भाग को सहारा दे सके (वही आकृति चुनी जानी चाहिये)।

तदाकृतिः शिरश्छन्दमलङ्कारवशात्तु वा।
तदाकृतिः सुरोर्वीशविप्राणां च विशां मतम् ॥९०॥

अथवा इसकी आकृति भवन के शीर्ष भाग के अलङ्करण के अनुसार रखनी

चाहिये। ये आकृतियाँ देवों, राजाओं, ब्राह्मणों एवं वैश्यों के अनुकूल होती हैं।।९०।।

सुरद्विजनृपाणां तु वैश्यानां नैव शूद्रके।
तत्सम्बन्धं समापाद्य ध्वजदण्डं तदूर्ध्वगम् ।।९१।।
एवं लक्षणसम्पन्नं विमानं सम्पदां पदम्।

देवों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिये तो यह अनुकूल है; किन्तु शूद्रों के लिये नहीं है। इन अङ्गों को (यथोचित रीति से) नियोजित कर ध्वजदण्ड को उसके ऊपर रखना चाहिये। इन लक्षणों से युक्त विमान (देवालय, ऊँचा भवन) सम्पत्ति-कारक होता है।।९१।।

✵ लेपः सुधाकर्म च ✵

करालमुद्री गुल्माषकल्कचिक्कणसाह्वयाः ।।९२।।
चूर्णोपयुक्ताः पञ्चैते सर्वकर्मसनातनाः।
अभयाक्षबीजमात्रशर्कराः स्युः करालकाः ।।९३।।

लेप एवं गारा—कराल, मुद्री, गुल्माष, कल्क एवं चिक्कण—ये पाँचों चूर्ण सभी (निर्माण) कार्यों के लिये उचित होते हैं। कराल अभया (हर्र, हरीतकी) अथवा अक्ष (बहेड़ा, बिभीतक) के बीज के बराबर आकार के कङ्कड़ होते हैं।।९२-९३।।

मुद्गबीजसमा क्षुद्रशर्करा मुद्गमिष्यते।
सार्धत्रिपादद्विगुणकिञ्जल्कसिकतान्वितम् ।।९४।।
चूर्णस्य शर्कराशुक्त्योर्यद् गुल्माषं तदुच्यते।
करालं चापि मुद्रीं च तेन मानेन योजयेत् ।।९५।।

मूँग के दाने के बराबर छोटे कङ्कड़ को मुद्र कहते हैं। डेढ़ भाग, तीन चौथाई अथवा दुगुने माप में बालू से युक्त किञ्जल्क (कमल के सूत्र, रेशे) में शर्करा (कङ्कड़) एवं सीपियों (के चूर्ण के साथ) चूना मिलाने पर गुल्माष (एक प्रकार का गारा) तैयार होता है। कराल एवं मुद्री को भी इसी माप से तैयार किया जाता है।।५४-९५।।

पूर्वोक्तमात्रसिकताचणकश्चूर्णमानतः ।
क्रियार्थं पेषितं कल्कं चिक्कणमस्तु केवलम् ।।९६।।

पूर्व-वर्णित माप में बालू के साथ चणक (चने के आकार का चूना) को एक साथ पीसना चाहिये। यह कल्क होता है। चिक्कण केवल (सादा, इसमें कुछ नहीं मिलाया जाता) होता है।।९६।।

निश्छिद्रमिष्टमानेन गोत्रमिष्टकया दृढम् ।
पूर्वोक्तानां च पञ्चानां विधातव्यं पृथक् पृथक् ॥९७॥

पूर्ववर्णित कराल, मुद्गी आदि पदार्थों का प्रयोग अलग-अलग करना चाहिये। इनसे ईंटों को आपस में इस प्रकार जोड़ा जाता है; जिससे उनमें छिद्र शेष न रहें।

तत्र तत्र तदुक्तेन द्रव्येण परिकल्पयेत् ।
केवलेनाम्भसा पूर्वं पूर्वांस्त्रिस्त्रिः प्रकुट्टयेत् ॥९८॥

उपर्युक्त पदार्थों में से किसी एक का चुनाव करना चाहिये। (चुने गये पदार्थ को) केवल जल के साथ पहले तीन बार कूटना चाहिये।।९८।।

क्षीरद्रुमकदम्बाम्राभयाक्षत्वग्जलैः पुनः ।
त्रिफलोदैस्ततस्तद्वन्माषयूषैस्ततस्तथा ॥९९॥

इसके पश्चात् क्षीरद्रुम, कदम्ब, आम, अभया (हर्र) तथा अक्ष (बहेड़ा) के छाल के जल के साथ, इसके पश्चात् त्रिफला (हर्र, बहेड़ा एवं आँवला) के जल के साथ, तदनन्तर उड़द के पानी के साथ (कूटा जाता है)।।९९।।

संयम्य शर्कराशुक्तिं चूर्णं तत्खातवारिणि ।
खुरसङ्कुट्टनं कृत्वा स्रावयित्वाऽथ वाससा ॥१००॥

इसके पश्चात् कङ्कड़, सीपियाँ एवं चूने में कूप का (अथवा गड्ढे का) जल मिला कर खुर से विधिवत् कुटाई करना चाहिये। पुनः इसको कपड़े से छानना चाहिये।।१००।।

कल्कं च चिक्कणं तेन कल्कनीयं विचक्षणैः ।
दधिदुग्धमाषयूषगुडाज्यकदलीफलैः ॥१०१॥

जलैश्च नालिकेरस्य चूतपक्वरसैः सह ।
कल्पितं शिल्पिभिर्यत्तद् बन्धोदकमिति स्मृतम् ॥१०२॥

इस (तरल पदार्थ) से कल्क एवं चिक्कण को बुद्धिमान (स्थपति) को तैयार करना चाहिये। दही, दूध, उड़द का पानी, गुड़, घी, केला, नारियल का पानी एवं पके आम का रस—इन पदार्थों का उचित मात्रा में संयोजन कर शिल्पी लोग 'बद्धोदक' तैयार करते हैं।।१०१-१०२।।

शुद्धिं शुद्धोदकेनादौ कृत्वा बन्धाम्भसा ततः ।
आलिप्य सुधया कार्या नानारूपान्वितक्रिया ॥१०३॥

प्रथमतः साफ पानी से (भित्ति आदि) स्थान को शुद्ध कर (साफ कर) पुनः बन्धोदक का लेप करना चाहिये। लेप के पश्चात् सुधा से लेप करके विभिन्न प्रकार के

रूपों (चित्रों) आदि का निर्माण करना चाहिये।।१०३।।

दग्धैश्च मृण्मयैश्चापि लोहलोष्टैर्यथोचितम्।
गोपानस्योपरिष्टात्तु च्छादनीयं विचक्षणैः ॥१०४॥

गोपान के ऊपर पकी मिट्टी के द्वारा निर्मित अथवा धातु-निर्मित लोष्ट (टाइल्स) से बुद्धिमान स्थपति को आच्छादन करना चाहिये।।१०४।।

करालश्च मुद्गिगुल्माषघनमेकैकमङ्गुलम्।
कल्कमानं तदर्धेन तदर्धार्धं तु चिक्कणम् ॥१०५॥

उसके ऊपर कराल, मुद्गी एवं गुल्माष को एक-एक अङ्गुल, कल्क को उसका आधा (आधा अङ्गुल) तथा चिक्कण को कल्क का आधा मोटा रखना चाहिये।।१०५।।

जलस्थलप्रयुक्ते तु यथेष्टं घनमिष्यते।
षण्मासमुत्तमं प्रोक्तं चतुर्मासं तु मध्यमम् ॥१०६॥
अधमं तु द्विमासं स्यादेषामुषितमिष्यते।
ततो बन्धोदकैरेतान् संक्लेद्य क्रमशः कृतिः ॥१०७॥

जल वाले स्थान पर उपर्युक्त पदार्थों को पर्याप्त मोटा लगाना चाहिये। इन्हें बन्धोदक से गीला कर यदि छः मास के लिये छोड़ दिया जाय तो उत्तम परिणाम प्राप्त होता है (इससे ईंटों की जोड़ाई अत्यधिक दृढ़ होती है)। चार मास छोड़ने पर मध्यम एवं दो मास छोड़ने पर कम परिणाम प्राप्त होता है।।१०६-१०७।।

लुपोपरीष्टकास्तारे चैवं चूर्णक्रियां पुनः।
आच्छादनीयं यत्नेन तद्धनं छादनं विदुः ॥१०८॥

लुपाओं के ऊपर ईंटों को बिछाना चाहिये एवं उसके ऊपर चूना डालना चाहिये। छत को प्रयत्नपूर्वक (पूर्वोक्त लेप से) घना आच्छादित करना चाहिये।।१०८।।

✹ चित्रकर्म ✹

देवानां च द्विजानां चावासे योग्यं सनातनम्।
बहिरन्तश्च सर्वेषां चित्रं युञ्जीत बुद्धिमान् ॥१०९॥

देवताओं एवं ब्राह्मणों के सभी भवनों के भीतर एवं बाहर बुद्धिमान व्यक्ति को चित्रों से युक्त करना चाहिये।।१०९।।

सुमङ्गलकथोपेतं श्रद्धानृत्तक्रियान्वितम्।
विप्रादीनां च वर्णानां निवासं सम्पदां पदम् ॥११०॥

विप्र आदि सभी वर्ण वालों के गृहों में माङ्गलिक कथाओं से युक्त, श्रद्धा, नृत्य

एवं नाटक आदि के चित्र बनाने चाहिये। ये चित्र गृहस्वामी को समृद्धि प्रदान करने वाले होते हैं।।११०।।

संग्रामं मरणं दुःखं देवासुरकथान्वितम् ।
नग्नं तपस्विलीलां चामयाव्यादि न योजयेत् ॥१११॥
अन्येषामन्यथा वासे साधनीयं यथेष्टतः ।

युद्ध, मृत्यु, दुःख से युक्त देवासुर की कथा का चित्रण, नग्न, तपस्वियों की लीला तथा रोगियों-दुःखियों का अङ्कन नहीं करना चाहिये। अन्य लोगों के निवास-स्थान में उनकी इच्छानुसार अङ्कन करना चाहिये।।१११।।

पञ्चांशं माषयूषं स्यान्नवाष्टांशं गुडं दधिः ॥११२॥
आज्यं द्व्यंशं तु सप्तांशं क्षीरं चर्म षडंशकम् ।
त्रैफलं दशभागं स्यान्नालिकेरं युगांशकम् ॥११३॥
क्षौद्रमेकांशकं त्र्यंशं कदलीफलमिष्यते ।
लब्धे चूर्णे दशांशे तु युञ्जीतव्यं सुबन्धनम् ।
सर्वेषामधिकं शस्तं गुडं च दधि दुग्धकम् ॥११४॥

(अच्छे सुबन्धन के लिये) पाँच भाग उड़द का पानी, नौ भाग गुड़, आठ भाग दही, दो भाग घी, सात भाग क्षीर, छः भाग चर्म, दश भाग त्रिफला, चार भाग नारियल का पानी, एक भाग शहद एवं तीन भाग केला होना चाहिये। इनमें दश भाग चूना मिलाने से सुबन्धन (अच्छा मसाला, लेप) प्राप्त होता है। इन सभी पदार्थों में गुड़, दही एवं दूध अधिक होना चाहिये।।११२-११४।।

चूर्णद्व्यंशं करालं मधुघृतकदलीनालिकेरं च माषं
शुक्तेस्तोयं च दुग्धं दधिगुडसहितं त्रैफलं तत् क्रमेण ।
लब्धे चूर्णे शतांशेऽशकमिदमधुना चानुवृद्धिं प्रकुर्या-
देतद् बन्धं दृषत्सदृशमिति कथितं तन्त्रविद्भिर्मुनीन्द्रैः ॥११५॥

दो भाग चूना, कराल, मधु, घी, केला, नारियल, उड़द, शुक्ति (सीपी) का जल, दूध, दही, गुड़ एवं त्रिफला—इनसे प्राप्त चूर्ण में इनके सौवें भाग के बराबर चूना मिलाना चाहिये। इस विधि से तैयार बन्ध (ईंटों को जोड़ने का गारा) पत्थर के समान दृढ़ होता है—ऐसा तन्त्र के ज्ञाता ऋषियों का कथन है।।११५।।

✵ मूर्ध्नेष्टका ✵

देवानां द्विजभूमीशवैश्यानां भवनेऽधुना ॥११६॥

मूर्ध्नेष्टका विधातव्याश्चतस्रो लक्षणान्विताः ।
सुस्निग्धाः समदग्धाश्च सुस्वनास्ताः सुशोभनाः ॥११७॥

शिरोभाग की ईंट—अब देवों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के भवन में मूर्ध्नेष्टका (भवन के ऊर्ध्व भाग में रक्खी जाने वाली इष्टका) रक्खी जानी चाहिये। इसे चार लक्षणों से युक्त होना चाहिये—ये चिकनी हों, भली-भाँति पकी हों, (ठोंकने पर) इससे सुन्दर स्वर उत्पन्न हो तथा देखने में सुन्दर हों।।११६-११७।।

स्त्रीलिङ्गाश्चापि पुंल्लिङ्गा भिन्नच्छिद्रादिवर्जिताः ।
विस्तारायामतीव्रैस्तु प्रथमेष्टकया समाः ॥११८॥

ये ईंटें स्त्रीलिङ्ग अथवा पुंल्लिङ्ग होनी चाहिये। ये टूटी न हों तथा छिद्र आदि से रहित हों। लम्बाई, चौड़ाई एवं मोटाई में ये प्रथम ईंटों (शिलान्यास की ईंटों) के समान होती हैं।।११८।।

शिलामये शिला प्रोक्ता सर्वदोषविवर्जिता ।
जन्माद्याशिखरान्तं च यैर्द्रव्यैश्च विनिर्मितम् ॥११९॥
तैरेवादौ तथान्ते च न्यस्तव्याश्चेष्टकाः शुभाः ।
मिश्रद्रव्यैश्च सङ्कीर्णे यैर्द्रव्यैरुपरि स्थितम् ॥१२०॥
तैरेव मूर्ध्नि विन्यासं रहस्यमिदमीरितम् ।

प्रस्तर से निर्मित भवन में शिला को सभी दोषों से रहित होना चाहिये। जन्म (नींव) से लेकर शिखर के अन्तिम भाग तक भवन जिस द्रव्य से निर्मित होता है, उसी द्रव्य (ईंटों अथवा शिलाओं) से निर्मित इष्टका को भवन के प्रारम्भ एवं अन्तिम भाग (शिखर) में भी स्थापित करना चाहिये। यह प्रशस्त होता है। मिश्रित द्रव्यों से निर्मित भवन में ऊपरी भाग में जो द्रव्य ऊपर स्थित हो, उसी द्रव्य का विन्यास भवन के ऊपरी भाग में करना चाहिये। यह रहस्य (ऋषियों द्वारा) कहा गया है।

❋ स्थूपिकाकीलम् ❋

लोहजं दारुजं वाऽपि स्थूपिकाकीलमिष्यते ॥१२१॥

स्तूपिका की कील—स्थूपिका (स्तूपिका) की कील धातुनिर्मित या काष्ठनिर्मित होनी चाहिये।।१२१।।

ऊर्ध्वभूम्यङ्घ्रिणायामविस्तारं पादतः समम् ।
अग्रमङ्गुलविस्तारमानुपूर्व्या कृशं तथा ॥१२२॥

कील की चौड़ाई ऊर्ध्व भाग एवं अधोभाग में समान होनी चाहिये। इसकी लम्बाई

(ऊपरी मञ्जिल के) स्तम्भ के बराबर होनी चाहिये तथा अग्र भाग (ऊपरी भाग का अन्तिम भाग) एक अङ्गुल चौड़ा एवं नीचे की अपेक्षा पतला होना चाहिये।।१२२।।

चतुरस्रसमं कुर्यात् त्रिभागैकमधस्तथा।
वृत्तमूर्ध्वमधः कुर्याच्छिखिपादं न्यसेदधः ॥१२३॥

कील के नीचे का एक-तिहाई भाग चौकोर होना चाहिये तथा उसके ऊपर गोलाकार होना चाहिये। इसके निचले भाग में मोर के पैर की आकृति होनी चाहिये।

विस्तारत्रिगुणायामं व्यासोच्चं पादतः समम्।
अभ्रमं तु यथा भूमौ पञ्चमूर्तिसमन्वितम् ॥१२४॥

इसकी लम्बाई चौड़ाई की तीन गुनी होनी चाहिये एवं चौड़ाई ऊपरी स्तम्भ के बराबर होनी चाहिये। यह भूमि पर दृढ़तापूर्वक टिका रहे एवं इसे पञ्चमूर्तियों से युक्त होना चाहिये।।१२४।।

अथवा तच्छिखायामद्विगुणं कीलदैर्घिकम्।
स्तम्भव्यासार्धविस्तारत्रिचतुर्भागमेव वा ॥१२५॥

अथवा स्तूपिका-कील की लम्बाई भवन की शिखा की लम्बाई से दुगुनी तथा चौड़ाई स्तम्भ के व्यास की आधी, तीसरे अथवा चौथे भाग के बराबर होनी चाहिये।

अग्रमर्धाङ्गुलव्यासं शिखिपादं यथाबलम्।
शिखराकृतिवत् कीलं लिङ्गच्छन्दमथापि वा ॥१२६॥
एवं त्रिधा समुद्दिष्टं स्थूपिकाकीलमार्यकैः।

यदि कील के अग्र भाग का व्यास आधा अङ्गुल हो तो मयूर-पाद बल की आवश्यकता के अनुसार रखना चाहिये। शिखर की आकृति के अनुसार कील की आकृति अथवा लिङ्ग की आकृति का स्तूपिका-कील निर्मित होना चाहिये। इस प्रकार तीन प्रकार के स्तूपिका-कील का वर्णन विद्वानों ने किया है।।१२६।।

✻ मूर्ध्नेष्टकादिस्थापनम् ✻

सद्मनश्चोत्तरे पार्श्वे मण्डपे तु सुसंस्कृते ॥१२७॥
चतुष्प्रदीपसयुंक्ते वस्त्रैश्च परिवेष्टिते।
सर्वमङ्गलसंयुक्ते शुद्धशाल्यास्तरे शुभे ॥१२८॥
स्थण्डिले चण्डितं कृत्वा मण्डूकं वाथ तत्परम्।
विन्यस्य देवान् ब्रह्मादीन् श्वेततण्डुलधारया ॥१२९॥

मूर्ध्नेष्टका आदि की स्थापना—गृह के उत्तरी भाग में मण्डप को स्वच्छ

करके, चार दीपों से युक्त, वस्त्रों से आच्छादित करके सभी मंगल पदार्थों से युक्त करना चाहिये। शुद्ध शालिधान्य को बिछा कर स्थण्डिल वास्तुमण्डल अथवा मण्डूक वास्तु-मण्डल निर्मित करना चाहिये। इसके पश्चात् वास्तुमण्डल में ब्रह्मा आदि देवों का विन्यास कर उनको श्वेत तण्डुल (अक्षत) समर्पित करना चाहिये।।१२७-१२९।।

आराध्य गन्धपुष्पाद्यैर्भुवनाधिपतिं जपेत्।
देवताभ्यो बलिं दत्त्वा तत्तन्नाम्ना यथाविधि ॥१३०॥

गन्ध तथा पुष्प आदि से गृह-देवता की पूजा एवं स्तवन करना चाहिये। देवताओं को उनके नाम से विधिपूर्वक बलि प्रदान करनी चाहिये।।१३०।।

स्थपतिः कलशान् न्यस्य पञ्च पञ्च सलक्षणान्।
सुगन्धोदकसम्पूर्णान् पञ्चरत्नसमायुतान् ॥१३१॥

ससूत्रान् वस्त्रकूर्चालान् सापिधानान् सहेमकान्।
उपपीठांशदेवानां स्वस्वनाम्नाभिधाय च ॥१३२॥

प्रणवादिनमोऽन्तेन गन्धाद्यैरर्चयेत् क्रमात्।

स्थपति को पच्चीस सुन्दर लक्षणों वाले कलश स्थापित करने चाहिये। इन कलशों में सुगन्धित जल भरना चाहिये तथा पाँच रत्नों को डालना चाहिये। सूत्र, वस्त्र, कूर्च तथा स्वर्ण से युक्त करके इन कलशों को ढँक देना चाहिये। उपपीठ संज्ञक वास्तुमण्डल में देवों को उनके नाम से आहूत कर 'ॐ' से प्रारम्भ कर 'नमः' से अन्त करते हुये उन देवों की गन्ध आदि से क्रमशः पूजा करनी चाहिये।।१३१-१३२।।

प्रक्षाल्य पञ्चगव्यैस्तु नवरत्नकुशोदकैः ॥१३३॥

इष्टकाश्च यथाकीलं सूत्रैरावेष्टयेत् क्रमात्।
कुम्भस्य दक्षिणे शुद्धशालीस्थण्डिलमण्डले ॥१३४॥

इष्टकाओं एवं कील को पञ्चगव्य से, नवरत्नों एवं कुशा के जल से प्रक्षालित करके क्रमशः सूत्रों से लपेटना चाहिये। प्रत्येक कुम्भ के दाहिने भाग में शुद्ध शालि-धान्य के द्वारा निर्मितस्थण्डिल वास्तुमण्डल में—।।१३३-१३४।।

आराध्य गन्धपुष्पैश्च बलिं दत्त्वा यथाविधि।
इष्टकाश्चैव कीलांश्च वेष्टयेदम्बरैः शुभैः ॥१३५॥

वास्तुदेवों की पूजा गन्ध एवं पुष्पों से करके एवं उन्हें विधि के अनुसार बलि प्रदान कर ईंटों एवं कीलों को शुभ वस्त्र से लपेटना चाहिये।।१३५।।

श्वेतवस्त्रास्तरस्योर्ध्वे न्यसेद् दर्भास्तरे शुचिः।
स्थपतिर्वरवेषाढ्यः शुक्लमाल्यानुलेपनः ॥१३६॥

सितवस्त्रपरिच्छिन्नोत्तरीयो हैममुद्रिकः ।
पीत्वा शुद्धं पयो रात्रावुपोष्याधिवसेत् सुधीः ॥१३७॥

श्वेत वस्त्र के आस्तरण (चादर, बिछा वस्त्र) के ऊपर बिछे हुये पवित्र कुश पर इष्टका एवं कीलों को रखना चाहिये। स्थपति को अच्छा वेष, श्वेत पुष्पों की माला, श्वेत (चन्दन) का लेप, श्वेत वस्त्र के उत्तरीय को ऊपर ओढ़ कर तथा सुवर्णनिर्मित अंगूठी धारण कर शुद्ध जल पीना चाहिये तथा रात्रि में उपवास रखते हुये वहीं निवास करना चाहिये।।१३६-१३७।।

कलशस्योत्तरे पार्श्वे सितवस्त्रपरिस्तरे ।
ततः प्रभाते विमले नक्षत्रकरणान्विते ॥१३८॥

सुमुहूर्ते सुलग्ने च स्थपतिः स्थापकेन तु ।
पुष्पकुण्डलहारादिकटकैरङ्गुलीयकैः ॥१३९॥

पञ्चाङ्गभूषणैर्हेमनिर्मितैस्तु विभूषितः ।
हेमयज्ञोपवीतस्तु नववस्त्रपरिच्छदः ॥१४०॥

श्वेतानुलेपनश्चैव सितपुष्पशिराः शुचिः ।

स्थपति को (रात्रि में) कलश के उत्तरी भाग में श्वेत वस्त्र के बिस्तर (अथवा चादर, बिछावन) पर रहना चाहिये। इसके पश्चात् प्रभात वेला में शुद्ध नक्षत्र एवं करण में, सुन्दर मुहूर्त एवं शुभ लग्न में स्थपति को स्थापक (भवन-स्वामी) के साथ पुष्प, कुण्डल, हार, कटक (हाथ के आभूषण) एवं अंगूठी—इन पाँच अंगों के सुवर्ण-निर्मित आभूषणों से अलङ्कृत होकर सुवर्ण-निर्मित जनेऊ तथा नवीन वस्त्र का परिच्छद (ओढ़ने का वस्त्र) धारण करना चाहिये। श्वेत लेप तथा सिर पर सफेद पुष्प धारण करना चाहिये एवं पवित्र होना चाहिये।।१३८-१४०।।

ध्यात्वा धरातलं सर्वं दिग्द्विपेन्द्रसमायुतम् ॥१४१॥

ससागरं सशैलेन्द्रमनन्तस्योपरि स्थितम् ।
सृष्टिस्थितिलयाधारं भुवनाधिपतिं जपेत् ॥१४२॥

(पवित्र तन एवं मन से) दिशाओं के गजों, समुद्रों एवं पर्वतों से युक्त तथा अनन्त सर्प पर स्थित पृथिवी का ध्यान करते हुये सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय के आधार, भुवनों के अधिपति देवता का जप (स्तुति) करना चाहिये।।१४१-१४२।।

स्नापयित्वेष्टकाकीलं पूर्वोक्तैः कलशोदकैः ।
आराध्य गन्धपुष्पैश्च धूपदीपसमन्वितैः ॥१४३॥

पूर्ववर्णित कलशों के जलों से इष्टका एवं कील को स्नान कराकर गन्ध, पुष्प, धूप एवं दीप से वास्तुदेवों की पूजा करनी चाहिये।।१४३।।

बलिं दत्त्वा यथान्यायं जयशब्दादिमङ्गलैः।
विप्रस्वाध्यायघोषैश्च शङ्खभेर्यादिनिःस्वनैः ॥१४४॥

स्थापयेदिष्टकाः सम्यक् पूर्वदक्षिणतः क्रमात्।
शिखरार्धे विमानस्य गग्रपत्रान्तरेऽपि वा ॥१४५॥

नियमानुसार वास्तुदेवों को बलि प्रदान कर जय आदि मङ्गल शब्दों, ब्राह्मणों द्वारा किये जा रहे वेदपाठ एवं शङ्ख तथा भेरी आदि वाद्यों की ध्वनि के साथ मूर्धेष्टका को क्रमानुसार पूर्व से दक्षिण क्रम में स्थापित करना चाहिये। इसे विमान (भवन) के शिखर के अर्ध भाग में अथवा गग्र एवं पत्र के मध्य में स्थापित करना चाहिये।

शिखरत्रिचतुर्भागावसाने वाम्बुजादधः।
तदाद्यात् स्थूपिकायामात् कीलदैर्घ्यं प्रगृह्यताम् ॥१४६॥

शिखर के तीसरे अथवा चौथे भाग के अन्त तक, पद्म के नीचे से, स्थूपिका (स्तूपिका) की लम्बाई से कील की लम्बाई ग्रहण करनी चाहिये।।१४६।।

पूर्वमेवेष्टकास्थानं निश्छिद्रं तु दृढीकृतम्।
तन्मध्ये नवरत्नानि विन्यसेच्च यथाक्रमम् ॥१४७॥

इष्टका के स्थान को पहले ही छिद्ररहित एवं दृढ़ कर देना चाहिये; साथ ही उसके मध्य में नवरत्नों को क्रमानुसार रखना चाहिये।।१४७।।

ऐन्द्रे मरकतं विद्याद् वैडूर्यं वह्निगोचरे।
इन्द्रनीलं तु याम्यायां मौक्तिकं पितरि स्मृतम् ॥१४८॥

इन्द्र के पद पर मरकत मणि, अग्नि के पद पर वैदूर्य मणि, यम के स्थान पर इन्द्रनील मणि एवं पितृपद पर मोती स्थापित करना चाहिये।।१४८।।

वारुणे स्फाटिकं विद्यान्महानीलं समीरणे।
वज्रं तु सौम्यदेशे स्यादैशान्यां तु प्रवालकम् ॥१४९॥

वरुण के स्थान पर स्फटिक, वायु के स्थान पर महानील मणि, सोम के पद पर वज्र (हीरा) तथा ईशान में प्रवाल (मूँगा) स्थापित करना चाहिये।।१४९।।

माणिक्यं मध्यमे भागे हाटकं च विनिक्षिपेत्।
रसोपरसबीजैश्च धान्यान्यप्यौषधानि च ॥१५०॥

मध्य भाग में माणिक्य, सोना, रस (धातुनिर्मित अन्न के दाने), उपरस (रंगे

हुये पदार्थ), बीज, धान्य (अन्न) एवं औषध (जड़ी) डालना चाहिये।।१५०।।

तदूर्ध्वे स्थूपिकाकीलं स्थापयेदचलं समम्।
तस्मात् प्रकृतिभूम्यन्तमुदग्दिशि महाध्वजम् ॥१५१॥

उसके ऊपर बराबर एवं स्थिर करते हुये स्तूपिका-कील स्थापित करना चाहिये। इससे निचली भूमि तक उत्तर दिशा में महाध्वज स्थापित होता है।।१५१।।

ग्रथितं क्षौमवस्त्रैश्च कार्पासैर्वा मनोहरैः।
लम्बयेत्तदुदक्प्राच्यौ प्रागुदग्विदिशं ततः ॥१५२॥
संस्पृशेद् यदि सर्वेषां प्राणिनां सम्पदृद्धये।

इसे रेशमी वस्त्र अथवा सूती वस्त्र से निर्मित सुन्दर (ध्वज) ईशान कोण में लटकाना चाहिये। यदि यह ईशान कोण की भूमि को छूता है तो वह भवन सभी (वर्णों) के प्राणियों के लिये सम्पत्ति एवं समृद्धिदायक होता है।।१५२।।

भवनं स्थूपिकीलं च पट्टैरावेष्ट्य शुभ्रकैः ॥१५३॥
चतुर्दिक्षु चतुर्गाश्च सवत्साः सन्निवेशयेत्।
द्वारालङ्करणं कुर्यात् सुविचित्राम्बरैर्नवैः ॥१५४॥

भवन के स्थूपिकील (स्तूपिका-कील) को श्वेत वस्त्रों से लपेट कर चारो दिशाओं में बछड़ों के साथ चार गायें रखनी चाहिये। द्वार को नये रंग-बिरंगे वस्त्रों से सजाना चाहिये।।१५३-१५४।।

✵ दक्षिणादानम् ✵

यजमानो विशुद्धात्मा प्रणम्य शिरसा गुरुम्।
विमानस्थूपिकास्तम्भद्वारालङ्करणानि च ॥१५५॥
वस्त्राणि धनधान्यैश्च पशूनपि सवत्सकान्।
मुदा स्थपतये दत्त्वा शेषान् भक्त्या तु तर्पयेत् ॥१५६॥

दान-दक्षिणा—यजमान (गृहस्वामी) को शुद्ध मन-मस्तिष्क से गुरु (प्रधान आचार्य), विमान (भवन या मन्दिर), स्थूपिका (स्तूपिका), स्तम्भ, द्वार एवं सज्जा को प्रणाम कर प्रसन्न भाव से स्थपति को वस्त्र, धन, अन्न एवं बछड़े सहित पशु (गाय) प्रदान करना चाहिये एवं शेष (उसके सहायकों) को भक्तिपूर्वक (धनादि द्वारा) तृप्त करना चाहिये।।१५५-१५६।।

✵ रत्नादिस्थानम् ✵

एवं मुनिवरैः प्रोक्तं प्रसादानां तु मूर्धनि।
हर्म्याणां गर्भसंयुक्तौ नेत्रभित्तौ तलान्तरे ॥१५७॥

मण्डपे मध्यदेशे तु सभादीनामधोऽम्बुजात्।
प्रासादवद् विधातव्यं गोपुराणां तु मूर्धनि ॥१५८॥

रत्न आदि का स्थान—इस प्रकार प्रासादों के शिरोभाग में, भवन के शिलान्यास से जुड़े भित्तियों में, प्रत्येक तल के बीच में, मण्डप में, मध्य भाग में, सभागार आदि में, शिखर पर स्थित पद्म के नीचे एवं गोपुर द्वारों के शीर्ष भाग में प्रासाद के सदृश रत्नादि स्थापित करना चाहिये—ऐसा श्रेष्ठ मुनियों का वचन है।।१५७-१५८।।

❋ कर्मसमाप्तिः ❋

एवं तु विधिना सम्यक् सम्पन्नं सम्पदां पदम्।
येन यत् कर्म चारब्धमादौ तदवसानके ॥१५९॥

कार्य की समाप्ति—इस प्रकार भवन-निर्माण के प्रारम्भ में एवं अन्त में विधिपूर्वक सभी क्रियायें सम्पन्न करने से गृह में सम्पदा आती है।।१५९।।

तेनैव निष्ठितं कर्म श्रीसौभाग्यायुरेधनम्।
तस्याभावे तु तत्पुत्रः शिष्यो वा तं गुरुं पटे ॥१६०॥
लिखित्वा तन्नियोगेन सर्वकर्म समाचरेत्।
अज्ञानात् त्वरितेनापि यद्वस्त्वन्येन भावितम्।
करोति स्वामिनं शीघ्रमन्यथेति ह निश्चयः ॥१६१॥

गृहस्वामी के द्वारा विधिपूर्वक किया गया कर्म श्री, सौभाग्य, आयु एवं धन प्रदान करता है। गृहस्वामी के अभाव में उसका पुत्र अथवा शिष्य उसकी आकृति को वस्त्र पर रेखाङ्कित कर उसके (वस्त्र पर अंकित चित्र के) द्वारा सभी कार्यों को सम्पन्न करे। अन्य व्यक्ति के द्वारा किया गया कार्य यदि शीघ्रता अथवा अज्ञानतावश सही रीति से नहीं होता है तो गृहस्वामी को विपरीत परिणाम प्राप्त होता है।।१६०-१६१।।

प्रथमं कृतवान् विधिं यथावत्
कृतवानेव करोति निष्ठितान्तम्।
अथ वा विधिरन्यथा भवेच्चे-
दशुभं स्वामिनमन्यथा करोति ॥१६२॥

गृहकर्ता जिस विधि से कार्य का प्रारम्भ करे, उसी विधि से कार्य करते हुये समापन करना चाहिये। यदि बीच में अन्य विधि का अनुसरण किया जाय तो गृहस्वामी का अशुभ होता है।।१६२।।

एवं ग्रीवालङ्कृतं पुष्कराभं
मानं मल्लानां शिखाभूषणं च।

युक्त्या सर्वेषां करालादिबन्धं
प्रोक्तं सम्यक् चेष्टकाबन्धमूर्ध्वे ॥१६३॥

इस प्रकार अलङ्कारों से युक्त ग्रीवा, पद्म की आकृति, मल्लों का प्रमाण एवं शीर्ष-स्थान के अलङ्करण का निर्माण करना चाहिये। उचित रीति से कराल आदि से बन्ध (ईंटों को जोड़ने का गारा) बना कर ऊर्ध्व भाग में भली-भाँति ईंटों को जोड़ना चाहिये।।१६३।।

✷ स्थूपिकीलवृक्षाः ✷

खदिरसरलसालस्तम्बकाशोकवृक्षाः
पनसतिमिसनिम्बाः सप्तपर्णाश्च सर्वे ।
परुषवकुलवह्निक्षीरिणीत्येवमाद्याः
सुदृढविमलसाराः स्थूपिकीलाः प्रसिद्धाः ॥१६४॥

स्तूपिका-कील के वृक्ष—स्थूपिकील के लिये प्रसिद्ध वृक्ष कत्था, चीड़, साल, स्तबक, अशोक, कटहल, तिमिस, नीम, सप्तवर्ण—ये सभी वृक्ष तथा परुष, वकुल, वहिन (अगरु), क्षीरिणी (सनोवर का वृक्ष) आदि वृक्ष एवं इस प्रकार के अन्य सुदृढ़, दोषहीन एवं ठोस वृक्ष उपयुक्त होते हैं।।१६४।।

✷ सम्प्रोक्षणकर्म ✷

अथ हर्म्ये परिनिष्ठिते तदा यजमानोऽपि गुरुश्च वर्धकिः ।
उदगायनशोभनर्क्षपक्षे जलसम्प्रोक्षणकर्म चारभेत् ॥१६५॥

भवन के सम्पूर्ण हो जाने पर यजमान, गुरु एवं वर्धकि (बढ़ई) को शुभ उत्तरायण नक्षत्र एवं पक्ष में जलसम्प्रोक्षण कर्म का प्रारम्भ करना चाहिये।।१६५।।

✷ अधिवासमण्डपः ✷

नवसप्तत्रिकपञ्चरात्रिके विधिना चाङ्कुरार्पणं कुरु ।
भवनस्योत्तरपूर्वदेशतः स्वधिवासार्हमण्डपं चरेत् ॥१६६॥

नवीं, सातवीं, तीसरी एवं पाँचवीं रात्रि में विधिपूर्वक अङ्कुरार्पण कर्म करना चाहिये। भवन के उत्तर-पूर्व भाग में स्वधिवास-योग्य मण्डप बनाना चाहिये।।१६६।।

नवसप्तेषुकरैर्युगास्रकं वसुपादं नववस्त्रशोभितम् ।
सवितानं सुपटैर्निवेष्टितं सुमनोज्ञं सितपुष्पशोभितम् ॥१६७॥

इस मण्डप को चौकोर, नौ, सात, या पाँच हस्तमाप का एवं आठ स्तम्भों से युक्त निर्मित करना चाहिये तथा नवीन वस्त्रों से सजाना चाहिये। अन्दर वितान को

सुन्दर वस्त्र से तथा श्वेत पुष्पों से सजा कर मण्डप को मनोहर बनाना चाहिये।।१६७।।

तस्य मध्ये तु शालीभिः स्थण्डिलं दण्डमानतः ॥१६८॥

उसके मध्य भाग में शालिधान्य से एक दण्ड प्रमाण का स्थण्डिल वास्तुमण्डल निर्मित करना चाहिये।।१६८।।

कृत्वाष्टाष्टपदं न्यस्य ब्रह्मादीन् वस्तुनायकान्।
श्वेततण्डुलधाराभिर्विन्यस्याराध्य पुष्पकैः ॥१६९॥
गन्धैर्धूपैश्च दीपैश्च बलिं दत्त्वा विधानतः।
तदूर्ध्वं पञ्चपञ्चैव कलशान् वस्त्रशोभितान् ॥१७०॥

चौंसठ पद बनाकर श्वेत चावल से ब्रह्मा आदि वास्तुदेवताओं को क्रमानुसार स्थापित कर तथा पुष्प-गन्ध-धूप-दीप आदि से उनकी पूजा कर उन्हें विधिपूर्वक बलि प्रदान करनी चाहिये। इसके ऊपर वस्त्रों से सुशोभित पच्चीस कलश रखना चाहिये।

मणिहेमसमायुक्तान् ससूत्रान् सापिधानकान्।
निष्कलङ्कानसुषिरान् हाटकोदकपूरितान् ॥१७१॥
उपपीठपदस्थांस्तान् स्वस्वनाम्नाभिधाय च।
ओङ्कारादिनमोऽन्तेन चार्चयित्वा न्यसेत्ततः ॥१७२॥

इन कलशों को रत्नों, सुवर्ण, सूत्रों एवं ढक्कनों से युक्त करना चाहिये। ये कलश दोषरहित, छिद्ररहित एवं हाटक-जल (सुनहरा, पीला जल) अथवा धतूरायुक्त जल से भरे होने चाहिये। उपपीठ वास्तुमण्डल पर रक्खे गये प्रत्येक घट को उस-उस वास्तुदेवता (जिसके पद पर कलश हो) का नाम लेते हुये ओंकार से प्रारम्भ कर नमः से अन्त करते हुये वास्तुदेवता की पूजा (आवाहन करते हुये) करनी चाहिये।

कलशस्योत्तरे पार्श्वे दर्भासनपरिस्तरे।
चतुष्प्रदीपसंयुक्ते सर्वमङ्गलशोभिते ॥१७३॥
पूतचेता विशुद्धात्मा स्थपतिर्व्रतमास्थितः।
पीत्वा शुद्धं पयो रात्रावुपोष्याधिवसेत्ततः ॥१७४॥

पवित्र मन एवं आत्मा वाले, व्रत में स्थित स्थपति को शुद्ध जल पीकर उपवास रखते हुये कलश के उत्तरी भाग में कुश के बिस्तर पर, जिसके चतुर्दिक चार दीपक जल रहे हों एवं जो माङ्गलिक पदार्थों से सुशोभित हो, रात्रि में निवास करना चाहिये।।१७३-१७४।।

प्रासादस्याग्रतो यागमण्डपं विधिनाचरेत्।
चतुर्द्वारसमायुक्तं चतुस्तोरणभूषितम् ॥१७५॥

वासोभिर्दर्भमालाभिः स्रक्कुसुमैः समलङ्कृतम् ।
तन्मध्ये वेदिकां कुर्यात् तद्व्यासत्र्यंशमानतः ॥१७६॥

मन्दिर के अग्र भाग में विधिपूर्वक चार तोरणों से सुसज्जित, चार द्वारों से युक्त याग-मण्डप निर्मित करना चाहिये। इस यागमण्डप को वस्त्रों, कुशमालाओं एवं पुष्पों से अलङ्कृत करना चाहिये। इसके मध्य भाग में याग-मण्डप के विस्तार के तीसरे भाग के माप से वेदिका का निर्माण करना चाहिये।।१७५-१७६।।

चतुरस्रं चतुर्दिक्षु विदिक्ष्वश्वत्थपत्रवत् ।
सुरेन्द्रेशानयोर्मध्ये कुण्डमष्टाश्रमिष्यते ॥१७७॥
त्रिमेखलासमायुक्तं वैकमेखलयान्वितम् ।

चारो दिशाओं में चौकोर तथा दिक्कोणों में पीपल के पत्ते के सदृश कुण्ड निर्मित करना चाहिये। इन्द्र एवं ईशकोण के मध्य अष्टकोण का तीन मेखला अथवा एक मेखला से युक्त कुण्ड निर्मित करना चाहिये।।१७७।।

✵ कुम्भस्थापनम् ✵

स्थापको मूर्तिपैः सार्धं विधिना होममाचरेत् ॥१७८॥
शालिभिः स्थण्डिलं कृत्वा वेदिमध्ये विचक्षणः ।
मूर्तिकुम्भं न्यसेत् सम्यग् बीजमन्त्रमनुस्मरन् ॥१७९॥

कुम्भ की स्थापना—स्थापक को मूर्तिरक्षक के साथ विधिपूर्वक हवन करना चाहिये। शालिधान्य द्वारा वेदि के मध्य में स्थण्डिल वास्तुमण्डल निर्मित कर बुद्धिमान व्यक्ति को बीज-मन्त्र का स्मरण करते हुये सम्यक् रीति से मूर्तिकुम्भ का न्यास करना चाहिये।।१७८-१७९।।

प्रासादस्य चतुर्दिक्षु वृत्तकुण्डविधानतः ।
सन्तर्प्य स्थापको जातवेदसं निवसेत्तदा ॥१८०॥

प्रासाद के चारो दिशाओं में वृत्ताकार कुण्ड में स्थापक को विधिपूर्वक अग्नि स्थापित करनी चाहिये।।१८०।।

विमानं जन्मतः स्थूपिकान्तं वस्त्रैर्निवेष्टयेत् ।
कुशास्तीर्णैर्नवैर्वस्त्रैः स्थूपिकीलमलङ्क्रियात् ॥१८१॥

विमान (मन्दिर) को जन्म (प्रारम्भ) से लेकर स्थूपिकापर्यन्त वस्त्रों से आवृत्त करना चाहिये। स्थूपिकील को कुशा से युक्त नवीन वस्त्र से सुसज्जित करना चाहिये।

* वास्तुदेवताबलिः *

बल्यन्नं पायसान्नं च मुद्गान्नं च यवान्नकम्।
कृसरं गुलशुद्धान्नं पीतं कृष्णं तथारुणम्॥१८२॥

गृहीत्वा सकलस्याग्रे हेमपात्रे निधाय च।
दधिदुग्धघृतक्षौद्ररत्नपुष्पाक्षताम्बुभिः ॥१८३॥

कदलीफलसंयुक्तं पात्रं चैवान्यशिल्पिभिः।
धारयित्वाम्बुभी रात्रौ वास्तुदेवबलिं चरेत्॥१८४॥

स्थापक को बलि का अन्न, खीर, यव (जौ) से पका अन्न, खिचड़ी, गुड़ एवं शुद्ध अन्न (चावल), पीला, काला एवं लाल (रंग में रंगा चावल)—ये सभी सामग्री सुवर्ण-पात्र में लेकर वास्तु-देवता के आगे रखकर दही, दूध, घी, शहद, रत्न, पुष्प, अक्षत एवं जल तथा केला से युक्त पात्र लेकर अन्य शिल्पियों के साथ रात्रि में इन पदार्थों के द्वारा वास्तुदेवता को बलि प्रदान करनी चाहिये।।१८२-१८४।।

* चक्षुर्मोक्षणम् *

ततः प्रभाते विमले नक्षत्रकरणान्विते।
स्थपतिर्वरवेषाढ्यः प्राप्तपञ्चाङ्गभूषणः॥१८५॥

धृतहाटकयज्ञोपवीतः श्वेतानुलेपनः।
श्वेतपुष्पशिरःप्राप्तोष्णीषश्चाहतवस्त्रयुक् ॥१८६॥

दिशामूर्त्यपरांश्चक्षुर्मोक्षणं विधिनाचरेत्।
स्नापयेत् कलशाम्भोभिरर्चयेद् गन्धपुष्पकैः॥१८७॥

आँख खोलना—इसके पश्चात् प्रातःकाल शुभ नक्षत्र एवं करण से युक्त वेला में स्थपति को सुन्दर वेष धारण कर, पाँचों अंगों में आभूषण धारण कर, सुवर्ण-निर्मित जनेऊ तथा श्वेत (चन्दन) का लेप धारण कर, शिर पर श्वेत पुष्प से युक्त पगड़ी तथा कोरे वस्त्र को पहन कर दिशा-मूर्तियों एवं अन्य (मूर्तियों) की ओर चक्षुर्मोक्षण (आँख खोलने का कृत्य) करना चाहिये एवं इन मूर्त्तियों को गन्ध एवं पुष्प से युक्त कलश के जल से स्नान कराना चाहिये।।१८५-१८७।।

प्रथमं हेमया तत्र सूच्या नयनमण्डलम्।
लिखित्वा तीक्ष्णशस्त्रेण मण्डलत्रयमुल्लिखेत्॥१८८॥

प्रथमतः सोने की सुई से नेत्र-मण्डल की आकृति बना कर (तदनन्तर) तीक्ष्ण शस्त्र से तीन (नेत्र) मण्डल निर्मित करना चाहिये।।१८८।।

आच्छाद्य नववस्त्रेण ब्राह्मणान् धान्यसञ्चयान्।
धेनुं सवत्सां कन्यां च दर्शयित्वा यथाक्रमम्।।१८९।।

ब्राह्मणों के लिये नवीन वस्त्र से अन्न के ढेर को ढँक कर बछड़े सहित गाय एवं कन्या को क्रमश: दिखाना चाहिये।।१८९।।

*** सम्प्रोक्षणम् ***

विमानं पुनरारूह्य स्थपति: स्थापकाज्ञया।
शङ्खकाहलतूर्यादिघोषणै: स्वस्तिवाचनै: ।।१९०।।

स्थूप्यग्रादाप्रकृत्यन्तं चतुर्दिशि महाध्वजम्।
लम्बयेत् क्षौमपट्टैर्वा कार्पासैर्ग्रथितं नरम्।।१९१।।

सम्प्रोक्षण कार्य—इसके पश्चात् स्थापक की आज्ञा से शङ्ख, काहल (पीट कर बजाया जाने वाला वाद्य) तथा तूर्य आदि वाद्यों के स्वर एवं (ब्राह्मणों द्वारा किये जाने वाले) स्वस्ति-पाठ के साथ स्थपति को मन्दिर पर चढ़ा कर स्तूपिका से प्रारम्भ कर भूमि तक चारो दिशाओं में रेशमी अथवा सूती वस्त्र से निर्मित एवं नर (की आकृति से युक्त) ध्वज को लटकाना चाहिये।।१९०-१९१।।

चन्दनागरुतोयेन सर्वगन्धोदकेन च।
कलशोदै: कुशाम्भोभिरुपरिष्टात् समन्तत: ।।१९२।।
प्रोक्षयेत् स्थपति: प्राज्ञो भुवनाधिपतिं जपेत्।

बुद्धिमान स्थपति को चन्दन एवं अगरु के जल से, सभी गन्धों से युक्त जल से, कलश के जल से एवं कुश के जल से ऊपर से चारो ओर प्रोक्षण करना चाहिये एवं संसार के स्वामी की स्तुति करनी चाहिये।।१९२।।

*** स्थूपिकुम्भ: ***

तैतलानां विमानानां पाञ्चभौतिकसंश्रितात्।।१९३।।

स्थूपिकुम्भं सुवर्णेन ताम्रेण रजतेन वा।
उपलेष्टकसौधैर्वा कृत्वेष्टं कीलवत् स्मृतम्।।१९४।।

देवालयों में स्थूपिकुम्भ सुवर्ण, ताँबा, चाँदी, प्रस्तर, ईंट अथवा सुधा—इन पाँच पदार्थों के मिश्रण से निर्मित करना चाहिये। इसे कील के समान रखना चाहिये।

सुसंस्थाप्याचलं यावत् प्रोक्षयेद् गन्धवारिणा।
विमानादवरुह्याथ गर्भगेहं च मण्डपम्।।१९५।।
प्रोक्षयित्वा मुखे स्थित्वा नत्वा देवं वदेदिदम्।

इसे स्थिर करते हुये स्थापित करके सुगन्धित जल से इसका प्रोक्षण करना चाहिये। विमान (देवालय) से उतरने के पश्चात् गर्भगृह एवं मण्डप का प्रोक्षण करना चाहिये तथा सम्मुख खड़े होकर वास्तुदेव को प्रणाम कर इस प्रकार कहना चाहिये।

धाराधिपातात् सलिलप्रकोपाद्
दंष्ट्र्या निपातात् पवनप्रकोपात् ।
अग्नेश्च दाहान्मुषितापचाराद्
रक्षत्विदं सद्म शिवं च मेऽस्तु ॥१९६॥

(हे ईश्वर) इस भवन की गिरने से, जल के प्रकोप से, (गजादि पशुओं के) दाँत से गिरने से, वायु के प्रकोप से, अग्नि द्वारा जलने से एवं चोरों से रक्षा कीजिये और मेरा कल्याण किजिये।।१९६।।

निरुजा मुदिता सधना प्रथिता यशसा महदद्भुतवीर्ययुता ।
सततं निरुपद्रवकर्मयुता पृथिवी पृथु जीवतु धर्मविधेः ॥१९७॥

रोगरहित, प्रसन्नता, धनयुक्त, कीर्ति का विस्तार करने वाली, बड़े चमत्कारों से एवं बल से युक्त, विना उपद्रव के निरन्तर कर्म से युक्त यह पृथिवी चिरकाल तक धर्मपूर्वक रहे।।१९७।।

ब्रह्मा विष्णुः शङ्करः सर्वदेवाः
क्षोणी लक्ष्मीर्वाग्वधूः सिंहकेतुः ।
ज्येष्ठ विश्वेदेवदेव्यः प्रजानां
श्रीसौभाग्यारोग्यभोग्यं कृषीरन् ॥१९८॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सभी देवता, क्षोणी (पृथिवी), लक्ष्मी, वाग्वधू (सरस्वती), सिंहकेतु, ज्येष्ठा, विश्वेदेव तथा देवियाँ प्रजाजनों को श्री, सौभाग्य, आरोग्य एवं भोग प्रदान करें।।१९८।।

उक्त्वैवं स्थपतेः कर्मण्यत्रैव परिनिष्ठिते ॥१९९॥

स्थापको विधिना शुद्धिं कुर्याद् यागादिकर्मभिः ।
प्रोक्षयित्वा घटाम्भोभिः पञ्चगव्यैः कुशोदकैः ॥२००॥

इस प्रकार कहने के पश्चात् स्थपति का कार्य पूर्ण हो जाता है। इसके पश्चात् स्थापक को विधि-पूर्वक यज्ञ आदि कार्य से तथा घट के जल, पञ्चगव्य एवं कुश के जल से प्रोक्षण कर (विमान को) शुद्ध करना चाहिये।।१९९-२००।।

अर्चयेद् गन्धपुष्पाद्यैर्नैवेद्यं च प्रदापयेत् ।
प्रासादबीजमन्त्रांस्तु न्यसेत् सौधाधिदेवताम् ॥२०१॥

स्थापक को गन्ध एवं पुष्प आदि से पूजा करनी चाहिये तथा नैवेद्य प्रदान करना चाहिये; साथ ही देवालय के प्रधान देवता को निमित्त बना कर प्रासाद के बीज-मन्त्र का न्यास करना चाहिये।।२०१।।

॥ दक्षिणादानम् ॥

प्रासादाभिमुखे स्थित्वा यजमानः प्रसन्नधीः ।
स्थपतेर्धर्मसर्वस्वं क्लेशेन सह यद् भवेत् ॥२०२॥

तत् सर्वं परिगृह्णीत सुप्रीत्या स्थापकाज्ञया ।
पूजयेत्तु यथाशक्ति स्थापकं स्थपतिं ततः ॥२०३॥

दक्षिणा एवं दान—प्रसन्न-मति यजमान देवालय के सम्मुख खड़े होकर स्थपति के सम्पूर्ण धर्म (उत्तरदायित्व) को, जो उसके ऊपर कष्ट के साथ थे, उन सबको प्रसन्न भाव से स्थापक की आज्ञा से ग्रहण करे एवं शक्ति के अनुसार स्थापक एवं स्थपति का सत्कार करे।।२०२-२०३।।

पुत्रभ्रातृकलत्रैश्च यजमानो मुदा धनैः ।
धान्यैश्च पशुभिर्वस्त्रैर्वाहनैर्भूमिदानकैः ॥२०४॥

शेषानपि च तक्षादिविष्टिसर्वान् स कर्मणि ।
सन्तर्पयेद्धिरण्यैश्च वस्त्रैर्वाऽपि मनोहरैः ॥२०५॥

अपने पुत्र, भाई एवं पत्नी के साथ यजमान धन, अन्न, पशु, वस्त्र, वाहन तथा भूमि के दान से एवं सोने तथा सुन्दर वस्त्रों से शेष तक्षक आदि सभी शिल्पियों को भी सन्तुष्ट करे।।२०४-२०५।।

विमानस्थूपिकास्तम्भमण्डपालङ्कृतान्यपि ।
वस्त्रादीनि ध्वजं धेनुं प्रीत्या स्थपतये ददेत् ॥२०६॥

विमान, स्थूपिका (स्तूपिका), स्तम्भ एवं मण्डप को अलङ्करणों से युक्त, वस्त्रादि, ध्वज एवं गाय को प्रसन्न भाव से स्थपति को देना चाहिये।।२०६।।

॥ सम्प्रोक्षणावश्यकता ॥

एवमेवं कृतं वस्तु वर्धयेन्नित्यमा युगात् ।
यजमानस्त्विहामुत्र फलं सम्यग् लभेद् दृढम् ॥२०७॥

सम्प्रोक्षण की आवश्यकता—इस प्रकार से निर्मित वास्तु युगों तक नित्य वृद्धि को प्राप्त होता है। यजमान को इस लोक एवं परलोक में स्थिर फल भली-भाँति प्राप्त होता है।।२०७।।

अन्यथा चेत् फलं नैव लभते तत्र वस्तुनि।
भूतप्रेतपिशाचादिराक्षसाश्च वसन्त्यलम् ॥२०८॥
तस्मात् प्रासादनिष्पन्ने सर्वथा प्रोक्षणं चरेत्।

यदि वास्तु-कृत्य अन्य विधि से होता है तो वह वास्तु फलदायी नहीं होता है। उस भवन में भूत, प्रेत, पिशाच एवं राक्षस निवास करते हैं। इसलिये प्रासाद निर्मित हो जाने पर सब प्रकार से प्रोक्षण कर्म अवश्य करना चाहिये।।२०८।।

मण्डपे च सभायां वा रङ्गे विहारशालके ॥२०९॥

हेमगर्भसभायां तु तत्तुलाभारकूटके।
विश्वकोष्ठे प्रपायां च धान्यागारे महानसे ॥२१०॥

वास्तुदेवबलिं दत्त्वाधिवास्य विधिना तथा।
स्थपतिः पूतचित्तात्मा प्राप्तपञ्चाङ्गभूषणः ॥२११॥

नवाम्बरधरश्चैव नववस्त्रोत्तरीयकः।
सर्वमङ्गलघोषैश्च जलसम्प्रोक्षणं चरेत् ॥२१२॥

मण्डप में, सभा में, रङ्गमण्डप में, विहारशाला में, हेमगर्भ के सभागार में, तुलाभारकूट में, विश्वकोष्ठ में, प्रपा (जल का प्याऊ) में, धान्यगृह में तथा रसोई में विधिपूर्वक वास्तुदेव को बलि प्रदान कर पवित्र चित्त एवं आत्मा से पाँच अङ्गों में आभूषण धारण कर, नवीन वस्त्र पहन कर तथा नवीन उत्तरीय (ऊपर ओढ़ने का चादर) धारण कर सभी प्रकार के मङ्गल-स्वर के साथ जलसम्प्रोक्षण कर्म सम्पन्न करना चाहिये।।२०९-२१२।।

❋ सम्प्रोक्षणकालः ❋

उत्तरायणमासे तु कृतं चेदुत्तमोत्तमम्।
त्वरितेऽप्येवमेवं तु कुर्यात्तद् दक्षिणायने ॥२१३॥

सम्प्रोक्षण का समय—यदि सम्प्रोक्षण-कर्म उत्तरायण मासों में किया जाय तो अति उत्तम होता है। यदि शीघ्रता हो तो दक्षिणायन मासों में भी करना चाहिये।।२१३।।

त्रिरात्रमेकरात्रं वा सद्योऽधिवासमेव वा।
तत्रैवाविकले द्रव्ये लभेत् कर्ता महत् फलम् ॥२१४॥

कर्ता प्रासाद के पूरी तरह पूर्ण हो जाने पर तीन रात्रि, एक रात्रि अथवा उसी दिन वहाँ अधिवास करे तो वह महान् फल प्राप्त करता है।।२१४।।

कलशस्थापनम्

एकत्रिपञ्चकलशेषु तथाऽधिदेवा
एकत्रिपञ्च कथिता इह मूर्त्तयस्ताः ।
तत्तत् स्वमन्त्रसहितं तदधः सहेम-
रत्नं निधाय विधिना कलशान्न्यसेत्तत् ॥२१५॥

देवालय में एक, तीन या पाँच देवतामूर्ति हों तो एक, तीन या पाँच कलशों में मन्त्रसहित उनके नीचे सुवर्ण के साथ रत्न को रखकर विधिपूर्वक कलशों का न्यास करना चाहिये।।२१५।।

एवं मुदा भवनकर्मसमाप्तिमत्र
कुर्याज्जनेशजनगोकुलसम्पदृद्ध्यै ।
यद्वैपरीत्यमसमाप्तिकवस्तुवेशं
तद्वास्तुदेवबलिहीनमनर्थदं स्यात् ॥२१६॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे शिखरकरणभवनकर्म-
समाप्तिविधानं नामाष्टादशोऽध्यायः

इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक भवन का निर्माण पूर्ण होता है तो गृहस्वामी, उसके परिवार, उसके परिजन एवं उसके गायों के वंश की वृद्धि होती है। इसके विपरीत वास्तुकार्य सम्पन्न होने पर एवं वास्तुदेवता के बलि से रहित होने पर वह निर्मित भवन अनर्थकारी होता है।।२१६।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

१. गललक्षण (श्लोक २-६)

इसका वर्णन शिल्परत्न (पूर्व., ३१ अ.) में विस्तार से प्राप्त होता है। यहाँ गल के प्रमाण, प्रकार एवं मृषा आदि इस प्रकार वर्णित हैं—

ऊर्ध्वभूमेः पादतुङ्गं गलमानमुदाहृतम्।
आद्यङ्गोन्नततुल्यं वा गलोन्नतमिहोच्यते।।

तदुच्चात् त्रिचतुष्पञ्चभागैकं वेदिकोन्नतम्।
शेषं गलोदयं ख्यातमशेषं वा गलोदयम्।।

त्रिचतुष्पञ्चहस्तं वा गलव्यासमुदाहृतम्।
अङ्घ्रेर्वेद्यङ्घ्रिवेशं यत्तद्वद्वा गलवेशनम्।।

त्रिपादं वा तदर्धं वा वेद्यङ्घ्रेर्गलवेशनम्।
वेदास्रं नागकर्णं वस्वस्रं द्राविडे गलम्।।
वृत्तं तु वेसरे हर्म्ये शीर्षानुकूलमाचरेत्। (१-५)

इसी ग्रन्थ में दूसरा मत इस प्रकार है—

अथान्यथा—

वेदिकाद्विगुणोऽध्यर्धसमो वा स्याद्गलोदयः।
भित्तिविस्तारनामांशं वेदिकावेशनं भवेत्।।
ग्रीवावेशं तदूर्ध्वं स्याच्छरांशोनोऽपि तत्समः।
मृणालिकावक्रपादभूतहंसमृगैरपि ।।
व्यालनाट्यकथाभिर्वा गलभूषणमाचरेत्।
कूटकोष्ठमहानासिपञ्जराद्यैरथापि वा।। (१२-१४)

२. **शिखरभेद** (श्लोक ७-१५)

शिखरभेद का वर्णन शिल्परत्न (पूर्व. ३२ अ.) में इस प्रकार प्राप्त होता है—

तारात् पञ्चद्विभागं वा नवसप्तांशमेव वा।
त्रयोदशांशरुद्रांशं विमानानां विभागतः।।१।।
अत्यष्टितिथिभागं वा वेदरामांशकं तु वा।
षट्पञ्चांशं तु वा नागसप्तभागमथापि वा।।२।।
विस्तारार्धं तु वा कुर्यादष्टधा शिखरोदयम्।
वैदेहं मागधं चापि कौरवं कौसलं तथा।।३।।
शौरसेनं च गान्धारं क्रमेणावन्तिकं स्मृतम्।
व्यासार्धं शिखरोत्सेधं किञ्चिन्न्यूनं च मानुषम्।।४।।
व्यासार्धं तुङ्गमाद्यं तु तत्तुङ्गे सप्तभाजिते।
एकैकांशविवृद्ध्याष्टौ भवन्ति शिखरोदयाः।।५।।
व्यामिश्रकं कलिङ्गं च तथा काशिकमेव च।
वैराटं द्राविडं चैव बाह्लिकं कौल्लकं पुनः।।६।।
तथा शौण्डिकमित्येते व्यामिश्रादिलुपोदयाः।
एते दैवविमानानां पाषण्डश्रमिणां तथा।।७।।
प्रतिलोमकुलानां तु विशेषेण शुभावहाः।
अथवान्यप्रकारेण भवन्ति शिखरोदयाः।।८।।

शिखरों की ऊँचाई के भी सात नाम प्राप्त होते हैं—

कालिङ्गकाश्यवाराटकौल्लकानि च शौण्डिकम्।
काश्मीरं चैव गाङ्गेयौ शिखराणि पृथग् विदुः।।१४।।

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (१२) में भवन-निर्माण की निर्माण-शैली में पाञ्चाली आदि का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है—

पाञ्चाली मागधी चान्या शौरसेनी च वाङ्गिकी।
कोसली चापि कालिङ्गी द्राविडीति क्रियाकला।। (१२.१२)

३. लुपामान (श्लोक २३-२९)

लुपा के प्रमाण का उल्लेख वास्तुविद्या के अध्याय १० एवं ११ में अत्यन्त विस्तार से प्राप्त होता है। लुपा की योजना में एक विधि यह भी है कि किसी फलक पर पहले पूरी योजना अङ्कित कर लेनी चाहिये—

अथवा मन्दबुद्धीनां क्रियालाघवसिद्धये।
निम्नोन्नतविहीनायां फलकायामथालिखेत्।। (११.१)

इसकी पूरी प्रक्रिया ११वें अध्याय में विस्तार से वर्णित है।

(ख) शिल्परत्न (पूर्व. ३३) में सम्पूर्ण अध्याय में लुपा-योजना के विषय में विस्तार से चर्चा की गई है। वहाँ भी फलक पर लुपाओं की स्थिति अङ्कित करने की चर्चा प्राप्त होती है—

तत्तदिष्टलुपायाममिष्टयोगात् प्रकल्पयेत्।
लुपाफलकमादाय तक्षितं तक्षकोत्तमैः।। (३३.१७)

(ग) विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (अ. ६३) में प्रमाणसहित लुपा-निर्माण का वर्णन किया गया है।

(घ) मनुष्यालयचन्द्रिका (अ. ६) में लुपा-संयोजन का प्रमाणसहित वर्णन प्राप्त होता है। उसकी योजना बनाते समय सबसे पहले समचतुरस्र आकृति खींचनी चाहिये। इसकी चौड़ाई के बराबर सीधी लुपायें एवं कर्णों पर विकृति लुपायें अङ्कित करनी चाहिये—

अब्ध्यस्रं मञ्चकस्य प्रततिमितमथाकल्प्य तत्कर्णमर्धी-
कृत्य न्यसेद् भुजायामथ विकृतिलुपापङ्क्तिमत्रैव कुर्यात्।
तत्तत्कर्णप्रमाणं खलु विकृतिलुपानां पृथग् विस्तृतिः स्यात्
पार्श्वे कार्यं ध्वजादित्रयमपि च वितानं च लम्बं च सूत्रम्।। (५.२१)

४. लुपाभेद (श्लोक ३०-३१)

(क) वास्तुविद्या (११ अ.) में प्रकृति, कोटि एवं उपकोटि लुपाओं का वर्णन

प्राप्त होता है—

कूटोत्तराग्रयोः कर्णं गतां तां प्रकृतिं विदुः।।१०।।

तन्मानभुजया कर्णरेखा या लिखिता पुरा।
सा रेखा शिल्पशास्त्रज्ञैः कोटिरित्यभिधीयते।।११।।

तदन्तरालगायाश्च उपकोट्यादयः स्मृताः।।१२।।

(ख) मनुष्यालयचन्द्रिका (६ अ.) में प्रकृति लुपा (ऋजुमञ्च) एवं विकृति लुपा—कोटि एवं उपकोटि लुपा का वर्णन प्राप्त होता है। सीधी लुपायें प्रकृति लुपा तथा पार्श्व में स्थित झुकी लुपायें कोटि एवं कोटि पर आश्रित लुपायें उपकोटि संज्ञक होती हैं—

ऋजुमञ्चाख्यास्तुल्याः प्रकृतिलुपाः पार्श्वसंस्थिताः सर्वाः।
कोट्युपकोटाद्याः स्युर्विकृतिलुपास्तास्त्वतुल्यदीर्घतताः।।६।।

५. **छादन** (श्लोक ४६)

मनुष्यालयचन्द्रिका (अ. ७) में लोष्टनिर्मित फलक एवं ताम्र आदि धातुओं से निर्मित आच्छादन का वर्णन प्राप्त होता है—

लोष्टैराच्छाद्यते चेदखिलनिलयने पट्टिकाप्रस्तरः स्यात्
तत्स्थाने क्वापि कार्योऽपि च घनफलकाप्रस्तरो बद्धकीलः।
लोष्टाधाराय किञ्चित्तलमपि च खनेच्चञ्चुसन्धारणार्थं
ताम्रैराच्छाद्यते चेन्न तु तलरचना देवगेहादिकेषु।।७।।

(ख) शिल्परत्न (३४ अ.) में शिखराच्छादन का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

अथ शौल्बे राजतैर्वा सौवर्णैर्वा सुरालये।
शिखराच्छादनं कुर्यात् फलकैरर्थसौलभात्।।३०।।

६. **ललाटभूषण** (श्लोक ७८-८१)

मनुष्यालयचन्द्रिका (अ. ५) में भी भवन के शीर्ष भाग के अलङ्करण का वर्णन किया गया है—

यद्वा कपोतवलभीविलसत्तु लोलुपोद्यत्पिधानफलकादितुलाविशेषैः।
युक्तञ्च खण्डफलकादिविचित्रचित्रभूतिप्रभेदसहितं महितं विदध्यात्।।४०।।

(ख) विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (६३ अ.) में लुपाओं पर चित्रण का उल्लेख प्राप्त होता है—

गन्धर्वमुखयुक्ता वा लतापुष्पक्रियान्विता।।४।।

(ग) शिल्परत्न (पू०. ३५ अ.) में शीर्ष-भूषण का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

वल्लीमण्डलचित्राद्यैर्भूषयेन्मुखपट्टिकाम् ।
मुखपट्ट्यवशेषं तदवगाढमुदाहृतम्।।९।।

अवगाढाख्यभागं तु मृणालादिविभूषितम्।
शूलाभं वा स्थलाभं वा सव्यालं वा सनाटकम्।।१०।।

मालिकाकूटकोष्ठादिमण्डितं वा विमानवत्।
चित्रपत्राख्यमकरतोरणाढ्यमथापि वा।।११।।

तोरणाभ्यन्तरे लक्ष्मीः साभिषेकाम्बुजासना।
अन्यैर्नानालङ्करणैर्नासीगाढं तु मण्डयेत्।।१२।।

ललाटिकावगाढं तु तथैव च विभूषयेत्।।१३।।

७. **स्थूपिका** (श्लोक ८२-९१)

स्थूपिका का विशद वर्णन शिल्परत्न (पूर्व. अ. ३६) में प्राप्त होता है।

८. **सुधा** (श्लोक ९२-१०८)

सुधावर्णन शिल्परत्न (पूर्व. अ. १४) श्लोक ५८-७५ के सदृश है।

९. **मूर्ध्नेष्टका** (श्लोक ११६-१२०)

मूर्ध्नेष्टका का वर्णन शिल्परत्न (पूर्व. अ. ३४) में द्रष्टव्य है। वहाँ इसका वर्णन पूरे अध्याय में किया गया है।

१०. **स्थूपिकाकील** (श्लोक १२१)

स्थूपिकाकील के विषय में शिल्परत्न (पूर्व. अ. ३४) में इस प्रकार वर्णन प्राप्त होता है—

लोहजं दारुजं वाथ स्थूपीदण्डं तु कारयेत्।।४।।

१०. **स्थूपिकाकील की आकृति** (श्लोक १२६)

स्थूपिकाकील की आकृति के विषय में शिल्परत्न (पूर्व. ३४ अ.) में इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

तस्याग्रमङ्गुलं व्यासं मूलादग्रं क्रमात् कृशम्।
तुङ्गे गुणांशे त्वेकांशं मूले वेदास्रमाचरेत्।।८।।

वस्वस्रं मध्यमग्रे तु वृत्ताकारं प्रकल्पयेत्।
चतुरस्रोपरिष्टात्तु सर्वं वृत्तमथापि वा।।९।।

कर्तव्यं तस्य मूले तु शिखिपादेन योजनम्।

अथैकोनविंशोऽध्यायः

(एकभूमिविधानम्)

एकभौमं चतुर्मानं वक्ष्ये संक्षिप्य शास्त्रतः।
त्रिचतुर्हस्तमारभ्य नव पङ्क्त्यन्तविस्तृतम् ॥१॥

एक तल का विधान—एक तल वाले भवन (देवालय) का शास्त्र के अनुसार चार प्रकार का प्रमाण संक्षेप में कहता हूँ। यह तीन हाथ से प्रारम्भ कर नौ हाथ तक एवं चार हाथ से प्रारम्भ कर दस हाथ तक विस्तृत होता है।।१।।

तारे सप्तदशोत्सेधमध्यर्धं तत्त्रिपादकम्।
द्विगुणं तु तदुत्सेधं शान्तिकं पौष्टिकं भवेत् ॥२॥
जयदं चाद्भुतं चैव चतुर्धोदयमीरितम्।

इनकी ऊँचाई चौड़ाई के दस भाग में सातवें भाग के बराबर, चौड़ाई का डेढ़ गुना, चौड़ाई का तीन चौथाई (अर्थात् चौड़ाई के दुगुने से चतुर्थांश कम) या चौड़ाई का दुगुना ऊँचा (ये चार प्रकार के मान) होनी चाहिये। चार प्रकार की ऊँचाई वाले भवन की संज्ञा शान्तिक, पौष्टिक, जयद एवं अद्भुत होती है।।२।।

चतुरं वृत्तमायामं द्व्यस्रवृत्तं षडस्रकम् ॥३॥
अष्टास्रमाकृतिर्ह्येषां शिखरेऽपि तथैव च।

इन (देवालयों) की आकृति चौकोर, गोल, आयताकार, दो कोणों के साथ गोलाई लिये, षट्कोण तथा अष्टकोण होती है। इनका शिखर भी इनकी आकृति के अनुरूप होता है।।३।।

❋ मुखमण्डपम् ❋

समं त्रिपादमर्धं वा मुखमण्डपमिष्यते ॥४॥

देवालय के मुखभाग पर निर्मित मण्डप का माप देवालय के समान, तीन चौथाई अथवा आधा होना चाहिये।।४।।

समं तन्मण्डपं तस्य सान्तरालं सवेशकम्।
युग्मस्तम्भसमायुक्तं युक्त्या सर्वाङ्गशोभितम् ॥५॥

(देवालय के) समान मण्डप अन्तराल (मण्डप एवं मन्दिर का मध्य भाग) एवं वेशक (प्रवेश, पोर्च) से युक्त तथा सम संख्या वाले स्तम्भों से युक्त एवं सम्पूर्ण अङ्गों से अलंकृत होना चाहिये।।५।।

सार्धहस्तं द्विहस्तं वा प्रासादस्यांशमेव वा।
अन्तरालस्य विस्तारं द्विदण्डं तस्य वेशनम् ॥६॥

सावकाशान्तरालं चेद् द्वित्रिहस्तान्तरं तु वा।
पार्श्वे सोपानसंयुक्तं हस्तिहस्तविभूषितम् ॥७॥

अन्तराल का विस्तार डेढ़ हाथ, दो हाथ या प्रासाद के बराबर एवं उसकी लम्बाई दो दण्ड होनी चाहिये। उसका वेशन अवकाश एवं अन्तराल से युक्त हो तो उसका माप दो या तीन हाथ का होना चाहिये। वेशन के बगल में सोपान निर्मित हो एवं वह गज के सूँड़ से सुसज्जित हो।।६-७।।

धाम्नः कुड्यस्यार्धकं तत्समं वा
पादोनं वा भित्तिविष्कम्भमानम्।
पार्श्वे चैतद् द्वित्रिदण्डैस्तु वेशं
कुर्यादग्रे मण्डपस्यास्य धीमान् ॥८॥

भित्तिनिष्कम्भ का मान प्रधान भवन की भित्ति के बराबर, उसका आधा या उससे चतुर्थांश कम होना चाहिये। पार्श्व भाग में दो या तीन दण्ड माप का वेशन एवं अग्र भाग में मण्डप होना चाहिये, ऐसा बुद्धिमान (ऋषि) का मत है।।८।।

तत्युन्नतायतकरेषु च हस्तमानाद्
हीनं त्रिपादकरमर्धमथापि पादम्।
तत्रैव वस्तुनि यथोचितमाचरेद्वै
हानिं च वृद्धिकमनिन्द्यमनेकशास्त्रैः ॥९॥

विस्तार, ऊँचाई एवं लम्बाई के हस्तमान में एक हाथ कम (अर्थात्) तीन चतुर्थांश, आधा अथवा चौथाई प्रमाण होना चाहिये। वहीं (प्रधान) भवन के निर्माण में अनेक शास्त्रकारों द्वारा किसी भी प्रकार की वृद्धि अथवा हानि को वर्जित किया गया है।।९।।

✵ धामपर्यायनामानि ✵

विमानं भवनं हर्म्यं सौधं धाम निकेतनम्।
प्रासादं सदनं सद्म गेहमावासकं गृहम् ॥१०॥

आलयं निलयं वासमास्पदं वस्तु वास्तुकम् ।
क्षेत्रमायतनं वेश्म मन्दिरं धिष्ण्यकं पदम् ॥११॥

लयं क्षयमगारं च तथोदवसितं पुनः ।
स्थानमित्येवमुक्ताश्च पर्यायाख्या हि पण्डितैः ॥१२॥

भवन के पर्यायवाची नाम—विद्वानों के अनुसार भवन के पर्यायवाची शब्द ये हैं—विमान, भवन, हर्म्य, सौध, धाम, निकेतन, प्रासाद, सदन, सद्म, गेह, आवासक, गृह, आलय, निलय, वास, आस्पद, वस्तु, वास्तुक, क्षेत्र, आयतन, वेश्म, मन्दिर, धिष्ण्यक, पद, लय, क्षय, अगार, उदवसित तथा स्थान।।१०-१२।।

❋ गर्भगृहमानम् ❋

हर्म्यतारत्रिभागैकं भूतांशेषु गुणांशकम् ।
धातुभागे युगांशः स्याद्बाणांशं नवभागिके ॥१३॥

रुद्रांशे रसभागं तु धातु त्रयोदशांशके ।
तिथ्यंशे वसुभागं तु सप्तदश नवांशकम् ॥१४॥

विस्तारार्धं तु ते सर्वे नालीगृहविशालताः ।

गर्भगृह=प्रधान भूतिकक्ष का मान—विस्तार में गर्भगृह का प्रमाण मन्दिर के प्रमाण के तीन भाग में एक भाग, पाँच भाग में तीन भाग, सात में चार भाग, नौ में पाँच भाग, ग्यारह में छः भाग, तेरह में सात भाग, पन्द्रह में आठ भाग, सत्रह में नौ भाग या आधा होना चाहिये।।१३-१४।।

❋ स्थूपिकामानम् ❋

फलिके पञ्चभागे तु युगार्धं पद्मविस्तृतम् ॥१५॥

पद्मतारत्रिभागैकं कुम्भतारमिति स्मृतम् ।
कुम्भतारत्रिभागैकं कुम्भस्याधो वलग्नकम् ॥१६॥

वलग्नस्य त्रिभागैकं कुम्भस्योपरि कन्धरम् ।
कन्धरत्रिगुणं पाली तत्त्रिभागेन कुड्मलम् ॥१७॥

स्तूपिका का प्रमाण—फलिक के पाँच भाग में दो भाग के बराबर पद्म की चौड़ाई रखनी चाहिये। पद्म की चौड़ाई के तीसरे भाग के बराबर कुम्भ की चौड़ाई रखनी चाहिये। कुम्भ के विस्तार के तीसरे भाग के बराबर कुम्भ के नीचे वलग्न का मान होना चाहिये। वलग्न के तीसरे भाग के बराबर कुम्भ के ऊपर कन्धर होना चाहिये। कन्धर का तीन गुना पाली का प्रमाण एवं उसके तीसरे भाग के बराबर कुड्मल का मान होना चाहिये।।१५-१७।।

समं त्रिपादमर्धं वा महानासीविनिर्गमम् ।
तद्व्यासत्रिचतुर्भागहीनं स्कन्धान्ततुङ्गकम् ॥१८॥

महानासी (सजावटी खिड़की) का विनिर्गम (निर्माणयोजना शिखर के विशिष्ट भाग के) बराबर, तीन चतुर्थांश अथवा आधा चौड़ा होना चाहिये। इसकी ऊँचाई उसकी चौड़ाई से तीन या चार भाग कम एवं स्कन्ध के अन्तिम भाग तक रखनी चाहिये।।१८।।

शक्तिध्वजं तदर्धोच्चं त्रिपादं वा विधीयते ।
कन्धरोच्चत्रिभागैकं वेदिकोदयमीरितम् ।
सार्धदण्डं द्विदण्डं वा क्षुद्रनास्या विशालकम् ॥१९॥

शक्तिध्वज को उसका आधा ऊँचा अथवा तीन चौथाई प्रमाण का होना चाहिये। कन्धर की ऊँचाई के तीसरे भाग से वेदिका का उदय (प्रारम्भ) कहा गया है। क्षुद्रनासा (छोटी सजावटी खिड़की) की चौड़ाई आधा दण्ड या दो दण्ड होनी चाहिये।।१९।।

❋ द्वारम् ❋

पादोत्सेधे पङ्क्तिनन्दाष्टभागे द्वारोत्सेधं तत्तदेकांशहीनम् ।
विस्तारं स्यात्तत्तदुच्चार्धमानं द्वारं कुर्याद्धर्म्यमध्ये नृपाणाम् ॥२०॥

द्वार की ऊँचाई स्तम्भ की ऊँचाई के दश भाग में नौ भाग, आठ में नौ भाग या सात में आठ भाग के बराबर होनी चाहिये। इसकी चौड़ाई ऊँचाई की आधी होनी चाहिये। राजभवन के मध्य भाग में द्वार होना चाहिये।।२०।।

योगव्यासं पादविष्कम्भमानं पादाधिक्यं वा तदर्धं त्रिपादम् ।
बाहुल्यं स्यादुच्छ्रये वेदभागे बाह्ये साब्जक्षेपणं तत्त्रिभागैः ॥२१॥

द्वार के पाख (चौखट का पार्श्व) की चौड़ाई स्तम्भ के बराबर अथवा उससे चतुर्थांश अधिक होनी चाहिये एवं उसकी मोटाई चौड़ाई की आधी या तीन चतुर्थांश होनी चाहिये। बाहरी भाग में द्वार का बाहुल्य पद्मों से सुसज्जित होना चाहिये एवं इसकी मोटाई चौड़ाई के तीन चतुर्थांश भाग के माप की होनी चाहिये।।२१।।

भित्तिव्यासे द्वादशांशे तु बाह्ये
पञ्चांशान्तद्वारयोगस्य मध्यम् ।
तद्वच्चान्तः स्तम्भमध्यं तयोस्त
न्मध्यं प्रोक्तं भित्तिमध्यं विधिज्ञैः ॥२२॥

भित्ति के व्यास के बाहरी भाग के बारह भाग करने चाहिये। पाँचवें भाग में द्वार-

योग का मध्य भाग होना चाहिये तथा दूसरी ओर से भी इतनी ही दूरी रखनी चाहिये। इन दोनों (बिन्दुओं) के मध्य को विद्वानों ने भित्तिमध्य कहा है।।२२।।

❋ नालमानम् ❋

जन्मान्तं वा जगत्यन्तं कैरवान्तं गलान्तकम् ॥२३॥

पट्टिकान्तं तलं पञ्चभेदं सर्वेषु धामसु।
छिद्रं विद्यादधश्चोर्ध्वे बाह्ये नालं प्रयोजयेत् ॥२४॥

नाली का मान—सभी भवनों में तल के पाँच भेद होते हैं—जन्म का अन्तिम भाग, जगती का अन्तिम भाग, कैरव का अन्तिम भाग, गल का अन्तिम भाग एवं पट्टिका का अन्तिम भाग। इनके निचले एवं ऊपरी भाग में छिद्र होना चाहिये एवं नाली बाहर होनी चाहिये।।२३-२४।।

द्वादशाङ्गुलमारभ्य त्रित्र्यङ्गुलविवर्धनात्।
चतुर्विंशाङ्गुलं यावदायामं पञ्चधा भवेत् ॥२५॥

बारह अङ्गुल से प्रारम्भ करते हुये तीन-तीन अङ्गुल की वृद्धि से चौबीस अङ्गुल-पर्यन्त पाँच प्रकार की नाली की लम्बाई होती है।।२५।।

अष्टाङ्गुलं समारभ्य द्विद्व्यङ्गुलविवर्धनात्।
तारं षोडशमात्रान्तं पञ्चधा परिकीर्तितम् ॥२६॥

आठ अङ्गुल से प्रारम्भ कर दो-दो अङ्गुल बढ़ाते हुये सोलह अङ्गुलपर्यन्त पाँच प्रकार की नाली की चौड़ाई होती है।।२६।।

समं त्रिपादमर्धं वा घनं छिद्रं तु मध्यमे।
त्रिचतुष्पञ्चषणमात्रं तारं तत्समनिम्नकम् ॥२७॥

इनकी मोटाई (गहराई) चौड़ाई के बराबर, तीन चौथाई या आधी होनी चाहिये। मध्यम माप तीन, चार, पाँच या छः अङ्गुल चौड़ा एवं उतना ही गहरा होता है।।२७।।

मूलात् पञ्चत्रिभागं स्यादग्रं धारासमन्वितम्।
घटितं सिंहवक्त्रेण किञ्चिन्मूलान्नताग्रकम् ॥२८॥

नाली के अग्र भाग (दूसरे छोर) की चौड़ाई मूल भाग के पाँच भाग में से तीन भाग के बराबर एवं धारा से युक्त होनी चाहिये। इसका अग्र भाग मूल भाग से कुछ नीचा (ढालदार) एवं सिंह के मुख से युक्त होता है।।२८।।

एवं नालं प्रकर्तव्यं वामे प्रासादमध्यमे।
अन्तःपीठस्य नालस्य समं वा बहिरिष्यते ॥२९॥

इस प्रकार देवालय के मध्य भाग के वाम भाग में प्रणाल का निर्माण करना चाहिये। अन्त:पीठ का नाल बराबर (सतह पर) एवं बाहर होना चाहिये।।२९।।

❋ अलङ्करणम् ❋

विस्तारायाममुत्सेधं सर्वाण्यङ्गानि च क्रमात्।
संक्षेपतः समादिष्टान्यलङ्कारमथोच्यते ॥३०॥

सज्जा—प्रासाद के सभी अङ्गों का संक्षेप में क्रमश: विस्तार, लम्बाई एवं ऊँचाई का वर्णन किया गया है। अब उसके अलङ्करण का वर्णन किया जा रहा है।।३०।।

वृत्तग्रीवामस्तकं वैजयन्तं श्रीभोगं स्यात् कर्णकूटोपयुक्तम्।
मध्येभद्रं श्रीविशालं तदेव वस्वस्रं चेच्छीर्षकं स्वस्तिबन्धम् ॥३१॥

यदि देवालय की ग्रीवा एवं मस्तक (शीर्ष भाग) वृत्ताकार हो तो उसकी संज्ञा 'वैजयन्त' होती है। यदि देवालय के कर्णभाग (कोणों) में कूट निर्मित हों तो वह 'श्रीभोग' संज्ञक होता है। यदि मध्य भाग में भद्र हो, तो वह 'श्रीविशाल' एवं शीर्षभाग यदि अष्टकोण हो तो वह 'स्वस्तिबन्ध' संज्ञक प्रासाद होता है।।३१।।

वेदास्राभं तच्छिरः श्रीकरं स्याद् द्व्यस्रं वृत्तं हस्तिपृष्ठं हि नाम्ना।
ऋत्वस्राभं शीर्षकं स्कन्दकान्तं तत्तन्नाम्ना तत्तदायामयुक्ते ॥३२॥

चार कोण वाले शीर्ष से युक्त प्रासाद 'श्रीकर', दो कोण एवं वृत्ताकार प्रासाद 'हस्तिपृष्ठ' तथा छ: कोण के शीर्ष वाला प्रासाद 'स्कन्दकान्त' संज्ञक होता है। ये सभी भवन लम्बाई लिये होते हैं।।३२।।

मध्ये भद्रयुतं कर्णकूटयुक्तं तु मस्तके।
कोष्ठकं भद्रनास्यङ्गं वृत्तं वा गलमस्तकम् ॥३३॥
नाम्नैतत् केसरं प्रोक्तं युगास्रं वा गलं शिरः।
पञ्चसप्तर्तुभागे तु त्रिद्व्यंशैर्मध्यभद्रकम् ॥३४॥

केसर संज्ञक प्रासाद में मध्य भाग में भद्र एवं शीर्षभाग में कर्णकूट, कोष्ठक एवं भद्रनासी आदि अङ्ग निर्मित होते हैं। इसके गल एवं मस्तक (छत, आच्छादन) वृत्ताकार अथवा चतुष्कोण होते हैं। मध्य-भद्रक का प्रमाण (भवन की चौड़ाई के) पाँच, सात या छ: भाग के तीसरे एवं दूसरे भाग के बराबर होना चाहिये।।३३-३४।।

❋ धामभेदाः ❋

नागरं द्राविडं चैव वेसरं च त्रिधा मतम्।
चतुरस्रायतास्रं यन्नागरं परिकीर्तितम् ॥३५॥

भवन के भेद—भवन के तीन भेद होते हैं—नागर, द्राविड एवं वेसर। सम, चतुर्भुज एवं आयताकार भवन **नागर** कहे गये हैं।।३५।।

अष्टास्त्रं च षडस्त्रं च तत्तदायाममेव च।
सौधं द्राविडमित्युक्तं वेसरं तु प्रकथ्यते ।।३६।।
वृत्तं वृत्तायतं द्व्यस्त्रं वृत्तं चान्यं प्रकथ्यते।

आठ भुजा (एवं कोण) तथा छः भुजा (एवं कोण) वाला लम्बा भवन **द्राविड़** कहा जाता है। वृत्ताकार, लम्बाई लिये वृत्ताकार, दो कोण एवं वृत्ताकार भवन **वेसर** कहलाता है।।३६।।

स्थूप्यन्तं चतुरस्त्रं यन्नागरं परिकीर्तितम् ।।३७।।
ग्रीवात् प्रभृति वस्वस्त्रं विमानं द्राविडं भवेत्।
ग्रीवात् प्रभृति वृत्तं यद् वेसरं तदुदाहृतम् ।।३८।।

स्तूपिका पर्यन्त चौकोर भवन को नागर कहते हैं। ग्रीवा से अष्टकोण विमान (भवन, प्रासाद) द्राविड होता है। ग्रीवा से वृत्ताकार भवन वेसर कहलाता है।

✷ विमानतलदेवता ✷

तले तले विमानानां दिक्षु देवान् न्यसेत् क्रमात्।
पूर्वायां द्वारपालौ तु नन्दिकालौ च विन्यसेत् ।।३९।।

विमान = देवालय के तलों के देवता—विमानों (देवालयों) के प्रत्येक तल में दिशाओं में देवताओं का क्रमशः न्यास करना चाहिये। पूर्व दिशा में नन्दी एवं काल के रूप में द्वारपाल का विन्यास करना चाहिये।।३९।।

दक्षिणे दक्षिणामूर्तिं पश्चिमेऽच्युतमेव हि।
अथवा लिङ्गसम्भूतमुत्तरे तु पितामहम् ।।४०।।

दक्षिण दिशा में दक्षिणामूर्ति को, पश्चिम दिशा में अच्युत को या लिङ्गसम्भूत को एवं उत्तर में पितामह को विन्यस्त करना चाहिये।।४०।।

मण्डपे मध्यदेशे तु दक्षिणे तु विनायकम्।
तत्पूर्वे पश्चिमे वाऽपि नृत्तरूपं विशेषतः ।।४१।।

मण्डप के मध्य भाग में दक्षिण में विनायक, एवं उनके पूर्व या पश्चिम में नृत्तरूप का विन्यास विशेष रूप से करना चाहिये।।४१।।

कात्यायनीमुदग्भागे क्षेत्रपालं तथैव च।
स्थानकासनसंयुक्ता दिशामूर्तीर्न्यसेद् बुधः ।।४२।।

विशेषेण कथोपेतं रूपाण्यपि विधानतः ।
एवं मूलतले प्रोक्तमुपर्युपरि वक्ष्यते ॥४३॥

उत्तर भाग में कात्यायनी एवं क्षेत्रपाल को तथा स्थानक या आसन (खड़े अथवा बैठे) मुद्रा में दिशामूर्तियों का विन्यास करना चाहिये। विशिष्ट कथाओं से युक्त आकृतियों का भी नियमानुसार अङ्कन करना चाहिये। इस प्रकार मूल-तल (भूतल) के देवता-विन्यास का वर्णन किया गया। अब ऊपरी तलों के विन्यास का वर्णन किया जा रहा है।।४२-४३।।

पुरन्दरं न्यसेत् पूर्वे सुब्रह्मण्यमथापि वा ।
दक्षिणे वीरभद्रः स्यान्नारसिंहश्च पश्चिमे ॥४४॥

उत्तरे तु विधाता स्याद् धनदो वा विधीयते ।
एवं द्वितलविन्यासं त्रितले तु मरुद्गणान् ॥४५॥

तले तलेऽमरान् सिद्धान् गन्धर्वादिमुनीन् न्यसेत् ।
षोडश प्रतिमाश्चैव सर्वत्र परिकीर्तिताः ॥४६॥

दूसरे तल में पूर्व दिशा में पुरन्दर या सुब्रह्मण्य को, दक्षिण में वीरभद्र को, पश्चिम में नरसिंह को एवं उत्तर में विधाता या धनद को विन्यस्त करना चाहिये। तीसरे तल में मरुद्गणों का विन्यास करना चाहिये। प्रत्येक तल में देवों, सिद्धों, गन्धर्वादिकों एवं मुनियों का विन्यास करना चाहिये। प्रत्येक तल में सोलह प्रतिमाओं का विन्यास होना चाहिये।।४४-४६।।

ग्रीवाधस्तात् प्रतेरूर्ध्वे कोणे कोणे वृषान् न्यसेत् ।
सर्वेषामपि देवानां तत्तद्वाहनमीरितम् ॥४७॥

प्रदक्षिणावृतं तस्य सर्वदेवालये तथा ।
इत्येवमादिभिर्युक्तं विमानं सम्पदां पदम् ॥४८॥

कूटैर्नीडैस्तोरणैर्मध्यभद्रैर्युक्तायुक्तं तत्तु सर्वाङ्गशोभम् ।
नानाधिष्ठानाङ्घ्रिवेद्यादियोगं धाम प्रोक्तं तैतिलानां मयेह ॥४९॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे एकभूमिविधानं
नामैकोनविंशोऽध्यायः

ग्रीवा के नीचे एवं प्रति के ऊपर कोने-कोने पर वृषभों का विन्यास करना चाहिये। सभी देवों के वाहन का वर्णन किया गया है। सभी देवालयों में देवता के दक्षिण भाग में उनका विन्यास करना चाहिये। इस प्रकार सभी विशेषताओं से युक्त विमान (मन्दिर)

सम्पत्तियाँ प्रदान करता है। कूट, नीड, तोरण, मध्य भद्र आदि से युक्त, सभी अलङ्करणों से सुशोभित, विविध प्रकार के अधिष्ठान, स्तम्भ एवं वेदियों आदि से युक्त देवालयों का वर्णन मेरे (मय ऋषि) द्वारा किया गया।।४७-४९।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

१. एकभूमि-विधान (श्लोक १-३)

इसका वर्णन शिल्परत्न (पूर्वभाग-३७.१-१३) में प्राप्त होता है।

२. भवन-भेद श्लोक (२-३)

चार प्रकार के **उत्सेध**—शान्तिक, पौष्टिक, जयद एवं अद्भुत का वर्णन प्राप्त होता है।

शिल्परत्न (पू. ३७.१) में पाँच भेद—शान्तिक, पौष्टिक, जयद, अद्भुत एवं सार्वकामिक प्राप्त होते हैं—

शान्तिकं पौष्टिक चैव जयदं त्वद्भुतं पुनः।
सार्वकामिकमित्येवं पञ्चधा सदनं स्मृतम्।।

३. वेशन (श्लोक ६)

वेशन का वर्णन शिल्परत्न (पू. ३९.६) में इस प्रकार प्राप्त होता है—

हस्तं सार्धं द्विहस्तं वा प्रासादस्यांशमेव वा।
अन्तरालस्य दीर्घं स्याद् द्विदण्डं तस्य वेशनम्।।

४. भित्ति की चौड़ाई (श्लोक ८)

इसकी तुलना शिल्परत्न (पू. ३९.११) के वर्णन से की जा सकती है—

प्रासादभित्तिविस्तारतुल्यं वार्धत्रिपादकम्।
अन्तरालस्य भित्तेस्तु व्यासं स्यान्मण्डपे तथा।।

५. भवन के पर्याय (श्लोक १०-१२)

समराङ्गणसूत्रधार (१८.८-९) में इस प्रकार से भवन के पर्याय प्राप्त होते है—

आवासः सदनं सद्म निकेतो मन्दिरं मतम्।
संस्थानं निधनं धिष्ण्यं भवनं वसतिः क्षयः।।
अगारं संश्रयो नीडं गेहं शरणमालयः।
निलयो लयनं वेश्म गृहमोकः प्रतिश्रयः।।

अथ विंशोऽध्यायः

(द्विभूमिविधानम्)

द्वितलं पञ्चधा मानं वक्ष्ये संक्षेपतः क्रमात्।
पञ्चषड्ढस्तमारभ्य द्विद्विहस्तविवर्धनात् ॥१॥

सैकार्कमनुहस्तान्तमुत्सेधं पूर्ववद् भवेत्।
तारे सप्तर्तुभागे तु भागं सौष्ठिकविस्तृतम् ॥२॥

(मन्दिर के) दूसरे तल के पाँच प्रकार के प्रमाण को क्रमशः संक्षेप में कहता हूँ। पाँच-छः हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ की वृद्धि से तेरह या चौदह हाथपर्यन्त उसकी ऊँचाई पूर्व-वर्णित नियम के अनुसार होनी चाहिये। (निचले तल के) विस्तार के छः या सात भाग करने चाहिये। उसके एक भाग को सौष्ठिक (कर्णकूट) के लिये ग्रहण करना चाहिये।।१-२।।

कोष्ठं तु द्विगुणायामं शेषं हारं सपञ्जरम्।
विमानोत्सेधं विभजेदष्टाविंशतिसङ्ख्यया ॥३॥

कोष्ठ (मन्दिर के मध्य भाग का कूट) की लम्बाई के लिये दो या तीन भाग का प्रमाण एवं शेष भाग में हार (गलियारा) एवं पञ्जर (अलङ्करणविशेष) होना चाहिये। विमान (देवालय) की ऊँचाई को अट्ठाईस भागों में बाँटना चाहिये।।३।।

ईशदृगृतुबन्धांशैर्भूतनेत्रशिवांशकैः।
नेत्रसार्धचतुर्भागैरध्यर्धेन यथाक्रमम् ॥४॥

मसूरकाङ्घ्रिकं मञ्चाङ्घ्रिमञ्चवितर्दिकम्।
कन्धरं शिखरं कुम्भं मूलतः परिकल्पयेत् ॥५॥

(उपर्युक्त अट्ठाईस भाग में) तीन भाग मसूरक (अधिष्ठान), छः भाग अङ्घ्रि (भूतल), तीन भाग मञ्च, पाँच भाग अंघ्रि (तल), दो भाग मञ्च, एक भाग वितर्दिक (वेदिका), दो भाग कन्धर, साढ़े चार भाग शिखर एवं डेढ़ भाग कुम्भ के लिये होता है। यह परिकल्पना मूल से (शिखरपर्यन्त) की गई है।।४-५।।

*** स्वस्तिकम् ***

चतुरस्रमधिष्ठानं तद्वत् कन्धरमस्तकम्।
चतुष्कूटसमायुक्तं चतुष्कोष्ठसमन्वितम् ॥६॥

(स्वस्तिक देवालय का) अधिष्ठान चतुर्भुज होता है एवं कन्धर तथा मस्तक (शीर्षभाग) भी उसी प्रकार होता है। यह चार कूटों एवं चार कोष्ठों (मध्य-कूट) से युक्त होता है।।६।।

दभ्रनीडानुपर्यष्टौ षडष्टैवाल्पनासिकम् ।
शिखरं चोरुनीडाभिर्वेदसङ्ख्याभिरन्वितम् ॥७॥

ऊपरी भाग में आठ दभ्रनीड (सजावटी खिड़कियाँ) तथा अड़तालीस अल्प-नासिक (अत्यन्त छोटे अलङ्करण-विशेष) होते हैं। शिखरभाग में चार बड़े आकार के नीड (सजावटी खिड़कियाँ) होते हैं।।७।।

हारान्तरस्य मध्ये तु कुड्यं कुम्भलतान्वितम् ।
तोरणैर्वेदिकाद्यैस्तु नानाचित्रैर्विचित्रितम् ॥८॥
सर्वदेवार्हकं शस्तं नाम्नैतत् स्वस्तिकं भवेत् ।

हार (चारो ओर निर्मित गलियारा) के मध्य भाग में भित्ति पर कुम्भ से निर्गत लतायें निर्मित होती हैं तथा तोरण, वेदिका एवं विभिन्न प्रकार के अङ्कनों से भवन सुसज्जित रहता है। यह भवन सभी देवों के अनुकूल होता है एवं इसका नाम स्वस्तिक होता है।।८।।

✵ विपुलसुन्दरम् ✵

तदेव सौष्ठिकं निम्नमुन्नतं कोष्ठकं यदि ॥९॥
अन्तरप्रस्तरोपेतमेतद् विपुलसुन्दरम् ।

यदि देवालय के सौष्ठिक (कर्णकूट) नीचे हों एवं कोष्ठक (मध्य-कूट) ऊँचा हो तथा अन्तर प्रस्तर से युक्त हो तो उसे 'विपुलसुन्दर' कहते हैं।।९।।

✵ कूटलक्षणम् ✵

अंशमंशत्रयं सत्रिपादांशं साङ्घ्रिभागिकम् ॥१०॥
भागत्रयं वितर्द्यङ्घ्रिप्रस्तरग्रीवमस्तकम् ।
पादोदये दशांशे तु द्वितलादिविमानके ॥११॥
अन्तरप्रस्तरोपेतं कूटशालोन्नतं मतम् ।

कूट का लक्षण—द्वितल आदि वाले विमान (देवालय) में पादोदय (पूरे देवालय) के दश भाग होने चाहिये। एक भाग से वितर्दि, तीन भाग से अङ्घ्रि, पौने दो भाग से प्रस्तर, सवा भाग से ग्रीव तथा तीन भाग से मस्तक निर्मित होना चाहिये। अन्तर प्रस्तर से युक्त ऊँचे भवन को 'कूटशाल' कहते हैं।।१०-११।।

✵ कैलासादि ✵

तदेव कोष्ठकं निम्नं सौष्ठिकं चोन्नतं यदि ॥१२॥
अन्तरप्रस्तरोपेतमेतत् कैलासमुच्यते ।

यदि कोष्ठक नीचा हो एवं सौष्ठिक ऊँचा हो तथा अन्तर-प्रस्तर से युक्त हो तो उस भवन (देवालय) को कैलास कहते हैं।।१२।।

तदेव वर्तुलं वेदिकन्धरं शिखरं घटम् ॥१३॥
अष्टकूटं चतुश्शालोपेतं सप्ताष्टनासिकम् ।
कोष्ठकान्निर्गमं मध्ये द्वित्रिदण्डेन सौष्ठिकात् ॥१४॥
समग्रीवाशिरोयुक्तं कूटकोष्ठकमीरितम् ।
नानाधिष्ठानसंयुक्तं नानापादैरलङ्कृतम् ॥१५॥
नाम्नैतत् पर्वतं प्रोक्तं विमानं सार्वदेशिकम् ।

यदि वेदी, कन्धर, शिखर एवं घट वर्तुलाकार हों, आठ कूट हों, चार शाल से युक्त हों, छप्पन नासिक (सजावटी खिड़कियों की आकृतियाँ) हों, कोष्ठक (मध्य कूट) से प्रारम्भ हुये दो या तीन दण्ड के निर्गम सौष्ठिक से सम्बद्ध होते हैं। समान माप वाले ग्रीवा एवं शीर्षभाग से युक्त कूट-कोष्ठ होते हैं। विविध प्रकार के अधिष्ठान से युक्त एवं विविध प्रकार के स्तम्भों से सुसज्जित विमान की संज्ञा 'पर्वत' होती है एवं यह सभी के अनुकूल होती है।।१३-१५।।

तदेव शिखरे चार्धकोष्ठकं तु चतुष्टयम् ॥१६॥
चतुरस्रशिरोयुक्तं चतुष्कूटसमन्वितम् ।
नानाधिष्ठानसंयुक्तं षडष्टैवाल्पनासिकम् ॥१७॥
नाम्नैतत् स्वस्तिबन्धं स्यान्नानावयवशोभितम् ।

देवालय के शिखर पर चार अर्धकोष्ठ हों, इनका शिरोभाग चौकोर हो एवं चार कूटों से युक्त हो, अनेक प्रकार के अधिष्ठान से युक्त हों एवं अड़तालीस अल्पनासिक हों, तो उसकी संज्ञा 'स्वस्तिबन्ध' होती है एवं यह विभिन्न अङ्गों से सुसज्जित होता है।।१६-१७।।

तदेव सौष्ठिकं कोष्ठमन्तरप्रस्तरैर्युतम् ॥१८॥
हाराल्पपञ्जरं निम्नं नवाष्टैर्वाल्पनासिकम् ।
नानालङ्कारसंयुक्तं कल्याणमिति पठ्यते ॥१९॥

यदि कोणों एवं मध्य में अन्तर-प्रस्तर से युक्त कोष्ठ हों, हारा (गलियारा) एवं

अल्प-पञ्जर नीचे हों, बहत्तर अल्प-नासिक हों तथा विभिन्न अलङ्करणों से युक्त हों तो उस देवालय को 'कल्याण' कहते हैं।।१८-१९।।

तदेव शिखरे चार्धकोष्ठकं रहितं तु चेत्।
चतुर्नीडासमायुक्तमेतत् पाञ्चालमिष्यते ॥२०॥

यदि देवालय के शिखरभाग पर अर्धकोष्ठ न हों तथा वहाँ चार नीडा (सजावटी खिड़की की आकृतिविशेष) निर्मित हों तो उसे 'पाञ्चाल' कहते हैं।।२०।।

तदेवाष्टास्रकं वेदीकन्धरं शिखरं घटम्।
शिखरेऽष्टमहानासि नाम्नैतद् विष्णुकान्तकम् ॥२१॥

यदि देवालय की वेदी, कन्धर, शिखर एवं घट अष्ट-कोण हों तथा शिखर पर आठ महानासी निर्मित हों, तों उसकी संज्ञा 'विष्णुकान्त' होती है।।२१।।

तदेव कूटशालानामन्तरप्रस्तरं विना।
तच्चतुर्भागमाधिक्यमायतं चतुरस्रकम् ॥२२॥
आयतास्रं तथा वेदीकन्धरं शिखरं भवेत्।
स्थूपित्रयसमायुक्तमेतन्नाम्ना सुमङ्गलम् ॥२३॥

यदि देवालय कूट, शाला (मध्य कोष्ठ) एवं अन्तर-प्रस्तर से रहित हो, चार भुजाओं वाला हो तथा लम्बाई चौड़ाई से चतुर्थांश अधिक हो, वेदी, कन्धर एवं शिखर आयताकार हों एवं तीन स्तूपियाँ हों तो उसका नाम 'सुमङ्गल' होता है।।२२-२३।।

तदेवायतवृत्तं चेद् वेदिकाकन्धरं शिरः।
सर्वावयवसंयुक्तमेतद् गान्धारमिष्यते ॥२४॥

यदि देवालय की वेदिका, गल एवं शिरोभाग वृत्तायत (लम्बाई लिये वृत्ताकार) हों तथा सभी अङ्गों से भवन युक्त हो तो उसकी संज्ञा 'गान्धार' होती है।।२४।।

तारादर्धांशमाधिक्यमायतं चतुरस्रकम्।
द्व्यस्रवृत्तशिरोयुक्तं नेत्रशालामुखान्वितम् ॥२५॥
हस्तिपृष्ठमिदं द्व्यस्रं वृत्तं वापि मसूरकम्।

यदि देवालय आयताकार हो तथा लम्बाई चौड़ाई से आधा भाग अधिक हो, शिरोभाग दो कोण से युक्त गोलाई लिये हो तथा मुखभाग (सामने) पर नेत्रशाला (नेत्र की आकृति का प्रकोष्ठ) हो तो उसे 'हस्तिपृष्ठ' कहते हैं। इसका अधिष्ठान दो कोण से युक्त गोलाकार भी हो सकता है।।२५।।

चतुरस्रमधिष्ठानं वृत्तं स्याद् गर्भगेहकम् ॥२६॥

सर्वालङ्कारसंयुक्तमेतन्नाम्ना मनोहरम् ।

यदि देवालय का अधिष्ठान चौकोर हो एवं गर्भगृह वृत्ताकार हो तथा भवन सभी अलङ्करणों से युक्त हो तो उसकी संज्ञा 'मनोहर' होती है।।२६।।

तदेव जन्माद्या कुम्भाद् वृत्तं चेति बहिर्बहिः ॥२७॥
शेषं पूर्ववदुद्दिष्टमिष्टमीश्वरकान्तकम् ।

यदि जन्म (भवन के मूल) से लेकर कुम्भ (शिखर भाग) तक देवालय बाहर एवं भीतर से वृत्ताकार हो एवं शेष भाग पूर्ववर्णित विधि के अनुसार हो तो उसे 'ईश्वरकान्त' कहते हैं।।२७।।

तदेव चतुरस्रं स्याद् गर्भगेहं मसूरकम् ॥२८॥
वर्तुलं जन्मतः स्थूपिकान्तं चेद् वृत्तहर्म्यकम् ।

यदि देवालय का गर्भगृह चौकोर हो, अधिष्ठान गोलाकार हो तथा जन्म से लेकर स्तूपिकापर्यन्त भवन वृत्ताकार हो तो उसे 'वृत्तहर्म्य' कहते हैं।।२८।।

आयतास्रमधिष्ठानं षडस्रं कन्धरं शिरः ॥२९॥
तदेव पूर्ववत् सर्वं नाम्ना कुबेरकान्तकम् ।

यदि अधिष्ठान चौकोर हो तथा कन्धर एवं शिर षट्कोण हों एवं शेष सभी भाग पूर्ववत् हों तो उस देवालय की संज्ञा 'कुबेरकान्त' होती है।।२९।।

मानं पञ्चविधं धाम्नां भेदं पञ्चदशैव हि ॥३०॥
द्वितलानां यथा प्रोक्तं तथा कुर्याद् विचक्षणः ।

दो तल वाले भवनों के प्रमाण पाँच प्रकार के होते हैं एवं उनके भेद पन्द्रह होते हैं। बुद्धिमान (स्थपति) को भवन का निर्माण उसी प्रकार करना चाहिये, जिस प्रकार उनका वर्णन किया गया है।।३०।।

✵ पुनः धामभेदाः ✵

सञ्चितासञ्चितं चैवोपसञ्चितमिति त्रिधा ॥३१॥

पुनः भवन के भेद—सञ्चित, असञ्चित एवं उपसञ्चित संज्ञक भवन के तीन भेद होते हैं।।३१।।

स्त्रीपुंनपुंसकं चैव त्रिविधं तत् प्रवक्ष्यते ।
इष्टकाभिः शिलाभिर्वा सञ्चितं यद् घनीकृतम् ॥३२॥

उपर्युक्त भेदों को स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक कहते हैं। ईंटों अथवा शिलाओं से निर्मित भवन 'सञ्चित' होता है।।३२।।

कपोतादिशिरोयुक्तं तत्तत् पुंस्त्वं समीरितम् ।
ऐष्टकं दारुजं सौधं भोगयुक्तागसंयुतम् ॥३३॥
स्त्रीत्वं ह्यसञ्चितं भोगाभोगयुक्तं द्रुमेष्टकैः ।
घनाघनाङ्गयुक् षण्डमुपसञ्चितमिष्यते ॥३४॥

कपोत आदि जिस भवन के शीर्षभाग पर हों, उसे पुरुष भवन कहते हैं। ईंटों या काष्ठ से निर्मित, भोग एवं आग (शिरोभाग के विशिष्ट निर्माण) से युक्त भवन स्त्रीत्वयुक्त 'असञ्चित' संज्ञक होते हैं। काष्ठ अथवा ईंटों से निर्मित भोग एवं अभोग से युक्त तथा घन एवं अघन अङ्गों से युक्त भवन नपुंसक होता है। इसकी संज्ञा 'उपसञ्चित' होती है।।३३-३४।।

✵ खण्डभवनम् ✵

ऊर्ध्वतलपादनिजदैर्घ्यमुनिभागे
स्थूप्युदयमेकमथ कं प्रति गुणांशम् ।
द्व्यंशि गलमंशकवितर्दिकमधस्तात्
खण्डभवनस्य विधिरुक्तमुरुधीभिः ॥३५॥

मनीषियों के अनुसार खण्डभवन की स्थूपी (स्तूपिका) का मान ऊपरी तल के स्तम्भ के सातवें भाग के बराबर होता है। छत की ऊँचाई (स्तम्भ के सात भाग) के तीन भाग के बराबर, गल दो भाग के बराबर एवं वितर्दिक (गल का आधार) एक भाग के बराबर होता है।।३५।।

✵ तोरणम् ✵

पादोदये दशनवाष्टविभाजिते तत्
सप्तर्तुपञ्चचरणायतमत्र भागम् ।
शेषं झषांशमुदयार्धविशालकं वा
षट्पञ्चवेदचरणेन भवेद्विशालम् ॥३६॥

तोरण की ऊँचाई के लिये स्तम्भ के दश, नौ या आठ भाग करने चाहिये। उनमें क्रमशः सातवें, छठे या पाँचवें भाग को ग्रहण करना चाहिये। शेष भाग से झषांश (मछली की आकृति के सदृश गोलाई लिये पट्टिका) निर्मित करना चाहिये। इसकी चौड़ाई लम्बाई की आधी, छठवें भाग, पाँचवें भाग अथवा चौथे भाग के बराबर रखनी चाहिये।।३६।।

नीडस्य तावदुदयं च विशालमङ्घ्रे-
मूलात् त्रिपादविपुलं तलिपं तयोश्च ।

हारान्तरे सदनमध्यपदे च कूटे
कोष्ठे च तोरणमलङ्कृतमेव कुर्यात् ॥३७॥

नीड (सजावटी खिड़की की आकृति) की चौड़ाई उसकी ऊँचाई के बराबर होनी चाहिये। उन दोनों (तोरण एवं नीड) की परिधि स्तम्भ के मूल भाग के तीन चौथाई के बराबर होनी चाहिये। हार के मध्य, भवन-मध्य, कूट पर एवं कोष्ठ पर तोरण से अलङ्करण करना चाहिये।।३७।।

द्वारस्योभयपार्श्वे द्वारसमीपे तु वाथ पदमध्ये।
द्वारपवासगुहा स्यादुत्तरमण्डान्तकं तु वोच्चं तत् ॥३८॥
खण्डान्तपोतिकान्तं तोरणमात्रोदयं तु वा कथितम्।
युक्त्या प्रवेशयुक्त्या सर्वस्मिन् धाम्नि कर्तव्याः ॥३९॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे द्विभूमिविधानं
नाम विंशोऽध्यायः

द्वार के रक्षक का कक्ष द्वार के दोनों पार्श्वों में, द्वार के समीप अथवा पद के मध्य में होना चाहिये। इसकी ऊँचाई उत्तरमण्डपर्यन्त, खण्डपर्यन्त, पोतिकापर्यन्त अथवा तोरणपर्यन्त कही गई है। सभी भवनों में उचित रीति से प्रवेश-भाग का निर्माण युक्ति-पूर्वक करना चाहिये।।३८-३९।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

१. द्विभूमि-विधान

शिल्परत्न (पूर्व.-३७.१३-१७) में विस्तार से प्राप्त होता है।

२. कुम्भलता

कुम्भलता (श्लोक ८) का वर्णन शिल्परत्न (पूर्व. २८ अ.) में प्राप्त होता है—

स्तम्भान्तरे महति धामनि पादविस्तारोच्चाधिपादततपद्मगकुम्भसंस्थाम्।
पादायतां घटमुखोद्गतपत्रचित्रमूलां प्रकल्पयतु कुम्भलतां समन्तात्।।१।।

* * * * * * * *

विनिर्गतोन्नतिं कुम्भं पार्श्वयोस्तस्य तन्मुखात्।
पत्रैर्विनिर्गतैश्चित्रं यथाशोभं नियोजयेत्।।३।।

तदूर्ध्वे कुड्यचरणसमपादाम्बुजासनम्।
अखण्डकलशं कुर्यात्पद्मं कुम्भलतान्वितम्।।४।।

तस्याः कुम्भलता संज्ञा सैव खण्डोपरि क्रमात्।
नक्रतोरणविन्यस्ता स्तम्भकुम्भलता मता।।५।।

३. सञ्चित आदि भवन-भेद

सञ्चित आदि भवन-भेदों का वर्णन मानसार (१९ अ.) में प्राप्त होता है—

आसनं सञ्चितं प्रोक्तं स्थानकं स्यात्त्वसञ्चितम्।।५।।

अपसञ्चितंशयनं चेत्स्यात्तत्त्रिविधहर्म्यके।।६।।

अथैकविंशोऽध्यायः

(त्रिभूमिविधानम्)

त्रितलं पञ्चधामानं संक्षेपाद् वक्ष्यतेऽधुना।
सप्ताष्टहस्तमारभ्य द्विद्विहस्तविवर्धनात् ॥१॥
पञ्चदशविकारान्तं व्यासं तुङ्गं तु पूर्ववत्।

तीन तल वाले भवन का विधान—तीन तल वाले भवन के पाँच प्रकार के प्रमाण को अब संक्षेप में वर्णित किया जा रहा है। सात या आठ हाथ से प्रारम्भ कर पन्द्रह या सोलह हाथपर्यन्त दो-दो हाथ की क्रमशः वृद्धि करते हुये इसे ले जाना चाहिये। यह इनका व्यास है। ऊँचाई पूर्ववर्णित नियम के अनुसार होनी चाहिये।।१।।

❋ स्वस्तिकम् ❋

सप्तष्टानन्दहस्ते तु सप्ताष्टांशैर्विभाजिते ॥२॥
भागेन कूटविस्तारं कोष्ठद्वित्रिगुणायतम्।
लम्बपञ्जरमर्धांशं हाराभागं तु तत्समम् ॥३॥

यदि (भूतल की चौड़ाई) सात, आठ या नौ हाथ हो तो उसके सात या आठ भाग करने चाहिये। इसके एक भाग से कूट की चौड़ाई, दो या तीन भाग से कोष्ठ (मध्य में स्थित कोष्ठ या कूट) की चौड़ाई, आधे भाग से लम्ब पञ्जर (हारा संज्ञक मार्ग के ऊपर लटकती आकृति) एवं इसी के बराबर प्रमाण का हारा संज्ञक मार्ग या गलियारा होना चाहिये।।२-३।।

ऊर्ध्वभूमौ षडंशेंऽशं कूटं तद्द्विगुणायतम्।
कोष्ठकं चान्तरे हारं भागेनैव प्रकल्पयेत् ॥४॥

ऊपरी तल (द्वितीय तल) के छः भाग करना चाहिये। एक भाग से कूट एवं उसका दुगुना चौड़ा कोष्ठक एवं मध्य में एक भाग से हारा का निर्माण करना चाहिये।।४।।

ऊर्ध्वभूमौ त्रिभागेन मध्ये भद्रं विधीयते।
दण्डं सार्धं द्विदण्डं वा भद्रं तत् कारयेद् बुधः ॥५॥

उसके ऊपरी तल (तृतीय तल) के मध्य भाग में भद्र का निर्माण होना चाहिये। बुद्धिमान् (स्थपति) को भद्र का माप एक दण्ड, डेढ़ दण्ड या दो दण्ड रखना चाहिये।।५।।

विमानोच्चे विशेषेण चतुर्विंशतिभाजिते ।
पाशगङ्गाश्विनीभिस्तु सत्रिपादगुणांशकैः ।।६।।

सार्धांशैः सार्धबन्धांशैः सपादांशार्धकांशकैः ।
सार्धत्रिभिस्तु भागेन योजयेत्तु विचक्षणः ।।७।।

धरातलमधःस्तम्भमञ्चमङ्घ्रिकमञ्चकम् ।
तलिपं प्रस्तरं वेदीकन्धरं शिखरं घटम् ।।८।।

देवालय की सम्पूर्ण ऊँचाई को चौबीस भागों में विभक्त करना चाहिये। तीन भाग से धरातल (अधिष्ठान), चार भाग से अधःस्तम्भ (प्रथम तल की ऊँचाई), दो भाग से मञ्च, पौने चार भाग से (द्वितीय तल का) अङ्घ्रिक (स्तम्भ), डेढ़ भाग से मञ्चक, साढ़े तीन भाग से तलिप (तृतीय मंजिल का स्तम्भ अथवा ऊँचाई), सवा भाग से प्रस्तर, आधे भाग से वेदी एवं गल, साढ़े तीन भाग से शिखर एवं एक भाग से घट का निर्माण करना चाहिये।।६-८।।

कूटं नीडं कोष्ठकं चाष्टकं तद्वेदास्राभं जन्मतः स्थूपिकान्तम् ।
ऊर्ध्वे भूमावल्पनीडं द्विरष्टाविष्टं ह्यस्मिन् षण्णवत्यल्पनासम् ।।९।।

नानाधिष्ठानाङ्घ्रिवेद्यादियोगं मूर्धन्यष्टार्धं तथादभ्रनासम् ।
कोष्ठं कूटादुन्नतं चेत्समं च शम्भोर्वासं स्वस्तिकं तत्त्रिभौमम् ।।१०।।

देवालय में आठ कूट (कोण के कोष्ठ), आठ नीड (कूट एवं कोष्ठ के मध्य के कोष्ठ) एवं आठ कोष्ठक (मध्य कोष्ठ) होना चाहिये। इन्हें जन्म (प्रारम्भ) से स्तूपिकापर्यन्त चौकोर बनाना चाहिये। ऊपरी तल पर सोलह अल्पनीड (छोटे कोष्ठ) एवं छियानबे अल्पनास का निर्माण करना चाहिये। अधिष्ठान, स्तम्भ एवं वेदिका आदि की आकृति विभिन्न प्रकार की हो सकती है। शीर्षभाग पर आठ अभ्रनास (सजावटी खिड़कियाँ) होती हैं। कोष्ठ कूट से उन्नत हों एवं आपस में समान ऊँचाई के हों, तो वह देवालय शम्भु का वास होता है एवं यह तीन तल का देवालय 'स्वस्तिक' संज्ञक होता है।।९-१०।।

❋ विमलाकृतिकम् ❋

तारे सप्तनवांशे तु भागं सौष्ठिकविस्तृतम् ।
शालाभागं तथा ह्यंशं हाराभागेन कल्पयेत् ।।११।।

देवालय की चौड़ाई के सात या नौ भाग करने पर सौष्ठिक (कोण के कोष्ठों) को एक भाग चौड़ा, शाला (मध्य का लम्बा कोष्ठ) एक या दो भाग चौड़ा तथा हारा-मार्ग को एक भाग से निर्मित करना चाहिये।।११।।

अष्टकूटं तु तत्कोष्ठं द्वादशैव विधीयते।
अष्टौ नीडानि विंशत्तु शतमत्राल्पनासिकम् ।।१२।।

(इस देवालय में) आठ कूट, बारह कोष्ठ, आठ नीड तथा एक सौ बीस अल्पनासिक होना चाहिये।।१२।।

अष्टास्रं मस्तकं वेदी कन्धरं चाष्टनासिकम्।
विमलाकृतिकं नाम्ना शम्भोर्वासं सनातनम् ।।१३।।

मस्तक, वेदी एवं कन्धर अष्टकोण एवं आठ नासिक होना चाहिये। 'विमलाकृतिक' नामक यह देवालय भगवान् शिव के निवासयोग्य होता है।।१३।।

हस्तनवसप्ततितिसप्तनवभागं
भागततिकूटवसुकं तु रविकोष्ठम्।
ऊर्ध्ववसुपञ्जरमथाष्टगलनासं
विंशतिशतानु विमलाकृति विमानम् ।।१४।।

जब चौड़ाई सात या नौ हाथ हो तो उसके सात या नौ भाग करने चाहिये। कूट की चौड़ाई एक भाग हो एवं इनकी संख्या आठ हो। बारह कोष्ठ हों, आठ ऊर्ध्वपञ्जर हों, आठ गलनास हों तथा एक सौ बीस (सजावटी आकृति हों) तो उस विमान (देवालय) की संज्ञा 'विमलाकृति' होती है।।१४।।

✵ हस्तिपृष्ठम् ✵

एकादशकरं व्यासमष्टभागैर्विभाजयेत्।
तच्चतुर्भागमाधिक्यमायतं वृत्तमिष्यते ।।१५।।

ग्यारह हाथ के विस्तार को आठ भाग में विभक्त करना चाहिये। लम्बाई को विस्तार से चार भाग अधिक रखना चाहिये तथा (एक ओर) वृत्ताकार (एवं एक ओर दो कोण) होना चाहिये।।१५।।

द्व्यस्रवृत्तमधिष्ठानं तद्वत् कन्धरमस्तकम्।
तद्विस्तारार्धमानेन वर्तुलं वर्तनीयकम् ।।१६।।

अधिष्ठान दो कोण (एक सिरे पर एवं दूसरे सिरे पर) वृत्ताकार होना चाहिये। इसी प्रकार कन्धर एवं मस्तक (शिखर) होना चाहिये। विस्तार के आधे प्रमाण से वृत्ताकृति निर्मित करना चाहिये।।१६।।

अस्रात् पार्श्वे च पृष्ठं च कुर्यादर्कद्वयांशकम्।
कूटकोष्ठकनीडानां विस्तारं भागमिष्यते ॥१७॥
कोष्ठकं द्विगुणायामं हारा भागेन योजिता।

कोण (एवं भुजा) के बगल एवं पृष्ठ भाग के बारह भाग दो बार करना चाहिये। कूट, कोष्ठक एवं नीड के विस्तार का निर्माण एक भाग से करना चाहिये। कोष्ठक को दुगुना लम्बा तथा हारामार्ग (की चौड़ाई) एक भाग से निर्मित करनी चाहिये।।१७।।

✵ मुखमण्डपम् ✵

समं त्रिपादमर्धं वा मुखमण्डपमिष्यते ॥१८॥
मण्डपोर्ध्वं यथा हर्म्यं तथालङ्कारमीरितम्।
कूटकोष्ठादिसंयुक्तं मण्डपं सर्वहर्म्यके ॥१९॥

मुख-मण्डप का प्रमाण भवन के बराबर, तीन चौथाई या आधा होना चाहिये। मण्डप के ऊपर उसी प्रकार का अलङ्करण होना चाहिये, जिस प्रकार भवन के ऊपर होता है। सभी भवनों (देवालयों) में मण्डप को कूट एवं कोष्ठ आदि से युक्त निर्मित करना चाहिये।।१८-१९।।

त्रिवर्गसहितं वाऽपि तोरणाद्यैर्विचित्रितम्।
मण्डपं समसूत्रं चेदन्तरालं तु निम्नकम् ॥२०॥

अथवा त्रिवर्गसहित भवन (अर्थात् कूट आदि से रहित तीन वर्ग वाले भवन) को तोरण आदि से सजाना चाहिये। यदि मण्डप प्रधान भवन के बराबर हो तो अन्तराल नीचा होना चाहिये।।२०।।

कूटकोष्ठादि सर्वाङ्गं मानसूत्राद् बहिर्गतम्।
स्वव्यासार्धं तदर्धार्धं दण्डं सार्धद्विदण्डकम् ॥२१॥
द्विदण्डार्धं त्रिदण्डं वा मानसूत्राद् बहिर्गतम्।
एवं युञ्जीत हर्म्यं तु सम्पदामास्पदं सदा ॥२२॥
ऋजुसूत्रं प्रमाणान्तं तद्भङ्गं विपदां पदम्।

कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अवयव मान-सूत्र से बाहर की ओर निकले होते हैं। ये भाग अपने चौड़ाई के आधे अथवा उसके आधे, एक दण्ड, डेढ़ दण्ड, ढ़ाई दण्ड, तीन दण्डपर्यन्त मानसूत्र से बाहर निकले होते हैं। जिस भवन में इस विधि से कूटादि अङ्गों का निर्माण होता है, वह सदैव सम्पत्ति प्रदान करता है। एक सीधी रेखा (ऋजु सूत्र) से इसका प्रमाण लेना चाहिये। ऋजुसूत्र का टूटना विपत्ति प्रदान करता है।

✵ पुनः हस्तिपृष्ठम् ✵

षड्भागं स्यात्तदूर्ध्वे तु पृष्ठतस्तस्य पार्श्वयोः ॥२३॥
कृत्वार्कद्विगुणांशं तु कूटकोष्ठादि पूर्ववत् ।
ऊर्ध्वभौमं चतुर्भागं यथायुक्तिवशान्नयेत् ॥२४॥

ऊर्ध्व-तल (की चौड़ाई) को छः भाग में बाँटना चाहिये। उसके पृष्ठ-भाग के दोनों पार्श्वों को बारह-बारह भाग में बाँटना चाहिये। ऊपरी तल के चार भाग करने चाहिये। चौकोर भाग पर पहले के समान यथोचित रीति से कूट एवं कोष्ठ आदि का निर्माण करना चाहिये।।२३-२४।।

मस्तके पुरतो नेत्रशालावक्त्रसमन्वितम् ।
गर्भकूटोपसम्पन्नं क्षुद्रनास्यङ्घ्रिसंयुतम् ॥२५॥

भवन के शीर्ष भाग में सामने की ओर नेत्रशाला (नेत्र के आकार का प्रकोष्ठ) एवं वक्त्र (मुखभाग) निर्मित करना चाहिये तथा क्षुद्रनासी एवं स्तम्भ से युक्त गर्भकूट का निर्माण करना चाहिये।।२५।।

कूटकोष्ठादिसंयुक्तं यथालङ्कारमाचरेत् ।
शिखरे दश नास्यः स्युस्तिस्रः पादसमन्विताः ॥२६॥

कूट एवं कोष्ठ आदि का निर्माण इस प्रकार करना चाहिये, जिससे भवन सुन्दर लगे। शिखर भाग पर तीस नासिकायें निर्मित होनी चाहिये।।२६।।

अष्टकूटं तथा कोष्ठं नीडं द्वादश चैव हि ।
हारायां क्षुद्रनीडं स्यादर्कद्विगुणसंख्यया ॥२७॥

भवन पर आठ कूट एवं आठ कोष्ठ तथा बारह नीड होना चाहिये। हारा-मार्ग पर बारह क्षुद्रनीडों का निर्माण होना चाहिये।।२७।।

नानामसूरकस्तम्भवेदिकाद्यैरलङ्कृतम् ।
सोपपीठमधिष्ठानं केवलं वा मसूरकम् ॥२८॥
हस्तिपृष्ठमिदं नाम्ना सर्वदेवेषु योग्यकम् ।

विभिन्न प्रकार के मसूरक (अधिष्ठान), स्तम्भ एवं वेदिका आदि से भवन को अलङ्कृत करना चाहिये। अधिष्ठान उपपीठ से युक्त हो अथवा केवल अधिष्ठान हो। यह 'हस्तिपृष्ठ' नामक भवन सभी देवों के लिये अनुकूल होता है।।२८।।

✵ स्तम्भतोरणम् ✵

पादोच्चत्रिद्विभागोच्चं पादं सर्वाङ्गसंयुतम् ॥२९॥

पोतिकारहितं वीरकाण्डोपरि समण्डितम् ।
उत्तरं वाजनं साब्जक्षेपणं निम्नवाजनम् ॥३०॥

स्तम्भ की ऊँचाई के दो तिहाई भाग के बराबर (स्तम्भतोरण) की ऊँचाई रखनी चाहिये एवं इसके सभी अङ्गों का निर्माण करना चाहिये। इसे पोतिकाविहीन तथा वीरकाण्ड के ऊपर मण्डि से युक्त, उत्तर-वाजन, अब्ज-क्षेपण (पट्टिका पर निर्मित पद्मपुष्प) एवं निम्न-वाजन से युक्त निर्मित करना चाहिये।।२९-३०।।

तदूर्ध्वे झषकाण्डं स्यान्नानापत्रैर्विचित्रितम् ।
तोरणाकृतिसंयुक्तं मृणाल्यन्वितकन्धरम् ॥३१॥
सर्वालङ्कारसंयुक्तं स्तम्भतोरणमीरितम् ।

उसके ऊपर झष-काण्ड (मछली की आकृति वाली गोलाई-युक्त पट्टिका) विभिन्न प्रकार के पत्रों से सुसज्जित होना चाहिये। इसे तोरण की आकृति से युक्त एवं कन्धर पर कमल की नाल अङ्कित होनी चाहिये। सभी अलङ्करणों से युक्त 'स्तम्भतोरण' का वर्णन किया गया है।।३१।।

पादान्तरे वा हारायां कर्णप्रासादमध्यमे ।
शालामध्येऽन्तराले तु कुर्यात् सर्वेषु धामसु ॥३२॥

दो स्तम्भों के मध्य में, हारा-मार्ग पर, कर्ण-प्रासाद के मध्य भाग में, शाला (कोष्ठ) के मध्य के अन्तराल पर सभी भवनों में (स्तम्भ-तोरण का प्रयोग करना चाहिये)।।३२।।

स्तम्भे सर्वाङ्गयुक्ते समतलमुभयोः पार्श्वयोर्वीरकाण्ड-
स्याग्रे न्यस्तोत्तरं वाजनमुपरि दलं क्षेपणं तोरणाग्रम् ।
नक्रैः पत्रादिभिर्यद् विरचितमथ तद् धाम्नि वा मण्डपे वा
शालायामन्यवस्तुष्वभिमतमयुतस्तम्भयुक् तोरणं स्यात् ॥३३॥

सभी अवयवों से युक्त दोनों पार्श्वों में स्थित स्तम्भ का तल (ऊँचाई) समान होना चाहिये। वीर-काण्ड अग्र भाग में उत्तर एवं वाजन की स्थापना करनी चाहिये। वाजन के ऊपर दल (पुष्प-पत्र आदि) एवं क्षेपण की स्थापना करनी चाहिये। तोरण के अग्र भाग में नक्र (मकर) एवं पत्र आदि की रचना करनी चाहिये। इस प्रकार के तोरण की देवालय, मण्डप, भवन या अन्य भवन में स्थापना करनी चाहिये। इसमें स्तम्भ की संख्या अयुत (एक) होनी चाहिये।।३३।।

❋ पुनः हस्तिपृष्ठम् ❋

तदेव चतुरस्राभमायतं तन्मसूरकम् ॥३४॥

विस्तारमष्टभागं स्यादायामं दशभागभाक् ।
कूटकोष्ठकनीडं च भागेन परिकल्पयेत् ॥३५॥

जब मसूरक (अधिष्ठान) आयताकार हो तो उसकी चौड़ाई के आठ भाग एवं लम्बाई के दस भाग करने चाहिये। कूट, कोष्ठक एवं नीड की संरचना एक-एक भाग से करनी चाहिये।।३४-३५।।

हाराभागं तु भागेन षडंशं चोर्ध्वभूमिके ।
तदूर्ध्वे तु चतुर्भागमायामे द्व्यंशमाधिकम् ॥३६॥

एक भाग से हारा-मार्ग बनाना चाहिये। इसके ऊपर के तल की चौड़ाई के छः भाग होने चाहिये तथा लम्बाई को दो भाग अधिक रखना चाहिये एवं उसके चार भाग करने चाहिये।।३६।।

सायतं द्व्यस्त्रवृत्तं स्याद् वेदिकागलमस्तकम् ।
कूटकोष्ठादि सर्वाङ्गं पूर्ववत् परिकल्पयेत् ॥३७॥

वेदिका, गल एवं मस्तक आयताकार; किन्तु दो कोण वाला वृत्ताकर (आयताकार आकृति के एक सिरे पर दो कोण हों एवं दूसरा सिरा गोलाई लिये हो) होना चाहिये। कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अङ्गों को पूर्ववर्णित रीति से निर्मित करना चाहिये।।३७।।

नानाधिष्ठानसंयुक्तं नानापादैरलङ्कृतम् ।
पादोपरि भवेन्नासी स्वस्तिबन्धनशोभिता ॥३८॥

यथा बलं यथा योगं तथा कुर्याद् विचक्षणः ।
एतदप्युदितं सौधं गजपृष्ठं पुरातनैः ॥३९॥
युग्मेऽप्येवं प्रयुञ्जीयात् सर्वहर्म्ये विचक्षणः ।

विविध प्रकार के अधिष्ठानों से एवं विभिन्न प्रकार के स्तम्भों से अलङ्कृत होना चाहिये। स्तम्भों के ऊपर स्वस्तिबन्धन से सुशोभित नासी (सजावटी खिड़की) होनी चाहिये। बुद्धिमान व्यक्ति को बल के अनुरूप एवं यथोचित रीति से भवन का निर्माण करना चाहिये। प्राचीन मनीषियों ने इस भवन (देवालय) को भी 'गजपृष्ठ' कहा है। सभी देवालयों में सम संख्या का प्रयोग प्रमाण के लिये करना चाहिये।।३८-३९।।

❋ भद्रकोष्ठम् ❋

त्रयोदशकरव्यासं नवधा विभजेत् समम् ॥४०॥

गर्भगेहं त्रिभागेन गृहपिण्डिस्तु भागतः ।
अन्धारमंशमंशेन परितोऽन्धारिका भवेत् ॥४१॥

तेरह हाथ की चौड़ाई को नौ भागों में बाँटना चाहिये। गर्भगृह को तीन भाग से एवं गृहपिण्डी (भित्ति) एक भाग से बनानी चाहिये। अन्धार (अलिन्द, बरामदा) को एक भाग से तथा एक भाग से उसके चारो ओर अन्धारिका (अलिन्द के बाहर की दीवार) बनानी चाहिये।।४०-४१।।

अंशेन सौष्ठिकं कोष्ठं विस्तारं त्रिगुणायतम्।
अर्धेन नीडविस्तारं शेषं हाराङ्गमिष्यते ॥४२॥

एक भाग से सौष्ठिक एवं कोष्ठ का विस्तार रखना चाहिये। इसकी लम्बाई चौड़ाई से तीन भाग अधिक होनी चाहिये। आधे भाग से नीड का विस्तार तथा शेष भाग से हारामार्ग निर्मित होना चाहिये।।४२।।

कोष्ठमध्ये त्रिदण्डेन नासी निर्गमनान्विता।
उपर्यपि षडंशेंऽशं कूटं तद्द्विगुणायतम् ॥४३॥
कोष्ठकं भागतो हारा पञ्जरैरन्विता भवेत्।
ऊर्ध्वभागं त्रिभागेन मध्ये दण्डेन निर्गमम् ॥४४॥

कोष्ठ के मध्य में तीन दण्ड के प्रमाण से निर्गमन (बाहर की ओर निकला भाग) से युक्त नासी होनी चाहिये। ऊपरी तल के छः भाग करने चाहिये। उसके एक भाग से कूट निर्मित करना चाहिये। कोष्ठक की लम्बाई दुगुनी होनी चाहिये। एक भाग से पञ्जर से युक्त हारा होनी चाहिये। उसके ऊपरी भाग (तल) के तीन भाग करने चाहिये। मध्य भाग में एक दण्ड का निर्गम होना चाहिये।।४३-४४।।

चतुरस्रमधिष्ठानं वस्वस्रं गलमस्तकम्।
आदौ तले चतुष्कर्णे कूटं वेदास्रमस्तकम् ॥४५॥

यदि अधिष्ठान चौकोर हो तो गल तथा शिखर अष्टकोण होना चाहिये। प्रथम तल के चारो कोनों पर कूट होना चाहिये एवं शिरोभाग चौकोर होना चाहिये।।४५।।

अष्टास्रमूर्ध्वभूमौ तु सौष्ठिकानां तु मस्तकम्।
अष्टकूटं तथा नीडं कोष्ठकं तु तथैव हि ॥४६॥

ऊपरी तल पर सौष्ठिकों (कोष्ठों) का शीर्ष अष्टकोण होना चाहिये। इसी प्रकार आठ कूट, नीड एवं कोष्ठक होना चाहिये।।४६।।

क्षुद्रनीडं तथाप्यष्टावष्टौ स्युर्गलनासिकाः।
स्वस्तिकाकारसंयुक्तं नासिकाभूषणं भवेत् ॥४७॥
भद्रकोष्ठमिदं नाम्ना यथार्थं परिकीर्तितम्।

इसी प्रकार क्षुद्रनीड होना चाहिये। गल-नासिकायें चौंसठ होनी चाहिये। नासिकाओं का अलङ्करण स्वस्तिक की आकृति का होना चाहिये। इस भवन की संज्ञा 'भद्रकोष्ठ' उचित ही है।।४७।।

*** वृत्तकूटम् ***

तदेव वर्तुलं कर्णकूटमूर्ध्वोर्ध्वभूमिके ॥४८॥
मस्तकं तस्य वृत्तं स्याच्चतुर्नासीसमन्वितम् ।
वृत्तकूटमिदं नाम्ना देवानां सार्वदेशिकम् ॥४९॥

जब प्रत्येक ऊपरी तल में वृत्ताकर कर्ण-कूट निर्मित हों, शिखर वृत्ताकार हो तथा चार नासियों से युक्त हो, तो उस देवालय को 'वृत्तकूट' कहते हैं। यह देवालय सर्वदा देवों के अनुकूल होता है।।४८-४९।।

*** सुमङ्गलम् ***

तदेवाष्टांशमाधिक्यमायतं चतुरस्रकम् ।
कर्णकूटं युगास्रं स्यादायतं वृत्तमस्तकम् ॥५०॥
कोष्ठभद्रं विना तत्र शेषं पूर्ववदाचरेत् ।
स्थूपित्रयसमायुक्तमेतन्नाम्ना सुमङ्गलम् ॥५१॥

यदि देवालय चार भुजाओं वाला आयताकार हो तथा उसकी लम्बाई चौड़ाई से आठ भाग अधिक हो, चार भुजाओं वाला कर्णकूट हो एवं उसका शिखर वृत्तायताकार (दीर्घ-वृत्त के आकार का) हो तथा कोष्ठभद्र न हो एवं शेष पूर्ववर्णित अवयव निर्मित हों तो तीन स्तूपिकाओं से युक्त इस देवालय की संज्ञा 'सुमङ्गल' होती है।

*** गान्धारम् ***

पञ्चदशकरव्यासं पङ्क्त्यंशेन विभाजयेत् ।
गर्भगेहं चतुर्भागमन्धार्यंशेन योजिता ॥५२॥
अलिन्द्रमंशमंशेन खण्डहर्म्यं बहिः क्रमात् ।
कर्णे मध्येऽन्तरे कार्यं कूटं कोष्ठं च पञ्जरम् ॥५३॥
भागेन कोष्ठकायामं द्विगुणं सम्मतं बुधैः ।

देवालय का पन्द्रह हाथ व्यास होने पर उसके पन्द्रह भाग करने चाहिये। चार भाग से गर्भगृह, एक भाग से अन्धारी (भित्ति की मोटाई), एक भाग से अलिन्द, एक भाग से खण्डहर्म्य, एक भाग से कूट, एक भाग से कोष्ठ एवं एक भाग से पञ्जर निर्मित करना चाहिये। कोष्ठक की लम्बाई उसकी चौड़ाई से दुगुनी होनी चाहिये, ऐसा बुद्धिमानों का मत है।।५२-५३।।

ऊर्ध्वभूमौ रसांशे तु भागं सौष्ठिकविस्तृतम् ॥५४॥
कोष्ठकं द्विगुणायामं हारा भागेन योजयेत् ।
तदूर्ध्वे तु चतुर्भागं द्विभागं मध्यनिर्गमम् ॥५५॥

ऊपरी तल के छः भाग होने चाहिये। सौष्ठिक की चौड़ाई एक भाग होनी चाहिये। कोष्ठक की लम्बाई दुगुनी होनी चाहिये एवं हारा एक भाग से होनी चाहिये। उसके ऊपर के तल का चार भाग करना चाहिये एवं दो भाग से मध्य-निर्गम निर्मित करना चाहिये।।५४-५५।।

दण्डं वाऽध्यर्धदण्डं वा द्विदण्डं वा विशेषतः ।
चतुरस्रमधिष्ठानं तद्वत् कन्धरमस्तकम् ॥५६॥

इसका माप एक दण्ड, डेढ़ दण्ड या दो दण्ड होना चाहिये। अधिष्ठान चौकोर होना चाहिये एवं इसी प्रकार कन्धर (गल) तथा शीर्ष होना चाहिये।।५६।।

अष्टकूटं तथा नीडं कोष्ठकं तु तथैव च ।
लम्बनीडमुपर्यष्टौ वर्षस्थलसमन्वितम् ॥५७॥

कूटों की संख्या आठ हो एवं इसी प्रकार नीड एवं कोष्ठक भी होना चाहिये। ऊर्ध्व भाग में वर्षस्थल (जल का स्थान) से युक्त आठ लम्बनीड का निर्माण करना चाहिये।।५७।।

नासिका स्वस्तिकाकारा सर्वत्र परिशोभिता ।
नानामसूरकस्तम्भवेदीजालकतोरणम् ॥५८॥

स्वस्तिक के आकार की नासिका सभी स्थलों पर सुशोभित होती है। विभिन्न प्रकार के मसूरक (अधिष्ठान), स्तम्भ, वेदी, जालक (झरोखा) एवं तोरण इस भवन के अनुकूल होते हैं।।५८।।

उन्नतौ कूटकोष्ठौ चेदन्तरप्रस्तरान्वितौ ।
एतद् गान्धारमित्युक्तमष्टास्रं वा गलं शिरः ॥५९॥

यदि कूट एवं कोष्ठ ऊँचे एवं अन्तर-प्रस्तर (आधार-वेदिका) से युक्त हों, गल एवं शिर अष्टकोण हों तो ऐसे देवालय को 'गान्धार' कहते हैं।।५९।।

✷ श्रीभोगम् ✷

तदेव वर्तुलं वेदी कन्धरं शिखरं भवेत् ।
शेषं पूर्ववदुद्दिष्टं नाम्ना श्रीभोगमिष्यते ॥६०॥

यदि वेदी, कन्धर एवं शिखर गोलाकार हों तथा अन्य अङ्ग पूर्व-वर्णित विधि के

अनुसार हों तो उस देवालय की संज्ञा 'श्रीभोग' होती है।।६०।।

✵ कूटकोष्ठादि ✵

वृत्ते वृत्तायते द्व्यस्रवृत्तेऽष्टास्रे षडस्रके।
कूटकोष्ठकनीडानामुपर्युपरि च क्रमात् ।।६१।।
कूटकोष्ठकनीडैश्च मण्डितं खण्डहर्म्यके।

वृत्ताकार, वृत्तायताकार (लम्बाई-युक्त गोलाई), दो कोण वाले (एवं दूसरे सिरे पर) वृत्ताकार, आठ कोण एवं छः कोण वाले भवन में प्रत्येक तल में कूट, कोष्ठक एवं नीड होना चाहिये। इनके ऊपर खण्ड-हर्म्यक (लम्बी सजावटी कक्ष की आकृति) भी हो, जो कूट, कोष्ठ तथा नीडों से सुसज्जित हो।।६१।।

ऋजुभागविशालात्तु द्व्यस्रवृत्ते तु वर्तुले ।।६२।।
भागं किञ्चिद् भवेन्न्यूनं भागं सर्वं समं तु वा।
अष्टांशोनदशांशोनमूर्ध्वांशं वाऽप्यधोंऽशकात् ।।६३।।
यथा शोभाबलावाप्तिस्तथा युञ्जीत बुद्धिमान्।

दो कोण वाले वृत्ताकर एवं वर्तुलाकार भवन में भीतरी भाग में सीधे भाग से कुछ कम हो सकता है या बराबर माप हो सकता है। ऊपरी तल निचले तल से आठ या दश भाग कम हो सकता है। जिस रीति से भवन सुन्दर लगे एवं दृढ़ हो, उस रीति का प्रयोग बुद्धिमान स्थपति को करना चाहिये।।६२-६३।।

✵ पुनः धामभेदाः ✵

अर्पितानर्पितं चैव प्रासादं द्विविधं भवेत् ।।६४।।
अर्पितं न च सालिन्द्रमनर्पितमलिन्द्रभाक्।
एवमल्पक्रमं सर्वं योजयेत्तद् विचक्षणः ।।६५।।

पुनः भवन के भेद—देवालय दो प्रकार के होते हैं—अर्पित एवं अनर्पित। अर्पित देवालय में अलिन्द नहीं होता है एवं अनर्पित में अलिन्द होता है। इस अल्प-क्रम का प्रयोग सभी देवालयों में बुद्धिमान स्थपति को करना चाहिये।।६०-६५।।

✵ नालीगृहम् ✵

गुणशरमुनिनन्दैकादशैकाधिकार्कै-
स्तिथिमुनिदशभागे हर्म्यतारे कृतेऽस्मिन्।
शशिगुणयुगबाणैः षड्यमी नागनन्दैः
स्वभवनविपुलस्यार्धेन नालीगृहं स्यात् ।।६६।।

गर्भगृह—गर्भगृह अथवा नाली-गृह का प्रमाण देवालय का तीसरा भाग, पाँच भाग में तीन भाग, सात में चार भाग, नौ में पाँच भाग, ग्यारह में छः भाग, तेरह में सात भाग, पन्द्रह में आठ भाग, सत्रह में नौ भाग अथवा मन्दिर का आधा होना चाहिये।।६६।।

❋ वेदिका ❋

हर्म्याङ्गानां कूटकोष्ठादिकानां ग्रीवाधस्ताद् वेदिका योजनीया।
हाराभागे वेदिकावेदिका वा नीडं वा तत्राल्पनासं च कुर्यात् ।।६७।।

भवन के अवयवों के नीचे, कूट एवं कोष्ठ आदि के नीचे एवं ग्रीवा के नीचे वेदिका निर्मित करनी चाहिये। हाराभाग के नीचे वेदिका का निर्माण हो भी सकता है तथा नहीं भी हो सकता है। वहाँ नीड एवं अल्प-नास का निर्माण (ऊपरी भाग में) होना चाहिये।।६७।।

❋ तोरणादिविधानम् ❋

तोरणं त्रिविधं पत्रतोरणं मकरान्वितम्।
चित्रतोरणमित्येषां मण्डनं त्वधुनोच्यते ।।६८।।

तोरण आदि का विधान—तोरण तीन प्रकार के होते हैं—पत्र-तोरण, मकर-तोरण एवं चित्र-तोरण। अब इनकी सज्जा का वर्णन किया जा रहा है।।६८।।

बालचन्द्रनिभं पत्रैश्चित्रितं पत्रतोरणम्।
द्वयोर्मकरयोर्वक्त्रस्थितमध्यमपूरितम् ।।६९।।
नानाविधलतायुक्तमेतन्मकरतोरणम् ।

उगते हुये चन्द्रमा के समान एवं पत्रों से अलङ्कृत तोरण को 'पत्रतोरण' कहते हैं। मध्य में दो मकरों के मुख पर स्थित पूरिन (शिव) हों एवं तोरण पर विविध प्रकार की लतायें निर्मित हों तो वह 'मकरतोरण' होता है।।६९।।

तदेव पार्श्वयोर्मध्यं पूरिमध्यं द्वयोस्ततः ।।७०।।

नक्रतुण्डं प्रगृह्यैव द्वयोरास्यविनिर्गतैः।
विद्याधरैश्च भूतैश्च सिंहैर्व्यालैश्च हंसकैः ।।७१।।

बालैः स्रग्दामकैरन्यैर्मणिबन्धैर्विचित्रितम्।
चित्रतोरणमेतत् स्याद् देवानां भूभुजां वरम् ।।७२।।

(चित्रतोरण में) मध्य भाग में पूरिन (शिव) स्थित रहते हैं, जिन्हें नक्र-तुण्ड (मकरों के मुख का अग्र-भाग) दोनों ओर से पकड़े रहता है। दोनों मकर-मुखों से

विद्याधर, भूत, सिंह, व्याल, हंस एवं बच्चे निकलते हैं जो पुष्पों की माला, अन्य मणिबन्ध आदि आभूषणों से सुसज्जित रहते हैं। इस तोरण की संज्ञा 'चित्रतोरण' है तथा यह देवों एवं राजाओं के लिये (देवालय एवं राज-भवन में) प्रशस्त होता है।

गुहासु प्रतिमास्तासु पार्श्वपादयुतानि च।
तोरणान्युत्तराधस्तात् प्रयोज्यानि विचक्षणैः ॥७३॥

इस तोरण की गुहाओं (सजावटी खिड़कियों के भीतर का कक्षनुमा स्थान) में प्रतिमायें होती हैं। तोरण के दोनों पार्श्वों में स्तम्भ होते हैं एवं नीचे उत्तर होते हैं।

स्तम्भोच्चे पञ्चषट्सप्तद्व्यंशोच्चं तोरणाग्रकम्।
शेषं पादोदयं पादं चतुरस्राष्टवृत्तयुक् ॥७४॥

कुम्भमण्ड्यादिसंयुक्तं पोतिकारहितं तु वा।
उत्तरं वाजनं साब्जक्षेपणं क्षुद्रवाजनम् ॥७५॥

स्तम्भ की ऊँचाई को पाँच, छः या सात भागों में बाँटना चाहिये। दो भाग तोरण के ऊर्ध्व भाग के लिये एवं शेष भाग स्तम्भ के लिये छोड़ना चाहिये। स्तम्भ चौकोर, अष्टकोण या वृत्ताकार होना चाहिये। यह कुम्भ एवं मण्डि से युक्त एवं पोतिका के विना भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त उत्तर, वाजन, अब्ज-क्षेपण एवं क्षुद्र-वाजन निर्मित होते हैं।।७४-७५।।

पोतिकोपरि वा कुर्याद् वीरकाण्डस्य चोपरि।
उत्सन्ध्यन्तानताग्रं तु कुर्यान्मकरविष्टरम् ॥७६॥

पोतिका के ऊपर या वीरकाण्ड के ऊपर (स्तम्भ की) सन्धि के ऊर्ध्व भाग पर मकर-विष्टर (मकराकृति ढलान) निर्मित करना चाहिये।।७६।।

तुङ्गार्धं त्रिचतुष्पञ्चदण्डतोरणविस्तृतम्।
द्वारतुल्योन्नतं व्यासान्तरं स्तम्भद्वयोरपि ॥७७॥

उत्तरोत्तरयुक्ताष्टमङ्गलोर्ध्वस्थनक्रवत् ।
फलकं पञ्चवक्त्रं तु तदूर्ध्वे शूलसंयुतम् ॥७८॥

छत्रकेतुपताकाश्रीर्भेरी कुम्भं च दीपिका।
नन्द्यावर्तेन चाष्टौ हि सर्वेषामष्टमङ्गलम् ॥७९॥

एवं प्रोक्तं चतुर्भेदं देवादीनां तु तोरणम्।

तोरण की ऊँचाई की आधी उसकी चौड़ाई रखनी चाहिये (अथवा) तीन, चार या पाँच दण्ड तोरण का विस्तार रखना चाहिये। (अथवा) तोरण की ऊँचाई द्वार के

बराबर हो एवं चौड़ाई दोनों स्तम्भों के मध्यभाग के बराबर होनी चाहिये। ऊपरी भाग में मकर के आकार का उत्तर निर्मित करना चाहिये, जिस पर अष्ट-मङ्गल पदार्थ अङ्कित हों। फलक पर पञ्चवक्त्र (शिव) अङ्कित हों एवं ऊर्ध्व भाग में शूल निर्मित हो। ऊर्ध्व भाग में छत्र, ध्वज, पताका, श्री, भेरी, कुम्भ, दीप एवं नन्द्यावर्त आकृति (स्वस्तिक) सभी पर इन अष्टमङ्गल चिह्नों का अङ्कन होना चाहिये। इस देवता आदि के (भवनों में) चार प्रकार के तोरणों के भेद वर्णित हैं।।७७-७९।।

पद्मासनोर्ध्वे कुम्भस्य तिर्यक् चारुलताकृतिः ॥८०॥
तदूर्ध्वे फलकोर्ध्वाब्जमिष्टकुम्भलताग्रकम् ॥८१॥

पद्मासन (पद्म-फलक) के ऊपर कुम्भ के तिरछे (पार्श्व में) सुन्दर लता की आकृति होनी चाहिये। उसके ऊपरी फलक के ऊर्ध्व भाग में कुम्भ की लता के अग्र भाग में पद्म-पुष्प अङ्कित होना चाहिये।।८०-८१।।

पद्मकुम्भलतैवं स्यादन्यदप्येवमूह्यताम् ।
तदेवोत्सन्धिकोर्ध्वे तु वीरकाण्डसमन्वितम् ॥८२॥
स्तम्भकुम्भलतैवं स्याद् स्तम्भतोरणवच्छिरः ।
हारायां तु प्रकर्तव्या दैवेऽदैवे निकेतने ॥८३॥

पद्म, कुम्भ एवं लता तथा अन्य सज्जाओं का भी अङ्कन होना चाहिये। ऊपरी जोड़ के ऊपर वीरकाण्ड होना चाहिये। ऊर्ध्व भाग में स्तम्भकुम्भलता एवं स्तम्भ-तोरण होना चाहिये। देवालय एवं उससे भिन्न (मनुष्य-आवास) में हारा-मार्ग का निर्माण करना चाहिये।।८२-८३।।

षडष्टदशमार्ताण्डमनुवैकारमात्रकैः ।
व्यासं तारार्धनिष्क्रान्तं द्विद्व्यंशं वा त्रिभागिकम् ॥८४॥
वृत्ताकारसमं छन्नं तोरणाङ्घ्रिवदायतम् ।
सकन्धरं तदूर्ध्वे तु शुकनास्या विभूषितम् ॥८५॥
वृत्तस्फुटितमित्युक्तं द्युसदां सद्मभूषणम् ।

'वृत्तस्फुटित' देवालयों का अलङ्करण होता है। इसकी लम्बाई तोरण के स्तम्भ के बराबर होती है। इसकी चौड़ाई छः, आठ, दश, बारह या चौदह माप (मात्रक) की होनी चाहिये तथा निष्क्रान्त (बाहर निकला भाग) चौड़ाई का आधा, दो तिहाई या एक तिहाई होना चाहिये। इसका आच्छादन गोलाकार होता है। ऊर्ध्व भाग कन्धर (गल) से युक्त होता है, जिस पर 'शुकनासी' निर्मित होती है।।८४-८५।।

❋ सोपानम् ❋

तले तले तु सोपानं प्रयुञ्जीत विचक्षणः ॥८६॥

त्रिविधं तस्य मूलं तु चतुरं वृत्तमायतम् ।
चतुर्विधप्रकारं स्यात्त्रिखण्डं शङ्खमण्डलम् ॥८७॥

वल्लीमण्डलमत्यर्धगोमूत्रेण समाहितम् ।

सीढ़ी—प्रत्येक तल में बुद्धिमान व्यक्ति को सीढ़ी का निर्माण करना चाहिये। इसका मूल (प्रारम्भ, प्रकार) तीन प्रकार का सम्भव है—चौकोर, गोलाकार या आयताकार। सीढ़ियों के चार प्रकार होते हैं—त्रिखण्ड, शङ्खमण्डल, वल्ली मण्डल एवं अर्धगोमूत्र।।८६-८७।।

मूलादग्रं क्रमक्षीणं प्रथितं शङ्खमण्डलम् ॥८८॥

स्याद् वल्लीमण्डलं वृक्षारोहिवल्लीसमक्रियम् ।
अश्वपादोपरि स्थित्यारोहणं दक्षिणाङ्घ्रिणा ॥८९॥

द्विदण्डाद्या सप्तदण्डात् सोपानस्य विशालता ।
अश्वपादस्य विस्तारो द्विगुणाद्यश्चतुर्गुणात् ॥९०॥

मूल (प्रारम्भ) से ऊपर तक चौड़ाई में क्रमशः क्षीण होने वाला सोपान 'शङ्खमण्डल' है। 'वल्लीमण्डल' सोपान की संरचना वृक्ष पर चढ़ी हुई (गोलाई में लिपटी हुई) लता के समान की जाती है। अश्वपाद (अश्व के खुर अथवा अर्धचन्द्र का प्रथम सोपान पट्टी) के ऊपर से प्रारम्भ होकर दक्षिण की ओर मुड़ते हुये दो दण्ड से लेकर सात दण्डपर्यन्त सोपान की चौड़ाई हो सकती है। अश्वपाद का विस्तार सोपान के प्रमाण से दुगुना से लेकर चार गुना तक होता है।।८८-९०।।

शयितव्यासपादार्धत्रिपादांशं दृशोदयैः ।
स्थितानीभबालवृद्धसमखण्डान्यनुक्रमात् ॥९१॥

शयानफलकव्यासः षोडशाष्टादशाङ्गुलाः ।
समुद्गतं षडंशैकमेवं सोपानकल्पनम् ॥९२॥

सोपान-पट्टियों के मध्य की ऊँचाई शयित व्यास (लेटाई गई पट्टियों की चौड़ाई) की चौथाई, आधी या तीन चौथाई होनी चाहिये। गज, बच्चों एवं वृद्धों को ध्यान में रखते हुये सोपान-पट्टियों को बराबर भागों में बाँटना चाहिये (अर्थात् उनकी लम्बाई-चौड़ाई आदि पूर्व-निर्धारित प्रमाण में हो)। सोपान के बिछे फलक का व्यास (गहराई) सोलह से अट्ठारह अङ्गुल होना चाहिये एवं ऊँचाई उसके छठे भाग के बराबर होनी चाहिये। इस प्रकार सोपान का निर्माण करना चाहिये।।९१-९२।।

हस्तव्यासं द्विदण्डं तत्पादव्यासं तु बाहलम् ।
हस्ते यथाबलं योज्यं प्रविशेत् स्थितशायिनोः ॥९३॥

हस्त की चौड़ाई दो दण्ड एवं मोटाई उसकी चतुर्थांश होनी चाहिये। स्थित (खड़ी स्थिति) एवं शायिन (लेटी स्थिति) वाले फलकों को हस्त में दृढ़तापूर्वक बैठाना चाहिये। (हस्त सीढ़ी के पार्श्व का एक अङ्ग है)।।९३।।

अयुग्ममेव सोपानं गुह्यागुह्यवशात्ततः ।
एकभक्तिविनिष्क्रान्तं मण्डपादिषु बाह्यतः ॥९४॥

सोपानों की संख्या विषम होनी चाहिये। ये गुप्त (भित्ति आदि में छिपी) या प्रकट हो सकती हैं। मण्डप आदि में बाहर की ओर एक भित्ति (सीढ़ी का एक विशेष भाग) निकली होनी चाहिये।।९४।।

सोपानं सर्ववर्णानां प्रादक्षिण्याधिरोहणम् ।
प्रशस्तं विपरीतं तद् विनाशाय भवेदिह ॥९५॥

सभी वर्ण वाले व्यक्तियों के भवन में सीढ़ी दक्षिण (दाहिनी) की ओर घूमनी चाहिये। यह शुभ होता है। इसके विपरीत (बाँयीं ओर मुड़ना) विनाशकारक होता है।।९५।।

अधिष्ठानाधिरोहार्थं सोपानं पार्श्वयोर्मुखम् ।
हस्तिहस्तं चाश्वपादफलकान्तं प्रयोजयेत् ॥९६॥

अधिष्ठान पर चढ़ने के लिये निर्मित सोपान मुख एवं दोनों पार्श्वों की ओर होना चाहिये। हस्तिहस्त (सीढ़ी का एक भाग, सम्भवत: रेलिङ्ग) का निर्माण अश्वपाद से लेकर फलक (ऊपरी फलक) तक होना चाहिये।।९६।।

सोपानं तदधिष्ठानस्तम्भप्रस्तरवद् भवेत् ।
एवं विधिविशिष्टं तु सोपानं सम्पदां पदम् ॥९७॥

अधिष्ठान का सोपान उसके स्तम्भ-प्रस्तर के बराबर (ऊँचा) होना चाहिये। इस विधि से निर्मित सोपान सम्पत्ति-कारक होता है।।९७।।

एवं प्रोक्तं तैतिलानां नराणां वासे योग्यं तोरणं चैव युक्त्या ।
सोपानं तद्भेदमाकारमस्मिन् सम्यग् योज्यं वास्तुविद्याविधिज्ञैः ॥९८॥

इस प्रकार देवालय एवं मनुष्यों के आवास के अनुरूप तोरण एवं सोपान के भेद एवं आकार का वर्णन किया गया। वास्तु-विद्या के ज्ञाता को भवन के अनुसार उचित रीति से इनकी योजना बनानी चाहिये।।९८।।

स्यान्नागरं द्राविडवेसरं च क्रमेण वै सत्त्वरजस्तमांसि।
महीसुरोर्वीपतिवैश्यकास्ते हरिर्विधाता हर आधिदैवाः ॥९९॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे त्रिभूमिविधानो
नामैकविंशोऽध्यायः

इस प्रकार इनके (भवन के) तीन भेद—नागर, द्राविड एवं वेसर होते हैं, जो क्रमशः सत्त्व, रजस् एवं तमस् के प्रतीक हैं। ये (मनुष्यों में) ब्राह्मण, राजा (क्षत्रिय) एवं वैश्य के तथा (देवों में) हरि, विधाता एवं शिव के (भवन के लिये) अनुकूल होते हैं।।९९।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

१. त्रिभूमि-विधान

(तीन तल के भवन) का वर्णन शिल्परत्न (पूर्व.-३७.२७-४३) एवं मानसार (अ. २१) में प्राप्त होता है।

२. पञ्जर (श्लोक ३)

पञ्जर का वर्णन शिल्परत्न (पू.-२६ अ.) में इस प्रकार प्राप्त होता है—

शालाकूटान्तरालं तद्वारान्तरमिति स्मृतम्।
पञ्जरं तत्र कुर्वीत तदनेकविधं भवेत्।।१।।

दण्डैर्द्वित्रिचतुर्मितैर्मितवितानातानकं पञ्जरम्
नासाद्युज्ज्वलितं च जालकमधो वेद्यूर्ध्वतः संस्थितम्।
दण्डैर्द्व्यादियुगान्तिमैस्ततमतो दण्डर्द्धितं चायतम्
कर्तव्यं द्विगुणान्तिमं सुषिरितं गोमूत्रिकादि क्रमात्।।२।।

पञ्जरं नासिकाकारं कूटकोष्ठाममेव वा।
हस्तपृष्ठविमानस्य शिखराकृति वा पुनः।।३।।

इस प्रकार पञ्जर का विशद वर्णन पूरे अध्याय में वर्णित है।

३. स्तम्भतोरण (श्लोक २९-३३)

स्तम्भतोरण का परिचय शिल्परत्न (पूर्व. अ. २३) में इस प्रकार प्राप्त होता है—

स्तम्भे दिङ्नन्दनागांशिनि झषमनलांशेन शेषेण पादौ
व्यासं स्तम्भार्धतोऽब्ध्याशुगरसमितदण्डेन वा तत्र कुर्यात्।

पत्राविद्धार्धचन्द्रात्मकमथ मकरास्यादिमत् पञ्चभुग्नं
कर्तव्यं तोरणं तद्विविधखगलसन्नक्रतुण्डोज्ज्वलं च।।१।।

अब्जं क्षेपणकं पश्चात् तथैव क्षुद्रवाजनम्।
तच्छिष्टं झषमानं तु तोरणावयवं स्मृतम्।।७।।

स्तम्भे स्तम्भे प्रकर्तव्यं सर्वेषां स्तम्भतोरणम्।।२९।।

पादोच्चं तु त्रिधा भङ्क्त्वा त्रिभागं चरणोदयम्।
उत्तरं वाजनं त्वब्जं क्षेपणं क्षुद्रवाजनम्।।३०।।

तदूर्ध्वे झषबन्धं तु शेषभागेन कारयेत्।
स्तम्भविस्तारमानेन झषविस्तारमाचरेत्।।३१।।

४. तीन प्रकार के तोरण (श्लोक ६८-७२)

तीन प्रकार के तोरणों का वर्णन शिल्परत्न (पूर्व., अ. २३) में इस प्रकार किया गया है—

पत्राख्यं तोरणं त्वादौ द्वितीयं मकराभिधम्।
तृतीयं चित्रसंज्ञं तु त्रिविधं तोरणाकृतिः।।१०।।

अर्धचन्द्रसमाकारं पत्रजातिविराजितम्।
पत्रतोरणमाख्यातं तच्छूद्राणां गृहोचितम्।।११।।

पञ्चवक्त्रसमायुक्तं पार्श्वयोर्मकरास्यकम्।
मध्ये पूरिमसंयुक्तं नानाचित्रसमन्वितम्।।१२।।

नानालङ्कारसंयुक्तं यत्तन्मकरतोरणम्।
देवद्विजनृपाणां तु शस्तं मकरतोरणम्।।१३।।

तदेव पार्श्वयोर्मध्यपूरिमस्य द्वयोरपि।
नक्रतुण्डसमायुक्तं भूतविद्याधरान्वितम्।।१४।।

सिंहेभव्यालहंसाद्यैः बालस्रङ्मुक्तदामकैः।
अन्यैश्च विविधैश्चित्रैः चित्रबन्धैश्च भूषितम्।।१५।।

चित्रतोरणमेवं तु विशां वेश्मसु पूजितम्।।१६।।

५. सोपान (श्लोक ८६-८८)

सोपान का वर्णन शिल्परत्न (पूर्व. २२ अध्याय, १०५-११५ श्लोक) में विस्तार से किया गया है। यहाँ चार प्रकार के सोपानों (त्रिखण्ड, शङ्खमण्डल, अर्धगोमूत्रक एवं वल्लीमण्डल) का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

वेदास्रं दीर्घवेदास्रं वृत्तं चेति त्रियोनिकम्।
चतुर्विधं प्रकारैः स्यात्त्रिखण्डं शङ्खमण्डलम्।।१०६।।

अर्धगोमूत्रकं चाथ वल्लीमण्डलमित्यपि।
त्रिखण्डाकारं रचितं यत्सोपानं त्रिखण्डकम्।।१०७।।

इनकी आकृतियों का वर्णन भी शिल्परत्न में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, क्रियापाद में भी सोपान का वर्णन प्राप्त होता है।

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

(चतुर्भूम्यादिबहुभूमिविधानम्)

पञ्चमानं चतुर्भौमं वक्ष्ये संक्षेपतः क्रमात् ।
त्रिचतुष्पङ्क्तिहस्तादिद्विहस्तविवर्धनात् ॥१॥
एकद्वाविंशदन्तं तु व्यासं तुङ्गं तु पूर्ववत् ।

चार तल से लेकर बहुतलों के देवालयों का विधान—चार तल वाले भवन (देवालय) के पाँच प्रकार के प्रमाणों का संक्षेप में क्रमानुसार वर्णन कर रहा हूँ। इसका व्यास तेरह या चौदह हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये इक्कीस या बाईस हाथ तक जाता है एवं भवन की ऊँचाई पूर्वोक्त नियम के अनुसार रक्खी जाती है।।१।।

✱ सुभद्रकम् ✱

विस्तारोत्सेधमानाभ्यां भागान् वक्ष्यामि हर्म्यके ॥२॥

त्रयोदशकरव्यासमष्टधा विभजेत् समम् ।
एकांशं कूटविस्तारं शालायामं द्विभागिकम् ॥३॥
भागेन पञ्जरव्यासमूर्ध्वे तु पुनरष्टधा ।
प्राग्वदेव सभाशालापञ्जराणामुपर्यपि ॥४॥

विस्तार एवं ऊँचाई के प्रमाण से भवन के भागों की चर्चा कर रहा हूँ। तेरह हस्त के व्यास को बराबर-बराबर आठ भागों में बाँटना चाहिये। एक भाग से कूट का विस्तार, दो भाग से शाला का विस्तार एवं एक भाग से पञ्जर का विस्तार करना चाहिये। उसके ऊपर (दूसरे तल) को भी आठ भागों में बाँटना चाहिये। सभाकक्ष, शाला एवं पञ्जर के ऊपर पूर्ववर्णित (कूटादि) का निर्माण करना चाहिये।।२-४।।

ऊर्ध्वे षड्भागिके भागमेकं कूटस्य विस्तृतम् ।
द्विभागं कोष्ठकायामं नीडं भागार्धमिष्यते ॥५॥

ऊपरी भाग (तीसरी मञ्जिल) के छः भाग करने चाहिये। एक भाग से कूट का विस्तार, दो भाग से कोष्ठक की लम्बाई एवं आधे भाग से नीड़ का माप करना चाहिये।।५।।

तदूर्ध्वे गुणाभागेऽशं मध्ये दण्डेन निर्गमम् ।
उत्सेधं विभजेद् विद्वान् नवत्रिंशतिसंख्यया ॥६॥

उसके ऊपर (के तल) के तीन भाग करना चाहिये। मध्य का भाग एक अंश (आधा) रखना चाहिये एवं निर्गम का माप एक दण्ड रखना चाहिये। बुद्धिमान स्थपति को ऊँचाई के उन्तालीस भाग करने चाहिये।।६।।

सार्धद्व्यंशमधिष्ठानं पञ्चांशं पाददैर्घ्यकम् ।
तदर्धं प्रस्तरोत्सेधं सत्रिपादयुगांशकम् ॥७॥

ऊर्ध्वभूम्यङ्घ्रिकोत्सेधं सपादद्व्यंशमञ्चकम् ।
जङ्घा तद्द्विगुणा चोर्ध्वे द्व्यंशेन प्रस्तरोदयम् ॥८॥

पादाधिकचतुर्भागमुपरिस्तम्भतुङ्गकम् ।
स्यात् सत्रिभागपादेन प्रस्तरं वेदिकांशकम् ॥९॥

गलोच्चमश्विनीभागं सार्धवेदैस्तु मूर्धनि ।
शेषभागं शिखामानमाहोमं चतुरस्रकम् ॥१०॥

(प्रथम तल में) ढ़ाई भाग से अधिष्ठान, पाँच भाग से स्तम्भ की लम्बाई (प्रथम तल के भवन की ऊँचाई), (द्वितीय तल में) इसके आधे माप की प्रस्तर की ऊँचाई एवं पौने पाँच भाग से (तल की) स्तम्भ की ऊँचाई रखनी चाहिये। (तीसरे तल में) सवा दो भाग से मञ्चक और उसके दुगुने प्रमाण से जङ्घा होनी चाहिये। इसके ऊपर (चौथे तल में) दो भाग से प्रस्तर एवं सवा चार भाग से स्तम्भ की ऊँचाई रखनी चाहिये। इसके ऊपर सवा एक भाग से प्रस्तर, एक भाग से वेदिका, गल की ऊँचाई दो भाग से, शिखर सवा चार भाग से तथा शेष भाग से शिखा का प्रमाण रखना चाहिये। पूरा भवन भूतल से चौकोर होता है।।७-१०।।

रविसंख्या भवेत् सौष्ठी कोष्ठं तावत्तु पञ्जरम् ।
शिखरे वेदनास्यः स्युश्चाल्पनास्या विभूषितम् ॥११॥

स्वस्तिकाकारसंयुक्तं नासिकाभिरलङ्कृतम् ।
प्राग्वदेव तलं चाधः स्तम्भालङ्कारतोरणम् ॥१२॥

सर्वालङ्कारसंयुक्तमेतद्धर्म्यं सुभद्रकम् ।

इस भवन में बारह सौष्ठी, बारह कोष्ठ एवं पञ्जर शिखर पर चार नासी होनी चाहिये एवं अल्पनासियों से अलङ्कृत होनी चाहिये। इसे स्वस्तिक की आकृति से एवं नासिका से अलङ्कृत होना चाहिये। तल के नीचे (अधिष्ठान) पूर्ववर्णित नियम के अनुसार होना चाहिये तथा स्तम्भ, अलङ्करण एवं तोरण निर्मित होना चाहिये।

सभी अलङ्करणों से युक्त इस भवन (देवालय) की संज्ञा 'सुभद्रक' होती है।

❋ श्रीविशालम् ❋

सर्वं प्राग्वत्कूटकोष्ठादियुक्त्या मध्ये मध्ये मस्तकं मण्डलाभम् ।
वृत्ताकारं स्यात् सभानां शिरस्तद्विस्तारार्धेनान्वितं गर्भगेहम् ॥१३॥
शेषं त्र्यंशेनावृतावासपिण्डिस्तत्तुल्यं तद्वाह्यतोऽन्धारहारम् ।
नानाधिष्ठानाङ्घ्रिवेद्यादियोगं नाम्नेदं स्याच्छ्रीविशालं सुहृष्टम् ॥१४॥

जिस देवालय के (कोणों पर तथा मध्य में) कूट एवं कोष्ठ आदि हों तथा बीच-बीच में भवन की छत गोलाई लिये हो, कोणकोष्ठ भी मण्डलाकार हों, गर्भगृह भवन के विस्तार के आधे पर (मध्य) स्थित हो, भीतर की भित्ति की मोटाई शेष का तृतीयांश हो तथा यही माप बाहर की भित्ति (अन्धार हार) का होना चाहिये। इस भवन के अनुरूप विविध प्रकार के अधिष्ठान स्तम्भ एवं वेदि आदि होते हैं एवं इस देवालय की संज्ञा 'श्रीविशाल' होती है।।१३-१४।।

❋ भद्रकोष्ठम् ❋

पञ्चदशकरव्यासं नवधा विभजेत् क्रमात् ॥१५॥
गर्भगेहं त्रिभागैकं गृहपिण्ड्यस्तदंशकम् ।
अंशेन परितोऽलिन्द्रं खण्डहर्म्यं तथांशकम् ॥१६॥

भवन के पन्द्रह हाथ के व्यास को नौ भागों में बाँटना चाहिये। तीन भाग से गर्भगृह की चौड़ाई रखनी चाहिये। भीतरी भित्ति की मोटाई के लिये एक भाग एवं चारो ओर अलिन्द की चौड़ाई के लिये एक भाग तथा खण्डहर्म्यक के लिये एक भाग रखना चाहिये।।१५-१६।।

सभा शाला तथा नीडं भागेनैकेन विस्तरात् ।
विस्तारत्रिगुणायामा स्वव्याससमनिर्गमा ॥१७॥
शालामध्ये महानासी भागतत्या विनिर्गता ।
सभाकोष्ठकनीडानामन्तरेऽर्धेन हारकम् ॥१८॥

सभा, शाला एवं नीड की चौड़ाई एक-एक अंश से रखनी चाहिये। इनकी लम्बाई चौड़ाई की तीन गुनी होनी चाहिये। इनकी चौड़ाई के माप से इनका निर्गम निर्मित करना चाहिये। शाला के मध्य भाग में महानासी निर्मित होनी चाहिये, जिसकी चौड़ाई एवं गहराई एक भाग माप की हो। सभा, कोष्ठक एवं नीडों के मध्य आधे भाग से हारक (हारामार्ग) निर्मित होना चाहिये।।१७-१८।।

तदुपर्यष्टभागेन विभजेत् कूटमंशकम् ।
कोष्ठकस्य तु विस्तारं तदेव द्विगुणायतम् ॥१९॥

कूटशालान्तरे नीडमंशेन परिकल्पयेत् ।
तदूर्ध्वे रसभागे तु कूटमंशेन कोष्ठकम् ॥२०॥

ऊपरी (दूसरे) तल की चौड़ाई को आठ भागों में बाँटना चाहिये। एक भाग से कूट एवं एक भाग से कोष्ठक रखना चाहिये। कोष्ठक की लम्बाई विस्तार की दुगुनी होनी चाहिये। कूट एवं शाला के मध्य में एक भाग से नीड की रचना करनी चाहिये। उसके ऊपर (तृतीय तल) के छः भाग करने चाहिये एवं कूट तथा कोष्ठक का निर्माण एक भाग से करना चाहिये।।१९-२०।।

विस्तारद्विगुणायाममन्तरेऽर्धेन पञ्जरम् ।
ऊर्ध्वभूमे चतुर्भागे मध्ये दण्डेन निर्गमम् ॥२१॥

अष्टास्रं कर्णकूटं स्यात् कोष्ठकं क्रकरीकृतम् ।
महाशिखरमष्टास्रमष्टनास्या विभूषितम् ॥२२॥

कूटकोष्ठकनीडानां संख्यायां पूर्ववत् ततिः ।
अस्याप्युत्सेधभागं च पूर्ववत् परिकल्पयेत् ॥२३॥

भद्रकोष्ठमिदं नाम्ना वेदभौमं दिवौकसाम् ।

(कूट एवं कोष्ठक की) लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये। इनके मध्य में आधे भाग से पञ्जर होना चाहिये। इसके ऊपरी भाग के चार भाग होने चाहिये। मध्य भाग में एक दण्ड का निर्गम होना चाहिये। कर्णकूट अष्टकोण हों एवं कोष्ठक क्रकरी (दिशाओं में कोण) हों। महाशिखर अष्टकोण हो तथा आठ नासियों से अलङ्कृत हो। कूट, कोष्ठक एवं नीड की संख्या, विस्तार एवं ऊँचाई आदि के माप पूर्वोक्त रीति से होने चाहिये। चार तल वाला यह देवालय 'भद्रकोष्ठ' संज्ञक होता है।।२१-२३।।

✵ जयावहम् ✵

सप्तदशकरव्यासं दशभागैर्विभाजयेत् ॥२४॥

नालीगृहं चतुर्भागमंशेनान्धारिका भवेत् ।
अलिन्द्रमंशमंशेन परितः खण्डहर्म्यकम् ॥२५॥

सत्रह हाथ के व्यास को दश भागों में बाँटना चाहिये। चार भाग से नालीगृह (गर्भगृह), एक भाग से अन्धारिका (भीतरी भित्ति), एक भाग से अलिन्द एवं एक भाग से चारो ओर खण्ड-हर्म्यक का निर्माण करना चाहिये।।२४-२५।।

कूटं कोष्ठं च नीडं च भागेन परिकल्पयेत्।
कोष्ठायामं द्विभागं स्याच्छेषं हारा सपञ्जरम् ॥२६॥

कूट, कोष्ठ एवं नीड की रचना एक-एक भाग से करनी चाहिये। कोष्ठ की लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी हो एवं शेष भाग से पञ्जरयुक्त हारा का निर्माण करना चाहिये।।२६।।

जलस्थलं विहायोर्ध्वे वसुभागैर्विभाजिते।
भागेन कूटविस्तारं कोष्ठकं द्विगुणायतम् ॥२७॥
हारान्तरे तथांशेन लम्बपञ्जरमीरितम्।
तदूर्ध्वे रसभागे तु भागं सौष्ठिकविस्तृतम् ॥२८॥

इसके ऊपर (दूसरे तल) जलस्थान को छोड़ कर आठ भाग करना चाहिये। एक भाग से कूट की चौड़ाई रखनी चाहिये। कोष्ठक की लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये। हारा के मध्य में एक भाग से लम्ब पञ्जर (लटकती हुई सजावटी आकृति) होनी चाहिये। इसके ऊपर (तीसरे तल पर) छः भाग करने चाहिये। एक भाग से सौष्ठिक का विस्तार करना चाहिये।।२७-२८।।

द्विभागं कोष्ठकायामं हारायां क्षुद्रपञ्जरम्।
तदूर्ध्वे तु त्रिभागेन मध्ये दण्डेन निर्गमम् ॥२९॥

कोष्ठक की लम्बाई (चौड़ाई की) दुगुनी होनी चाहिये। हारामार्ग में क्षुद्र-पञ्जर होना चाहिये। उसके ऊपर (चतुर्थ तल पर) के तीन भाग होने चाहिये। मध्य भाग में एक दण्ड का निर्गम निर्मित होना चाहिये।।२९।।

चतुरस्रमधिष्ठानमष्टास्रं गलमस्तकम्।
त्रिचतुष्कोष्ठकं तावत् सौष्ठिकं चाष्टपञ्जरम् ॥३०॥
लम्बपञ्जरमष्टौ हि क्षुद्रनीडं द्विरष्टकम्।
गलनास्यष्टसंयुक्तं कोष्ठकं किञ्चिदुन्नतम् ॥३१॥
नानामसूरकस्तम्भवेदीजालकतोरणम्।
नानालङ्कारसंयुक्तं नानाचित्रैर्विचित्रितम् ॥३२॥
सोपपीठमधिष्ठानं केवलं वा मसूरकम्।
स्वस्तिकाकारसंयुक्तं नासिकाभिरलङ्कृतम् ॥३३॥
पूर्ववत् तुङ्गभागं स्यादेतन्नाम्ना जयावहम्।

इस भवन (देवालय) का अधिष्ठान चौकोर होना चाहिये एवं गल तथा मस्तक

आठ कोण का होना चाहिये। बारह कोष्ठक, बारह सौष्ठिक एवं आठ पञ्जर होना चाहिये। आठ लम्बपञ्जर एवं सोलह क्षुद्रनीड होना चाहिये। गल पर आठ नासी हों एवं कोष्ठक कुछ ऊँचे हों। विभिन्न प्रकार के मसूरक, स्तम्भ, वेदी, जालक (झरोखा, रोशनदान) एवं तोरण हों। नाना प्रकार के अलङ्करणों एवं विभिन्न प्रकार के अङ्कनों से युक्त हो। अधिष्ठान उपपीठ से युक्त हो या केवल मसूरक हो। स्वस्तिक की आकृति निर्मित हो एवं नासिकाओं से सुसज्जित हो। उँचे भाग की संरचना पूर्व-वर्णित विधि से हो। इस देवालय को 'जयावह' संज्ञा दी गई है।।३०-३३।।

✻ भद्रकूटम् ✻

नवपङ्क्तिकरव्यासे दशभागविभाजिते ॥३४॥
गर्भगेहं चतुर्भागं गृहपिण्डस्तदंशके ।
अन्धारमंशमंशेन परितः खण्डहर्म्यकम् ॥३५॥
कूटकोष्ठकनीडानां तारमंशेन योजयेत् ।
कोष्ठकं द्विगुणायामं हारा भागसमन्विता ॥३६॥

उन्नीस हाथ की चौड़ाई को दश भागों में बाँटा जाता है। चार भाग से गर्भगृह, एक भाग से भित्ति की मोटाई, एक भाग से अन्धार, एक भाग से चारो ओर खण्ड-हर्म्यक, एक-एक भाग से कूट, कोष्ठक एवं नीड की चौड़ाई रखनी चाहिये। कोष्ठक की लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये तथा एक भाग से हारा-मार्ग की रचना होनी चाहिये।।३४-३६।।

✻ कपोतपञ्जरम् ✻

पञ्चांशे सौष्ठिकव्यासे मध्ये द्व्यंशेन विस्तरम् ।
एकभागविनिष्क्रान्तयुग्मस्तम्भसमन्वितम् ॥३७॥
सोपपीठमधिष्ठानं समञ्चं सवितर्दिकम् ।
सकन्धरशिरोयुक्तं सर्वालङ्कारसंयुतम् ॥३८॥
पादुकोत्तरयोर्मध्ये नवांशेनोपपीठकम् ।
मसूरकं द्विभागोच्चं द्विगुणं स्तम्भदैर्घ्यकम् ॥३९॥
सार्धांशं प्रस्तरोत्सेधमर्धांशं वेदिकोदयम् ।
उत्तरादिकपोतान्तं गलोदयमितीरितम् ॥४०॥

सौष्ठिक का व्यास मध्य में पाँच में से दो भाग से निर्मित होना चाहिये। एक भाग से विनिष्क्रान्त का निर्माण होना चाहिये, जो दो स्तम्भों से युक्त हो। यह उपपीठ, अधिष्ठान, मञ्च, वितर्दिक, कन्धर एवं शिरोभाग से युक्त हो तथा सभी अलङ्करणों से

युक्त हो। पादुक से उत्तर के मध्य नौ भाग से उपपीठ, दो भाग ऊँचा मसूरक, उसका दुगुना ऊँचा स्तम्भ, आधे भाग से प्रस्तर की ऊँचाई, आधे भाग से वेदिका तथा उत्तर से प्रारम्भ कर कपोत तक गल का निर्माण करना चाहिये।।३७-४०।।

पञ्जराकृतिसंयुक्तं कपोतात्तु विनिर्गतम्।
यथाशोभं यथायुक्ति तथा शक्तिध्वजान्वितम्॥४१॥

'कपोतपञ्जरं ह्येतत् प्रासादे सार्वदेशिके।
हारायां वाऽथ शालायां मध्ये मध्ये तु योजयेत्॥४२॥

पञ्जर की आकृति से युक्त एवं कपोत से विनिर्गत (कपोतपञ्जर) होता है। जिस प्रकार अच्छा लगे एवं ठीक हो, उस प्रकार शक्ति-ध्वज से युक्त होना चाहिये। यह कपोतपञ्जर सभी प्रकार के देवालय के अनुकूल होता है। इसे हारा के या शाला के मध्य में निर्मित करना चाहिये।।४१-४२।।

✹ पुनः भद्रकूटम् ✹

कूटकोष्ठकनीडं चैवान्तरप्रस्तरान्वितम्।
जलस्थलं विहायोर्ध्वभूमावष्टांशसौष्ठिकम्॥४३॥

द्विगुणं कोष्ठकायामं तयोर्मध्ये तु पञ्जरम्।
तदूर्ध्वे रसभागे तु सौष्ठिकोष्ठं तु पूर्ववत्॥४४॥

विजयस्य यथा प्रोक्तं शेषमूर्ध्वे तु योजयेत्।
कूटकोष्ठादि सर्वाङ्गं पूर्ववत् संख्यया विदुः॥४५॥

महानीडं द्विरष्टौ स्यान्नाम्नेदं भद्रकूटकम्।

कूट, कोष्ठक एवं नीड अन्तर-प्रस्तर से युक्त होते हैं। इसके ऊपर जल-स्थल को छोड़ कर आठ भाग बचते हैं। एक भाग से सौष्ठिक का निर्माण होना चाहिये। कोष्ठक की लम्बाई (चौड़ाई की) दुगुनी होनी चाहिये। उनके मध्य में पञ्जर होना चाहिये। उसके ऊपर छः भाग करना चाहिये। सौष्ठिक एवं कोष्ठ पहले की भाँति होने चाहिये। इसके ऊपरी भाग में जो योजना 'विजय' के लिये कही गयी है, वही यहाँ भी होनी चाहिये। कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अङ्गों की संख्या पूर्व-वर्णित होनी चाहिये। महानीड की संख्या सोलह होनी चाहिये। इस देवालय की संज्ञा 'भद्रकूट' होती है।।४३-४५।।

✹ मनोहरम् ✹

तदेवान्यदलङ्कारं शालामध्ये सभद्रकम्॥४६॥
वृत्तग्रीवाशिरोयुक्तमेतन्नाम्ना मनोहरम्।

यदि भवन के अलङ्करण भिन्न हों एवं शालाओं के मध्य में भद्रक हों, ग्रीवा एवं शिरोभाग गोलाई लिये हों तो इस देवालय का नाम 'मनोहर' होता है।।४६।।

*** आवन्तिकम् ***

तदेवान्यदलङ्कारं वेदास्रं कन्धरं शिर: ॥४७॥
नानामसूरकस्तम्भवेदिकाद्यैरलङ्कृतम् ।
नाम्नावन्तिकमित्युक्तं शम्भोर्मन्दिरमुत्तमम् ॥४८॥

यदि अलङ्करण भिन्न हों, कन्धर एवं शिरो-भाग चौकोर हों, विभिन्न प्रकार के मसूरक, स्तम्भ एवं वेदिका आदि से अलङ्कृत हों तो इस देवालय की संज्ञा 'आवन्तिक' होती है। यह भवन शिव-मन्दिर के लिये उपयुक्त होता है।।४७-४८।।

*** सुखावहम् ***

त्रि:सप्तहस्तविपुले चतुरंशनाली
धर्मांशकेंऽशमभितो गृहपिण्डिमानम् ।
अन्धारमंशमभितोंऽशकमङ्गहारं
कूटं च नीडमथ कोष्ठकमंशतारम् ॥४९॥
शालायतं द्विगुणमंशकतारहारं
वातायनैर्मकरतोरणकैर्विचित्रम् ।
त्यक्त्वा जलस्थलमुपर्यपि चाष्टभागे
कूटं च नीडमथ कोष्ठकमंशतत्या ॥५०॥

यदि विस्तार इक्कीस हाथ हो तो उसके दश भाग करने चाहिये। चार भाग से नाली (गर्भगृह), एक भाग से चारो ओर भीतरी भित्ति की मोटाई, एक भाग से अन्धार, उसके चारो ओर एक भाग से हारामार्ग का विस्तार तथा एक भाग से कूट, नीड एवं कोष्ठक का विस्तार रखना चाहिये। शाला की लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये। हारा-मार्ग की चौड़ाई एक भाग से रखनी चाहिये। वातायन (खिड़की, झरोखा) एवं मकर-तोरण से सज्जा करनी चाहिये। इसके ऊपरी भाग में जल-भाग को छोड़ कर आठ भाग करना चाहिये। कूट, नीड एवं कोष्ठक का विस्तार एक भाग से रखना चाहिये।।४९-५०।।

शालायतं द्विगुणमूर्ध्वतले षडंशे
सौष्ठ्यंशमंशविपुलं द्विगुणायतं स्यात् ।
कोष्ठं च नीडविपुलं हि तदर्धभागं
चोर्ध्वे युगांशिनयनांशकमध्यभद्रम् ॥५१॥

शाला की लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी होती है। उसके ऊपर (के तल के) छः भाग होते हैं। सौष्ठी की चौड़ाई एक भाग से एवं उसकी लम्बाई उसके दुगुनी होती है। कोष्ठ एवं नीड की चौड़ाई आधे भाग से होनी चाहिये। उसके ऊपर के (तल के) चार भाग होने चाहिये एवं दो भाग से मध्य-भद्र की रचना करनी चाहिये।।५१।।

दण्डेन निर्गममुपर्यपि भद्रनीडं
सार्धं द्विदण्डविपुलं गलनासिकं च ।
वृत्ताभकन्धरवितर्दिकमस्तकं स्या-
दष्टार्धनासिकमदभ्रमथाल्पमष्टौ ॥५२॥

दण्ड-प्रमाण से निर्गम होना चाहिये। इसके ऊपर भद्रनीड निर्मित होना चाहिये। गल एवं नासिक ढ़ाई दण्ड चौड़ा होना चाहिये। कन्धर, वितर्दिक एवं मस्तक गोलाई लिये होना चाहिये। आठ अर्धनासिक एवं आठ अल्पनासिक होना चाहिये।।५२।।

कूटं च नीडमथ कोष्ठकमुन्नतंस्या-
दादौ तले तदपि मध्यममञ्चयुक्तम् ।
शालोन्नतं ह्युपरि चोन्नतमूर्ध्वकूटं
वृत्ताभमत्र वसुपट्टशिरस्तु मध्ये ॥५३॥

वेदास्रकूटशिखरं ह्यथ मूलभूमौ
नासाल्पकं ह्युपरि वेधविहीनबन्धम् ।
नानामसूरकसहाङ्घ्रिकशोभिताङ्गं
नाम्ना सुखावहमिदं सुरमन्दिरं स्यात् ॥५४॥

प्रथम तल में कूट, नीड एवं कोष्ठक मध्यम मञ्च (प्रस्तर) से युक्त एवं ऊँचे हों। इसके ऊपर शाला (मध्य कोष्ठ) उन्नत हो, इसके ऊपर ऊँचा ऊर्ध्व-कूट हो, जो गोलाई लिये हो। मध्य में शीर्ष-भाग आठ पट्टों वाला हो। प्रथम तल में कूट का शिखर चौकोर हो एवं वहाँ ऊपर विना किसी खुले स्थान के अल्प-नास होना चाहिये। विभिन्न प्रकार के मसूरक, स्तम्भ एवं अलङ्करणों से युक्त इस देवालय की संज्ञा 'सुखावह' होती है।।५३-५४।।

✵ पञ्चभूमिविधानम् ✵

सत्रिपादयुगलार्धपञ्चकैर्द्व्यर्धसाङ्घ्रिशरसार्धनेत्रकैः ।
पञ्चभागिकसभागनेत्रकैस्त्र्यङ्घ्रिवेदनयनार्धवेदकैः ॥५५॥

त्र्यङ्घ्रिकांशकशिवद्विपादगङ्गाश्विनीभिरुदये षडष्टके ।
कुट्टिमं चरणमञ्चपादकं प्रस्तरं तलिपमञ्चमङ्घ्रिकम् ॥५६॥

प्रस्तरं तलिपमञ्चवेदिकं कन्धरं शिखरकुम्भकं क्रमात्।
पञ्चभौममुदितं विशालके नन्दपङ्क्तिभिरथेन्द्रियांशकैः ॥५७॥

पाँच तल के देवालय का विधान—पाँच तल के देवालय की ऊँचाई को अड़तालीस बराबर भागों में बाँटना चाहिये। पौने तीन भाग से कुट्टिम, साढ़े पाँच भाग से चरण (स्तम्भ, प्रथम तल की ऊँचाई), ढ़ाई भाग से मञ्च, सवा पाँच भाग से पादक (स्तम्भ, द्वितीय तल की ऊँचाई), ढाई भाग से प्रस्तर, पाँच भाग से तलिप (तृतीय तल की ऊँचाई), सवा दो भाग से मञ्च, पौने पाँच भाग से अङ्घ्रि (स्तम्भ, चतुर्थ तल की ऊँचाई), दो भाग से प्रस्तर, सवा चार भाग से तलिप (स्तम्भ, पाँचवें तल की ऊँचाई) पौने दो भाग से मञ्च, एक भाग से वेदिका, दो भाग से कन्धर, सवा चार भाग से शिखर एवं दो भाग से कुम्भ की रचना करनी चाहिये। पाँच तल के देवालय की चौड़ाई को नौ, दश या ग्यारह बराबर भागों में बाँटना चाहिये।

✱ षडाद्यैकादशभूम्यन्तविधानम् ✱

उच्छ्रये तदधः षड्भिर्गुणांशैरङ्घ्रिकं तलम्।
षड्भौममेवमुद्दिष्टं ताराभागं तथा भवेत् ॥५८॥

(पूर्ववर्णित पाँच तल से ऊपर तल में) निचले तल से ऊपर ऊँचाई में छः भाग से अङ्घ्रि (स्तम्भ, तल की ऊँचाई) एवं तीन भाग से तल (अधिष्ठान) निर्मित करना चाहिये। इसकी चौड़ाई पूर्ववर्णित नियम के अनुसार होनी चाहिये।।५८।।

तदधः सार्धषड्भागैः सपादगुणभागकैः।
स्तम्भं मसूरकं कुर्यात्तारे रुद्रार्कभागतः ॥५९॥
सप्तभौममिदं प्रोक्तं विमानं सार्वदेशिकम्।

(सातवें तल के लिये) निचले तल के ऊपर ऊँचाई में साढ़े छः भाग से स्तम्भ एवं मसूरक सवा तीन भाग से निर्मित करना चाहिये तथा विस्तार को ग्यारह या बारह भाग से रखना चाहिये। सात तल वाला यह विमान प्रत्येक स्थान एवं अवसर के लिये उपयुक्त होता है।।५९।।

तदधो मुनिभिः सार्धगुणांशैः स्तम्भकुट्टिमम् ॥६०॥
धर्मरुद्रार्कभागैस्तु सत्रयोदशभागिकैः।
अष्टभौमं वदन्त्यस्मिन्नेवं प्राज्ञा मुनीश्वराः ॥६१॥

उसके ऊपरी तल में सात भाग से स्तम्भ एवं साढ़े तीन भाग से कुट्टिम रखना चाहिये। इसकी चौड़ाई को दश, ग्यारह, बारह या तेरह भाग में बाँटना चाहिये। आठ तल के मन्दिर के निर्माण के विषय में मुनियों का विचार इस प्रकार वर्णित है।

तदधः सार्धसप्तांशैः सत्रिपादगुणांशकैः ।
स्तम्भं च तलकं कुर्यात्तारेंऽशं तत्र पूर्ववत् ॥६२॥
एवं नवतलं प्रोक्तं दशभौममथोच्यते ।

उसके ऊपरी तल (नौ तल) में निचले तल से ऊपर साढ़े सात भाग से स्तम्भ एवं पौने चार भाग से तल (अधिष्ठान) बनाना चाहिये। तल का विस्तार पूर्ववत् होना चाहिये। इस प्रकार नौ तल का मन्दिर निर्मित होता है। अब दशवें तल का वर्णन किया जा रहा है।।६२।।

तदधोऽष्टयुगांशैस्तु पादं मसूरकं भवेत् ॥६३॥
तारे पूर्वोक्तभागैस्तु मनुभागैरथापि वा ।

(दसवें तल के लिये) निचले तल के ऊपर आठ भाग से पाद (स्तम्भ, तल की ऊँचाई) एवं चार भाग से मसूरक होता है। चौड़ाई पूर्वोक्त रीति से या चौदह भाग में बाँटनी चाहिये।।६३।।

तदधः सार्धवस्वंशैः सपादयुगभागिकैः ॥६४॥
स्तम्भं मसूरकं कुर्यात्तारे तद्वच्च पक्षकैः ।
तथा द्विरष्टभागैस्तु सप्तदशांशकैस्तु वा ॥६५॥
एकादशतलं प्रोक्तं द्वादशं क्षममुच्यते ।

इसके ऊपरी तल (ग्यारह तल) में निचले तल के ऊपर साढ़े आठ भाग से स्तम्भ एवं सवा चार से मसूरक निर्मित करना चाहिये। चौड़ाई पूर्ववर्णित अथवा पन्द्रह, सोलह या सत्रह भागों में बाँटनी चाहिये। इस प्रकार ग्यारह तल का देवालय निर्मित होता है। अब बारह तल के देवालय का वर्णन किया जा रहा है।।६४-६५।।

✵ द्वादशतलविधानम् ✵

तदधो नन्दनन्दार्धभागैः स्तम्भं मसूरकम् ॥६६॥
तारे द्विरष्टभागादि यावदर्कद्वयांशकम् ।
गृहपिण्ड्यलिन्द्रहारा गर्भागाराद्बहिः क्रमात् ॥६७॥
हर्म्यस्यावधिकं यावन्नीयते तावदंशकैः ।
द्वित्रिवेदेषु षड्भागैः प्रागुक्तांशैस्तु वा गृहम् ॥६८॥

बारह तल के देवालय का विधान—(बारह तल के देवालय के लिये) निचले तल (की भूमि) के नौ भाग करने चाहिये। साढ़े चार भाग से मसूरक होने चाहिये। चौड़ाई को सोलह से चौबीस भागों में बाँटना चाहिये। गर्भगृह से लेकर भवन

की सीमा तक क्रमशः गृहपिण्डि (भित्ति), अलिन्द्र एवं हारामार्ग को उनके भाग के अनुसार रखना चाहिये। गर्भगृह दो, तीन, चार या छः भाग से या पूर्वोक्त भाग से निर्मित करना चाहिये।।६६-६८।।

एकार्धेनाथवालिन्द्रं शेषं कुड्येषु योजयेत्।
केचित् त्रिर्नवभिर्भागैर्वदन्ति द्वादशावनौ ॥६९॥

षट्कुड्यं पञ्चसालिन्द्रं बहिः कूटादिशोभितम्।
कूटं कोष्ठं च नीडं च क्षुद्रशालेभतुण्डकम् ॥७०॥

अलिन्द्र की संरचना एक या डेढ़ भाग से करनी चाहिये एवं शेष भाग से भित्ति निर्मित होनी चाहिये। कुछ विद्वानों के अनुसार बारहवें तल के सत्ताईस भाग करने चाहिये। छः भाग से भित्ति एवं पाँच भाग से अलिन्द्र निर्मित होना चाहिये। बाहरी भाग में कूटादि से अलङ्करण होना चाहिये। वहाँ कूट, कोष्ठ, नीड, क्षुद्र-शाल एवं गज-शुण्ड निर्मित होना चाहिये।।६९-७०।।

यथाशोभमलङ्कारं तथा युञ्जीत बुद्धिमान्।
युग्महस्तैरयुग्मैर्वा योजयेदेवमिच्छया ॥७१॥

इन अलङ्करणों को इस प्रकार निर्मित करना चाहिये, जिससे वे सुन्दर लगें। इन्हें सम-हस्तप्रमाण से या विषम-हस्तप्रमाण से निर्मित करना चाहिये।।७१।।

युग्मांशे द्व्यंशकं वाऽपि कूटव्यासं द्विरायतम्।
शालायाश्चतुरंशैर्वा युग्मे युग्मांशकैर्विदुः ॥७२॥

नानाभागैरलङ्कारैरन्यैरुक्तं मुनीश्वरैः।
तथा वा तत्र युञ्जीयात्प्राज्ञः शिल्पिषु बुद्धिमान् ॥७३॥

यदि प्रमाण सम संख्या में हों तो कूट का व्यास दो भाग से एवं चौड़ाई उसके दुगुनी रखनी चाहिये। अथवा शाला (कूट) की चौड़ाई चार भाग से रखनी चाहिये। सम संख्या का माप होने पर सभी भागों का माप सम संख्या में होना चाहिये। श्रेष्ठ मुनियों ने विभिन्न भागों एवं अलङ्करणों का वर्णन किया है। बुद्धिमान शिल्पी को उन स्थानों पर उसी विधि से निर्माण करना चाहिये।।७२-७३।।

❋ खण्डहर्म्यम् ❋

तलमेकं भवेद् ग्रासं खण्डहर्म्यं चतुःस्थले।
द्वितलं पञ्चषट्सप्तभूमावेव विधीयते ॥७४॥

त्रितलं चाष्टभूमे तु नन्दपङ्क्तितले तथा।
पञ्चभौमं चतुर्भौमं द्वादशैकादशे तले ॥७५॥

खण्डहर्म्य में यदि देवालय चार तल का हो तो प्रथम तल की ऊँचाई पर ग्रास (निर्माण का एक विशिष्ट अङ्ग) होना चाहिये। यदि भवन पाँच, छः या सात तल का हो तो दूसरे तल की ऊँचाई पर; यदि भवन आठ, नौ या दश तल का हो तो तीसरे तल पर; यदि ग्यारह तल का भवन हो तो ग्रास चौथे तल पर तथा बारह तल वाले भवन में पाँचवें तल पर निर्मित होना चाहिये।।७४-७५।।

*** कूटकोष्ठादि ***

मूलतः कूटकोष्ठादीन् यः कर्तुं सम्यगीहते।
तले तले विभागांश्च यथायुक्त्या प्रयोजयेत् ।।७६।।

कूटकोष्ठादिसर्वाङ्गमुपर्युपरि पूर्ववत्।
कूटकोष्ठकनीडाद्यैर्भेदैराख्या यथोदिता ।।७७।।

जो व्यक्ति प्रथम तल से कूट-कोष्ठ आदि का उचित रीति से निर्माण करना चाहता है, उसे प्रत्येक तल का विभाग नियमानुसार करना चाहिये। प्रत्येक ऊपरी तल में कूट-कोष्ठ आदि अङ्गों को पहले जिस प्रकार कहा गया है, उसी ढंग से निर्मित करना चाहिये। कूट, कोष्ठ एवं नीड आदि भेदों का वर्णन पहले किया जा चुका है।।७६-७७।।

पूर्वं तैर्भेदकैर्युक्तस्याख्या धाम्नस्तथा भवेत्।
आद्वादशतलादेवं युञ्जीयाद् द्वितलादितः ।।७८।।

कर्णे मध्ये तयोर्मध्ये कूटं कोष्ठं च पञ्जरम्।
कर्तव्यं मानसूत्रात्तु तेषां निर्गममुच्यते ।।७९।।

(कूटादि) भेदों का जिस भवन में जिस प्रकार प्रयोग करना चाहिये, उसका वर्णन पहले किया जा चुका है। इनका प्रयोग दूसरे तल से प्रारम्भ कर बारह तलपर्यन्त करना चाहिये। भवन के कर्ण (कोने) पर कूट, मध्य भाग में कोष्ठ एवं कूट तथा कोष्ठ के मध्य में पञ्जर का निर्माण करना चाहिये। उनके निर्गम का निर्माण मानसूत्र से करना चाहिये।।७८-७९।।

स्वव्यासार्धं तथार्धार्धं दण्डं वा द्वित्रिदण्डकम्।
अन्तर्विन्यासदेशं तु मानसूत्रं न योजयेत् ।।८०।।

ऋजुसूत्रप्रमाणान्तं तद्भङ्गे विपदां पदम्।
तस्मात् कूटादिसर्वाङ्गं मानसूत्राद् बहिर्नयेत् ।।८१।।

निर्गमों का माप (उस तल) की चौड़ाई का आधा अथवा उसका भी आधा (चौड़ाई का चौथाई भाग) रखना चाहिये या उनका माप एक, दो अथवा तीन दण्ड

होना चाहिये। इसके भीतरी भाग के माप के लिये मानसूत्र का प्रयोग नहीं करना चाहिये। ऋजुसूत्र माप के अन्त तक होता है। इसका बीच में भङ्ग होना विपत्तिकारक होता है; इसलिये कूट आदि सभी अङ्गों का निर्माण मानसूत्र से हटकर करना चाहिये।।८०-८१।।

चतुरस्रं तु वस्वस्रं षोडशास्रं तु वर्तुलम्।
मस्तकं स्तूपिकोपेतं कूटं कर्णयुतं मतम्॥८२॥
मध्यनासिसमोपेतमर्धकोटिसमन्वितम्।
मुखपट्टिकयोपेतं शक्तिध्वजसमायुतम्॥८३॥

कर्ण पर निर्मित कूट का शीर्ष चौकोर, अष्टकोण, षोडशकोण अथवा गोलाकार एवं स्तूपिका से युक्त होता है। इसके मध्य भाग में नासि एवं अर्धकोटि निर्मित होता है। यह मुखपट्टिका एवं शक्तिध्वज से युक्त होता है।।८२-८३।।

अनेकस्थूपिकोपेतं कोष्ठकं मध्यमे भवेत्।
हस्तिपृष्ठनिभं पृष्ठे शालाकारं मुखं मुखे॥८४॥
पञ्जरं विहितं कूटकोष्ठयोरन्तरे बुधैः।
पार्श्ववक्त्रं तदेवेष्टं हस्तितुण्डं समण्डितम्॥८५॥

अनेक स्तूपिकाओं से युक्त कोष्ठ मध्य में होना चाहिये। इसका पिछला भाग हाथी के पीठ की समान एवं अग्र भाग शाला के आकार का होना चाहिये। कूट एवं कोष्ठ मध्यपञ्जर होना चाहिये। इसका मुख पार्श्व में होना चाहिये एवं गज-शुण्ड से सुसज्जित होना चाहिये।।८४-८५।।

एष जातिक्रमः प्रोक्तः कर्णकोष्ठसमन्वितम्।
मध्ये कूटं तयोर्मध्ये क्षुद्रकोष्ठादिशोभितम्॥८६॥
छन्दमेतत् समुद्दिष्टं कूटं वा कोष्ठकं तु वा।
अन्तरप्रस्तरोपेतनिम्नं वोन्नतमेव वा॥८७॥
विकल्पमिति निर्दिष्टमाभासं तद्विमिश्रितम्।
क्षुद्राल्पमध्यमोत्कृष्टं हर्म्याणामेवमीरितम्॥८८॥
जात्यादिभेदकैर्युक्तं विमानं सम्पदां पदम्।
विपरीते विनाशाय भवेदेवेति निश्चयः॥८९॥

'जाति' (भवन का प्रकारविशेष) का वर्णन इस प्रकार किया गया। (छन्दभवन में) भवन के कर्ण (कोणों) पर कोष्ठ, मध्य भाग में कूट तथा इन दोनों के मध्य

में क्षुद्रकोष्ठ आदि निर्मित हों तो उसे 'छन्द' कहा जाता है। (विकल्प भवन में) कूट या कोष्ठ अन्तर-प्रस्तर से युक्त हों, ऊँचे या नीचे हों तो उस भवन को 'विकल्प' कहा जाता है। 'आभास' भवन में इन दोनों व्यवस्थाओं के मिश्रित रूप का प्रयोग किया जाता है। यह छोटे, मध्यम एवं उत्तम श्रेणी के भवनों के अनुकूल होता है। 'जाति' आदि भेदों से युक्त देवालय सम्पत्ति प्रदान करते हैं। इसके विपरीत रीति से निर्मित देवालय विनाश के कारण बनते हैं।।८९।।

षडष्टास्रे च वृत्ते च द्व्यस्रवृत्ते च तत् क्रमात् ।
पञ्चाष्टनवपङ्क्त्यंशे व्यासैकांशेन बाह्यतः ।।९०।।

वर्तयेत्तु तदाकृत्या कोटिच्छेदार्थमीरितम् ।
चतुरस्रस्य नाहेन योजयेत्तु समं यथा ।।९१।।

तया वर्तनया तेषां मानं सम्पूर्णमिष्यते ।
मानं धाम्नस्तु सम्पूर्णं जगत्सम्पूर्णता भवेत् ।।९२।।

(कूट आदि के) षट्कोण, अष्टकोण, वृत्ताकार, द्व्यस्रवृत्ताकर (दो कोण एवं अगले सिरे पर गोलाई) होने पर उनके व्यास के क्रमशः पाँच, आठ, नौ एवं दश भाग करने चाहिये एवं एक भाग से उसके बाहर उसी की आकृति का घेरा बनाना चाहिये। यहाँ कोटि के छेद के लिये स्थान रक्खा जाता है। चौकोर के घेरे को इस प्रकार रखना चाहिये, जिससे माप सम बना रहे। उनकी वर्तनी से उनका (कूटादि का) मान पूर्ण होता है। यदि भवन का मान पूर्ण होता है तो संसार सम्पूर्णता को प्राप्त होता है (अर्थात् गृहकर्ता को समृद्धि एवं पूर्णता इस संसार में प्राप्त होती है)।।९०-९२।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कुर्यात् संलक्ष्य बुद्धिमान् ।
एवं संक्षेपतः प्रोक्तं प्रासादानां तु लक्षणम् ।।९३।।

एकादिद्वादशान्तं ह्युदयविपुलभागं करैस्तारमानं
चोत्सेधं कूटकोष्ठाद्यवयवकरणं नाहभेदं क्रमेण ।
प्रोक्तं संक्षिप्य सम्यङ् मुनिभिरवितथैर्ब्रह्मपूर्वैर्यथोक्तं
नानाभेदैर्विमानं प्रियतरमनघं तैतलानां मयेन ।।९४।।

इति मयमते वस्तुशास्त्रे चतुर्भूम्यादिबहुभूमि-
विधानो नाम द्वाविंशोऽध्यायः

इसलिये बुद्धिमान व्यक्ति को प्रत्येक अङ्ग का निर्माण अत्यन्त सावधानीपूर्वक

करना चाहिये। इस प्रकार मन्दिरों का लक्षण संक्षेप में वर्णित किया गया। एक तल से लेकर बारह तल तक के भवन की ऊँचाई एवं चौड़ाई हस्त-मान से वर्णित की गई है। कूट एवं कोष्ठ आदि अङ्गों के भेदों का क्रमानुसार वर्णन किया गया। देवों के प्रिय एवं पवित्र विमानों एवं उनके विभिन्न भेदों का दोषहीन वर्णन जिस प्रकार प्राचीन ऋषियों ने किया, जिसका प्रथमत: ब्रह्मा ने उपदेश दिया, उसे संक्षिप्त करके मय ने यहाँ प्रस्तुत किया।।९३-९४।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

१. चार तल वाले भवन

चार तल वाले भवनों का वर्णन मानसार (अ. २२-३०) एवं शिल्परत्न (पूर्व. अ. ३७) में प्राप्त होता है

२. मकरतोरण (श्लोक ५०)

मकरतोरण का उल्लेख शिल्परत्न (पू. अ.-२३.१२-१३) में प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है—

पञ्चवक्त्रसमायुक्तं पार्श्वयोर्मकरास्यकम्।
मध्ये पूरिमसंयुक्तं नानाचित्रसमन्वितम्।।
नानालङ्कारसंयुक्तं यत्तन्मकरतोरणम्।
देवद्विजनृपाणां तु शस्तं मकरतोरणम्।।

यह तोरण देवालय एवं ब्राह्मणों के गृह के अनुकूल कहा गया है।

अथ त्रयोविंशोऽध्याय:

(प्राकारपरिवारविधानम्)

✱ तत्र प्राकारविधानम् ✱

रक्षार्थं च विमानानां शोभार्थं च तथाऽधुना।
परिवारनिवेशार्थं प्राकारं प्रोच्यते बुधै: ॥१॥

चारदीवारी एवं सहायक देवपरिवार के स्थान का विधान—बुद्धिमान ऋषियों ने देवालय की रक्षा के लिये, शोभा के लिये एवं परिवार (सहायक देव, सेवकवर्ग) के लिये प्राकार का वर्णन जिस प्रकार किया गया है, उसका वर्णन अब किया जा रहा है।।१।।

✱ प्राकारमानम् ✱

कृत्वा चतुष्पदं मूलप्रासादस्य तु विस्तृतम्।
आद्यं सालं महापीठं पदै: षोडशभिर्युतम् ॥२॥

मण्डूकाख्यं द्वितीयं स्यान्मध्यं भद्रमहासनम्।
चतुर्थं सुप्रतीकान्तं पञ्चमं चेन्द्रकान्तकम् ॥३॥

प्राकार का मान—प्रधान देवालय की चौड़ाई को चार पद में बाँटना चाहिये। प्रथम साल (प्राकार) की संज्ञा 'महापीठ' है एवं इसमें सोलह पद होते हैं। द्वितीय साल की संज्ञा 'मण्डूक' (चौंसठ पद), मध्य साल (तृतीय) की संज्ञा 'भद्रमहासन' (एक सौ छत्तीस पद), चतुर्थ 'सुप्रतीकान्त' (चार सौ चौरासी पद) एवं पाँचवें की संज्ञा 'इन्द्रकान्त' (एक हजार चौबीस पद) होती है (ये पाँच प्रकार होते हैं)।

एवं युग्मपदैर्युक्तमयुग्मैरथ वक्ष्यते।
एकमाद्यं विमानं स्यादाद्यं सालं तु पीठकम् ॥४॥

द्वितीयं स्थण्डिलं सालं मध्यं चोभयचण्डितम्।
सुसंहितं चतुर्थं स्यादीशकान्तं तु पञ्चमम् ॥५॥

(उपर्युक्त प्राकारभेद) युग्म संख्या वाले पदों के अनुसार वर्णित हैं। अब असम संख्या के अनुसार (प्राकार) वर्णन किया जा रहा है। विमान (देवालय) का मात्र एक पद होता है। प्रथम साल 'पीठ' (नौ पद), दूसरा 'स्थण्डिल' (उनचास पद),

मध्य साल (तृतीय) 'उभयचण्डित' (एक सौ उनहत्तर पद) संज्ञक, चौथा 'सुसंहित' (चार सौ इकतालीस) संज्ञक एवं पाँचवाँ 'ईशकान्त' (नौ सौ इकसठ पद) संज्ञक होता है।।४-५।।

चतुरस्त्रीकृते तेन मुखायाममिहोर्ध्वतः ।
पादाधिकमथाध्यर्धं पादोनद्विगुणं क्रमात् ।।६।।
द्विगुणं द्विगुणार्धं च त्रिगुणं वा चतुर्गुणम् ।
मुखायाममिति प्रोक्तं प्राकाराणां विशेषतः ।।७।।

चतुष्कोण क्षेत्र के अग्र भाग की लम्बाई का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यह लम्बाई (मन्दिर के चौड़ाई की) क्रमशः सवा, डेढ़, तीन चौथाई एवं दुगुनी होती है। प्राकारों के अग्र भाग की लम्बाई दुगुनी, ढाई गुनी, तीन गुनी या चार गुनी कही गई है।।६-७।।

क्षुद्राणामल्पहर्म्याणां स्वव्यासार्धप्रमाणतः ।
अन्तर्मण्डलकं कुर्यात् सत्रिहस्तं तु तत्समम् ।।८।।
द्वितीयं हि तृतीयं तु तस्मात् पञ्चकराधिकम् ।
तस्मात् ससप्तहस्तं तु तत्समं स्याच्चतुर्थकम् ।।९।।

छोटे मन्दिरों में भी अत्यन्त छोटे मन्दिर की चौड़ाई के डेढ़ भाग की दूरी पर (प्रथम प्राकार) 'अन्तर्मण्डल', उसके आगे उतनी ही दूरी तीन हाथ पर दूसरा प्राकार, उससे पाँच हाथ दूरी पर तीसरा प्राकार, उससे सात हाथ की दूरी पर चौथा प्राकार एवं नौ हाथ की दूरी पर पाँचवाँ प्राकार होना चाहिये।।८-९।।

नवहस्तसमायुक्तं तत्समं पञ्चमं भवेत् ।
मध्यमानां स्वतारार्धमन्तर्मण्डलमिष्यते ।।१०।।
तत्समं पञ्चहस्तेन संयुक्तं स्याद् द्वितीयकम् ।
सप्तहस्ताधिकं तस्मात् सालमुक्तं तृतीयकम् ।।११।।
नवहस्ताधिकं तस्माच्चतुर्थं सालमीरितम् ।
एकादशकरैर्युक्तं तत्समं पञ्चमं भवेत् ।।१२।।

(छोटे मन्दिर के) मध्यम कोटि के देवालय की चौड़ाई के आधे माप की दूरी पर अन्तरमण्डल की रचना की जाती है। दूसरा प्राकार पाँच हाथ की दूरी पर होता है। तीसरा साल (प्राकार) सात हाथ की दूरी पर, चतुर्थ साल नौ हाथ की दूरी पर एवं पाँचवाँ ग्यारह हाथ की दूरी पर होना चाहिये।।१०-१२।।

उत्तमानां स्वतारार्धमाद्यं सालं प्रकीर्तितम्।
तत्समं सप्तहस्तेन संयुक्तं स्याद् द्वितीयकम्॥१३॥
नवहस्ताधिकं तस्मात् तृतीयं सालमुच्यते।
तस्मादेकादशाधिक्यं तत्समं तु चतुर्थकम्॥१४॥
त्रयोदशकरैर्युक्तं तत्समं पञ्चमं भवेत्।
एवं क्षुद्राल्पमध्यानामुत्कृष्टानां प्रकीर्तितम्॥१५॥

(छोटे देवालयों के) उत्तम श्रेणी के देवालयों का प्रथम साल उसकी चौड़ाई के आधे माप की दूरी पर होना चाहिये। दूसरा साल सात हाथ की दूरी पर, तीसरा नौ हाथ की दूरी पर, चौथा ग्यारह हाथ की दूरी पर एवं पाँचवाँ तेरह हाथ की दूरी पर होना चाहिये। इस प्रकार अत्यन्त छोटे, क्षुद्र-मध्यम एवं क्षुद्र-उत्तम कोटि के देवालय के सालों (प्राकारों) का वर्णन किया गया।।१३-१५।।

एतेन कारयेद् धीमान् पूर्वोक्तेन क्रमेण वा।
प्राकारं परितस्तस्मान्मुखायामं तु पूर्ववत्॥१६॥
भित्त्यभ्यन्तरमानेन मानयेन्मानवित्तमः।
भित्तिमध्येन बाह्येन कैश्चिदुक्तं तु सूरिभिः॥१७॥

बुद्धिमान व्यक्ति को इस विधि से या पूर्वोक्त क्रम से चारो ओर प्राकार की रचना करनी चाहिये। इसके मुखभाग की लम्बाई पूर्व-वर्णित रखनी चाहिये। माप के ज्ञाता भित्ति के भीतर से माप लेते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार भित्ति के मध्य से एवं कुछ के अनुसार भित्ति के बाहर से माप लेना चाहिये।।१६-१७।।

❋ प्राकारभित्तिः ❋

अन्तर्मण्डलभित्तेश्च विष्कम्भं सार्धहस्तकम्।
तस्मात् त्र्यङ्गुलाधिक्याद् द्विहस्तान्तं यथाक्रमम्॥१८॥
पञ्चानामपि सालानां विष्कम्भं परिगृह्यताम्।
तत्तद्विष्कम्भमानेन त्रिगुणं वा चतुर्गुणम्॥१९॥
प्राकारोदयमुद्दिष्टं स्वाष्टांशोनाग्रविस्तरम्।

अन्तर्मण्डल की भित्ति का विष्कम्भ (मोटाई) डेढ़ हाथ होना चाहिये। इसके आगे के प्राकारों के विष्कम्भों का माप तीन-तीन अङ्गुल बढ़ाते हुये दो हाथ तक क्रमानुसार ले जाना चाहिये। पाँचों सालों (प्राकारों) का विष्कम्भ इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये। उनके विष्कम्भ-मान से उनकी ऊँचाई तीन गुनी या चार गुनी अधिक

होनी चाहिये। अग्र भाग (ऊपरी भाग) का विस्तार (मूल से) आठ भाग कम होना चाहिये।।१८-१९।।

उत्तरान्तोचिता वाऽपि कुम्भमण्ड्यन्तकोदयाः ॥२०॥
मसूरकादिवर्गाढ्याः खण्डहर्म्याभिमण्डिताः ।
ऋजुभित्तियुता वाऽपि बुद्बुदार्धेन्दुशीर्षकाः ॥२१॥

प्राकार की ऊँचाई उत्तर के अन्त तक या (स्तम्भ के) कुम्भ या मण्डि तक रखनी चाहिये। प्राकार को मसूरक से युक्त एवं खण्डहर्म्य से सुसज्जित होना चाहिये। यह भित्ति सीधी हो अथवा बुद्बुद (गोल सजावटी बिन्दु) या अर्धचन्द्र उसके शीर्ष भाग पर सुसज्जित होना चाहिये।।२०-२१।।

क्षुद्राल्पानां तु सालानां भित्तिर्हस्तप्रमाणतः ।
सार्धहस्तावधिर्यावत् पूर्ववद् वर्धयेत् क्रमात् ॥२२॥

(छोटे देवालयों के) सबसे छोटे मन्दिर के सालों की भित्ति (प्राकारों की मोटाई) हस्त-प्रमाण से होती है। इसे डेढ़ हाथ से प्रारम्भ होकर पूर्व-वर्णित रीति (तीन-तीन अङ्गुल) से क्रमानुसार बढ़ाना चाहिये।।२२।।

सोत्तरा वाजनच्छत्रशीर्षाभाः सालभित्तयः ।
भित्तिव्याससमोत्तुङ्गं पादार्धाधिकमेव वा ॥२३॥
तदुच्चे रुद्रभागेऽप्यग्निमोक्षोऽक्षिशिवांशकैः ।
उत्तरं वाजनाब्जं च क्षेपणं च यथाक्रमम् ॥२४॥
ऋजुभित्तियुत्तं ह्येतत् खण्डहर्म्याभिमण्डितम् ।
अधिष्ठानादिवर्गाढ्यं निर्गमोद्गमसंयुतम् ॥२५॥

प्राकार-शीर्ष उत्तर, वाजन एवं छत्र से युक्त होता है। इसकी ऊँचाई भित्ति की चौड़ाई के बराबर, सवा भाग या डेढ़ भाग अधिक होनी चाहिये। ऊँचाई को ग्यारह भागों में बाँटना चाहिये। तीन भाग से उत्तर, तीन भाग से वाजन, दो भाग से अब्ज एवं तीन भाग से क्षेपण की क्रमानुसार योजना करनी चाहिये। भित्ति (का बाहरी भाग) सीधा अथवा खण्डहर्म्य से युक्त हो सकता है। यह अधिष्ठान से प्रारम्भ होकर (ऊँचाई पर) निर्गम से युक्त होता है।।२३-२५।।

❋ आवृतमण्डपम् ❋

एकद्वित्रितलोपेतं कुर्यादावृतमण्डपम् ।
अभ्यन्तरे बहिष्ठात्तु ऋजुभित्तियुता भवेत् ॥२६॥

अधोभूमित्रिभागे तु द्विभागं चोर्ध्वभूमिकम् ।
तत्पादाष्टांशहीनं वा बहिर्भित्त्युन्नतं भवेत् ॥२७॥
मालिकाकृतिरेवं वा महावारयुतं तु वा ।

भित्ति के भीतरी भाग में एक, दो या तीन तल से युक्त आवृतमण्डप का निर्माण करना चाहिये। भित्ति बाहर से सीधी होती है। निचले तल के तीन भाग में से दो भाग के बराबर ऊपरी तल का मान रखना चाहिये। अथवा यह चतुर्थांश या आठवाँ भाग हीन हो सकता है। या इसकी ऊँचाई बाहरी भित्ति के बराबर हो सकती है। यह मालिका की आकृति वाली या महावार (बड़ा बरामदा) से युक्त होती है।।२६-२७।।

मानान्तं बाह्यभित्त्युच्चमधो धूमेः स्थलान्तकम् ॥२८॥
मूलसद्मोत्तरान्तं वा प्रस्तरान्तमथापि वा ।
खण्डहर्म्योत्तरान्तं वा शिखरान्तोन्नतं तु वा ॥२९॥

बाह्य भित्ति की सबसे अधिक ऊँचाई प्रधान देवालय की निचली भूमि के स्थल-भाग से उत्तर पर्यन्त, प्रस्तर तक, खण्डहर्म्य के उत्तर तक अथवा शिखर पर्यन्त हो सकती है।।२८-२९।।

मण्डपं द्वितलं वैकतलं वाऽपि तदावृतम् ।
अधिष्ठानादिवर्गाढ्यं समं वाष्टांशहीनकम् ॥३०॥
त्रिपादं वा विशेषेण सालाधिष्ठानतुङ्गता ।
द्विगुणं चरणोत्तुङ्गं षडष्टांशोनमेव वा ॥३१॥

दो या एक तलयुक्त मण्डप (देवालय) के चारो ओर हो सकता है। यह अधिष्ठान से युक्त, उसके बराबर ऊँचा, आठ भाग कम या तीन चौथाई ऊँचा हो सकता है। मण्डप के स्तम्भ (अधिष्ठान से) दुगुने ऊँचे या (दुगुने से) आठ या छः भाग कम ऊँचे हो सकते हैं।।३०-३१।।

✵ सालशीर्षालङ्कारः ✵

उक्षं वा भूतरूपं वा कर्तव्यं सालशीर्षके ।
मूलजन्मतलं हस्तमात्रोच्चं जन्मसालतः ॥३२॥

प्राकार के शीर्षभाग के अलङ्करण—साल (प्राकार) के शीर्षभाग पर वृषभ या भूतों का स्वरूप अङ्कित करना चाहिये। मूल देव-भवन का जन्मतल (अधिष्ठान) साल के जन्म से एक हाथ ऊँचा रखना चाहिये।।३२।।

❋ अधिष्ठानोत्सेधः ❋

प्रतिसालं तु षण्मात्रहीनं स्याच्छेषसालके ।
क्षुद्रे साष्टादशाङ्गुल्यं मध्यमे मूलपादुकम् ॥३३॥
क्षपयेत्तु चतुर्मात्रैर्यावत् पञ्चान्तसालकम् ।
योजयेद् विधिनानेन स्थपतिस्तत्क्रमेण तु ॥३४॥

अधिष्ठान की ऊँचाई—क्षुद्र देवालय में शेष सालों में प्रत्येक साल छः-छः अङ्गुल कम होता जाता है। मध्यम देवालय में अट्ठारह अङ्गुल का अन्तर होता है। प्रत्येक साल में (प्रथम से) पाँचवें तक चार-चार अङ्गुल कम होता जाता है। स्थपति को इसी विधि से साल-योजना करनी चाहिये।।३३-३४।।

❋ परिवारालयविधानम् ❋

परिवारविमानानां मानं गर्भार्धमिष्यते ।
मूलवस्तुत्रिभागैकं मध्यं वा पादबाह्यकम् ॥३५॥
त्रिचतुष्पञ्चषट्सप्तहस्तैर्वा हर्म्यविस्तृतम् ।

देव-परिवार के भवन का विधान—परिवार देवालय (प्रधान देव-मूर्ति से पृथक् देव-परिवार का मन्दिर, जो मन्दिर परिसर में बने होते हैं) के गर्भगृह का मान प्रधान देवालय के विस्तार का आधा होता है। इसे तीसरे भाग, आधा, तीन चौथाई के बराबर भी रक्खा जाता है। इस भवन का विस्तार तीन, चार, पाँच, छः या सात हाथ रखना चाहिये।।३५।।

अष्टौ वा परिवाराः स्युस्तथा द्वादश षोडश ॥३६॥
द्वात्रिंशत् परिवाराश्च हीष्यन्ते शास्त्रकोविदैः ।
परिवारामरोत्सेधं युक्त्या तत्रैव योजयेत् ॥३७॥
यदुक्तं सकले बेरे तन्मानं गृह्यतां वरैः ।
सर्वलक्षणसंयुक्तं स्थानकासनमेव वा ॥३८॥

शास्त्र के ज्ञाताओं के अनुसार आठ, बारह, सोलह या बत्तीस परिवार-देवता होते हैं। परिवार-देवों की मूर्ति की ऊँचाई नियमानुसार होनी चाहिये। जो प्रमाण सकल बेरों (बेरों, पट्टियों पर निर्मित आकृति) के लिये कही गई है, वही प्रमाण श्रेष्ठ स्थपति को ग्रहण करना चाहिये। ये (मूर्तियाँ) सभी लक्षणों से युक्त बैठी या खड़ी मुद्रा में होनी चाहिये।।३६-३८।।

✻ अष्टौ परिवाराः ✻

हीनविमानानामथ परिवाराश्चाष्ट वै प्रोक्ताः ।
प्राकारोऽप्येकः स्यात् पीठपदे चार्यकादिषु वा ॥३९॥
ऋषभगणाधिपकमलजामातृगुहार्याच्युताश्च चण्डेशः ।

आठ परिवार-देवता—छोटे देवालयों में एक ही प्राकार एवं आठ परिवार-देवता होने चाहिये। यदि पीठ-संज्ञक वास्तु-पद हो तो आर्यक के पद से प्रारम्भ कर ऋषभ, गणाधिप, कमलजा (लक्ष्मी), मातृकायें, गुह, आर्य, अच्युत एवं चण्डेश होने चाहिये।।३९।।

✻ द्वादश परिवाराः ✻

उपपीठपदे चान्तर्द्वादश परिवारकाः स्थाप्याः ॥४०॥
वृषकमलजगुहहरयः पूर्ववदुदितास्तथार्यकादिपदे ।
रविगजवदनयमास्ते मातृजलेशौ च दुर्गा च ॥४१॥
धनदश्चण्डः क्रमशः सूर्यपदादिष्ववामगताः ।

बारह परिवार-देवता—उपपीठ वास्तुपद पर बारह परिवार-देवताओं की स्थापना करनी चाहिये। पहले की भाँति आर्यक पद से प्रारम्भ कर वृष, कमलजा, गुह एवं हरि होने चाहिये। सूर्य के पद से दाहिनी ओर रवि, गजवदन, यम, मातृकायें, जलेश, दुर्गा, धनद एवं चण्ड क्रमानुसार होने चाहिये।।४०-४१।।

✻ षोडश परिवाराः ✻

षोडश परिवाराः स्युश्चोग्रे पीठे निधातव्याः ॥४२॥
अन्तश्चार्यकभागादिषु वृषभाद्यास्तथा प्राग्वत् ।
ईशपदे च जयन्ते भृशभागेऽग्नौ च वितथे च ॥४३॥
भृङ्गनृपे पितृसुगले शोषे वायौ च मुख्यकेऽप्युदितौ ।
चण्डश्चन्द्रः सूर्यो गजवदनः श्रीः सरस्वती चेति ॥४४॥
ता मातरश्च शुक्रो जीवो दुर्गा दितिस्तथाप्युदितिः ।

षोडश परिवार-देवता—उग्र पीठ-वास्तु पद पर सोलह देव-परिवार स्थापित करना चाहिये। आर्यक पद पर वृष आदि देवों को पहले के सदृश स्थापित करना चाहिये। ईश, जयन्त, भृश, अग्नि, वितथ, भृङ्गनृप, पितृ, सुगल, शोष, वायु, मुख्य एवं उदिति के पद पर क्रमशः चन्द्र, चन्द्र, सूर्य, गजवदन, श्री, सरस्वती, मातृकायें, शुक्र, जीव, दुर्गा, दिति एवं उदिति होनी चाहिये।।४२-४४।।

✻ द्वात्रिंशत् परिवाराः ✻

द्वात्रिंशत्परिवाराः स्थण्डिलकाख्ये तु चण्डिते स्थाप्याः ॥४५॥
ब्रह्मपदं नवबाह्यो श्रीज्येष्ठोमा सरस्वती चैताः ।
साविन्द्रेन्द्रजयांशे रुद्रजये चापवत्से च ॥४६॥
आर्यादिषु च पदेषु वृषभाद्याः पूर्ववत् कथिताः ।

बत्तीस परिवार-देवता—स्थण्डिल वास्तुपद पर बत्तीस परिवारदेवता स्थापित किये जाते हैं। ब्रह्मा के पद के बाहर नौ पदों पर श्री, ज्येष्ठा, उमा एवं सरस्वती को क्रमशः साविन्द्र, इन्द्रजय, रुद्रजय एवं आपवत्स के पद पर रखना चाहिये। आर्यक आदि के पद पर वृषभ आदि देवों को पहले की भाँति स्थापित करना चाहिये।

ईशे पर्जन्यपदे माहेन्द्रे भानुभागे तु ॥४७॥
सत्यान्तरिक्षकानलपूषगृहक्षतार्किभागे तु ।
गन्धर्वे मृषभागे पितृबोधनपुष्पदन्तवरुणेषु ॥४८॥
असुरे यक्षसमीरणभागे नागे च भल्लाटे ।
सोमपदे मृगभागेऽप्युदितौ देवाः क्रमात्स्थाप्याः ॥४९॥
ईशशशिनन्दिकेश्वरसुरपतयो वै महाकालः ।
निकरवह्निबृहस्पतिगजवदनयमाश्च भिङ्गिरिटिः ॥५०॥
चामुण्डाप्यथ निर्ऋतिश्चागस्त्यो विश्वकर्मा च ।
जलपतिरथ भृगुनामा दक्षः प्रजापतिर्वायुः ॥५१॥
दुर्गा च वीरभद्रो धनदश्चण्डेश्वरः शुक्रः ।
स्थण्डिलचण्डितभागे पण्डितजनमण्डलैरुदिताः ॥५२॥

ईश, पर्जन्य, महेन्द्र, सूर्य, सत्य, अन्तरिक्ष, अनल, पूषा, गृहक्षत, यम, गन्धर्व, मृष, पितृ, बोधन, पुष्पदन्त, वरुण, यक्ष, समीरण, नाग, भल्लाट, सोम, मृग एवं उदिति के पद पर क्रमशः देवों की स्थापना करनी चाहिये। (ये देवता हैं—) ईश, शशि, नन्दिकेश्वर, सुरपति, महाकाल, दिनकर, वह्नि, बृहस्पति, गजवदन, यम, भृङ्गरीटि, चामुण्डा, निर्ऋति, अगस्त्य, विश्वकर्मा, जलपति, भृगु, दक्ष प्रजापति, वायु, दुर्गा, वीरभद्र, धनद, चण्डेश्वर एवं शुक्र। विद्वानों के कथनानुसार स्थण्डिल वास्तु-विभाग में यह व्यवस्था होनी चाहिये।।४७-५२।।

युग्मायुग्मपदे ते कुड्यगता वागताश्च परमध्ये ।
त्रिप्राकारे पञ्चप्राकारेऽप्येवमेव भवेत् ॥५३॥

अष्टाद्याः परिवारा मध्यान्तर्हारयोरुदिताः ।
प्रत्यग्दिङ्मुखहर्म्ये मित्रे वृषभस्थितिः प्रोक्ता ॥५४॥

वास्तु-विन्यास सम पदों का हो अथवा विषम पदों का हो, परिवार-देवता प्राकार की भित्ति पर निर्मित होने चाहिये। उससे पृथक् होने की स्थिति में मध्य पद के पास होने चाहिये। जहाँ तीन अथवा पाँच प्राकार हों, वहाँ प्रारम्भिक आठ देवता मध्याहार या अन्ताहार पर निर्मित होने चाहिये। यदि देवालय पश्चिम-मुख हो तो मित्र के पद पर वृषभ की स्थिति होनी चाहिये।।५३-५४।।

कमलजगुहहरयस्ते भूधरभागार्ययोर्विवस्वति च ।
यन्मुखमीश्वरभवनं तन्मुखमेवोदितं तेषाम् ॥५५॥
शिष्टा हर्म्याभिमुखाः पूर्वोक्तपदे निधातव्याः ।

कमजल, गुह एवं हरि को भूधर, आर्य एवं विवस्वान् के पद पर होना चाहिये। जिस दिशा में ईश्वर के भवन का मुख हो, उसी दिशा में उनका भी मुख होना चाहिये। शेष देवों को पूर्ववर्णित पदों पर होना चाहिये एवं उनका मुख देवालय की ओर होना चाहिये।।५५।।

प्राक्प्रत्यङ्मुखमुक्षा देवाभिमुखो न वाऽभिमुखः ॥५६॥
अवागुत्तरदिशि मुखिनौ चण्डेशेभाननौ च मतौ ।
प्रासादमण्डपसभाशालाकाराणि कार्याणि ॥५७॥
परिवारविमानानि सर्वाण्यङ्गानि युक्तिवशात् ।

देवालय का मुख चाहे पूर्व दिशा में हो, चाहे पश्चिम में हो, वृष का मुख अथवा पृष्ठभाग शिव की ओर होना चाहिये। चण्डेश एवं गजानन का मुख क्रमशः दक्षिण एवं उत्तर की ओर होना चाहिये। देव-परिवार के भवन सभी अङ्गों से युक्त, उचित रीति से प्रासाद, मण्डप, सभा अथवा शाला के आकार का निर्मित करना चाहिये।

❋ मालिकापङ्क्तिः ❋

मध्यान्तर्हारयोरेव मालिकापङ्क्तिरिष्यते ॥५८॥
एकद्वित्रिचतुर्भूमियुक्ता वा पञ्चभूमिका ।
भित्तेरुपरि भित्तिः स्यात् पादः पादोपरि स्मृतः ॥५९॥
भित्तेरुपरि पादो वा पादोपरि न भित्तिका ।
कूटकोष्ठादियुक्ता वा जालभित्तिरलङ्कृता ॥६०॥
मण्डपाकृतियुक्ता वा शालाकारसभान्विता ।

मध्यहार एवं अन्तर्हार के बीच में मालिका-पङ्क्ति निर्मित होनी चाहिये। यह एक, दो, तीन, चार या पाँच तल की होनी चाहिये। दीवार के ऊपर दीवार एवं स्तम्भ के ऊपर स्तम्भ निर्मित होना चाहिये। भित्ति के ऊपर स्तम्भ निर्मित हो सकते हैं; किन्तु स्तम्भ के ऊपर भित्ति नहीं निर्मित होनी चाहिये। मालिका-पङ्क्ति को कूट एवं कोष्ठ आदि से युक्त एवं जालभित्ति से अलङ्कृत होना चाहिये। यह मण्डप के आकृति की, शाला या सभा के आकृति की होनी चाहिये।।५८-६०।।

भक्तिमानं तथा पादायामं संक्षिप्य वक्ष्यते ।।६१।।

मूलधाम्नस्तूत्तरान्तमुपानाद्युन्नतं क्रमात् ।
सप्तभागैः समं कृत्वा द्व्यंशं मसूरकोन्नतम् ।।६२।।

पादायामं तु पञ्चांशं पादं सर्वाङ्गसंयुतम् ।
अथवा पादमानं तु नवभागैर्विभाजयेत् ।।६३।।

अधिष्ठानं द्विभागं स्याच्छेषं पादोदयं भवेत् ।
सार्धद्विहस्तमारभ्य षट्षडङ्गुलवर्धनात् ।।६४।।

षड्ढस्तान्तं समुत्सेधं स्तम्भं त्रिः पञ्चसंख्यया ।
भित्त्यभ्यन्तरतस्तावदेवं तस्या विशालता ।।६५।।

भक्त्यायामं च तावत् स्यात् क्षुद्रे महति मन्दिरे ।
षडङ्गुलात् समारभ्य वाङ्गुलाङ्गुलवर्धनात् ।।६६।।

विंशन्मात्रावधिर्यावत् पादविष्कम्भमिष्यते ।

अब भक्तिमान (विभाजन, दूरी) एवं स्तम्भ का आयाम संक्षेप में वर्णित किया जा रहा है। प्रधान देवभवन के उपानत् (अधिष्ठान का ऊपरी भाग) से उत्तरपर्यन्त की दूरी को सात बराबर भागों में बाँट कर दो भाग से मसूरक (अधिष्ठान) की ऊँचाई एवं पाँच भाग से स्तम्भ की ऊँचाई रखनी चाहिये। स्तम्भ को सभी अङ्गों से युक्त निर्मित करना चाहिये या स्तम्भ के प्रमाण को नौ भागों में बाँटना चाहिये। दो भाग से अधिष्ठान एवं शेष भाग से स्तम्भ की ऊँचाई रखनी चाहिये। ढ़ाई हाथ से प्रारम्भ कर छः-छः अङ्गुल बढ़ाते हुये छः हाथ तक स्तम्भ की ऊँचाई रखनी चाहिये। इस प्रकार स्तम्भों की ऊँचाई पन्द्रह प्रकार की हो सकती है। भीतरी भित्ति की मोटाई के अनुसार स्तम्भ की चौड़ाई होनी चाहिये। यह भक्तिमान एवं लम्बाई छोटे एवं बड़े सभी देवालयों के लिये समान है। अथवा छः अङ्गुल से प्रारम्भ करके एक-एक अङ्गुल बढ़ाते हुये बीस अङ्गुलपर्यन्त पादविष्कम्भ (स्तम्भ की चौड़ाई) रखना चाहिये।

पादोच्चार्धमधिष्ठानं षडष्टांशोनमेव वा ।।६७।।

पादोदयत्रिभागैकं चतुर्भागैकमेव वा ।
पादबन्धमधिष्ठानं चारुबन्धमथापि वा ।।६८।।
पादोनमप्यलङ्कारं प्रस्तरस्याप्यलङ्कृतम् ।
पूर्वोक्तेन प्रकारेण युक्त्या तत्रैव योजयेत् ।।६९।।

अधिष्ठान की ऊँचाई स्तम्भ की ऊँचाई का आधा, छः या आठ भाग कम या स्तम्भ की ऊँचाई का तीसरा अथवा चौथा भाग रखना चाहिये। यह अधिष्ठान पादबन्ध या चारुबन्ध शैली का होना चाहिये। इसका चतुर्थांश कम प्रस्तर होना चाहिये, जो अलङ्करणों से सुसज्जित हो। इस प्रकार पूर्ववर्णित रीति से उचित ढंग से निर्माणकार्य करना चाहिये।।६७-६९।।

खलूरिका मनुष्याणां वासेष्वेवमुदीरिताः ।
प्रथमावरणाद्यावत् त्रिप्राकारान्तमावृतिः ।।७०।।

(जिस प्रकार देवालय में मालिका) उसी प्रकार मनुष्यों के आवास में खलूरिका का निर्माण गृह के चारो ओर होना चाहिये, जो प्रथम आवरण (प्राकार) से लेकर तीसरे प्राकार तक होता है।।७०।।

यथेष्टदिशि हि द्वारं युक्त्या युक्तं नृणां मतम् ।
परिवारविमानानि तत्तदुक्तपदे क्रमात् ।।७१।।
आर्यात्पूर्वोक्तनीत्या तु प्रासादाभिमुखान्यपि ।
नृत्तमण्डपपीठादि परिवाराद् बहिः पुरः ।।७२।।
स्नानार्थं मण्डपं वाऽपि नृत्तमण्डपमेव वा ।
परिवारालयान्तैर्वा कर्तव्यं स्वप्रमाणतः ।।७३।।

उनके द्वारों को अभीप्सित दिशा में मनुष्यों के भवन में कहे गये नियम के अनुसार स्थापित करना चाहिये। (मालिकापङ्क्ति में) परिवार-देवालयों को जिन-जिन पदों में कहा गया है, उन्हें क्रमानुसार वहीं निर्मित करना चाहिये। आर्यक के पद से प्रारम्भ करते हुये पूर्ववर्णित नियम के अनुसार देवालय की ओर उन्मुख बनाना चाहिये। इन परिवार-देवालयों के बाहर नृत्य-मण्डप एवं पीठ (वेदी) आदि का निर्माण करना चाहिये अथवा स्नान-मण्डप एवं नृत्य-मण्डप परिवारदेवालय के भीतर भी प्रमाण के अनुसार निर्मित हो सकता है।।७१-७३।।

❋ पीठलक्षणम् ❋

गर्भगृहार्धेन समौ पीठव्यासोच्छ्रयौ मतौ ।
एकद्वित्रिकरव्यासोत्सेधं वा बलिविष्टरम् ।।७४।।

गोपुरात्तु बहिः पीठं प्रासादार्धेन निर्गमम्।
तत्समं वा त्रिपादं वा निर्गमं बलिविष्टरम्॥७५॥

पञ्चानामपि सालानामारात् पैशाचमग्रतः।
पैशाचपीठप्रासादमध्ये तु बलिविष्टरम्॥७६॥

पीठ के लक्षण—गर्भगृह के व्यास के आधे प्रमाण से दो पीठों की चौड़ाई एवं ऊँचाई रखनी चाहिये। बलिविष्टर (जहाँ बलि दी जाय) की ऊँचाई एवं चौड़ाई एक, दो या तीन हाथ होनी चाहिये। (पिशाच) पीठ को गोपुर से बाहर प्रासाद की चौड़ाई के आधे भाग की दूरी पर निर्मित करना चाहिये। बलिविष्टर की गोपुर से दूरी उपर्युक्त माप के बराबर अथवा तीन चौथाई होनी चाहिये। पिशाचपीठ को पाँचों प्राकारों के बाहर एवं मन्दिर के सम्मुख होना चाहिये तथा बलिविष्टर को पिशाचपीठ एवं प्रासाद के मध्य में निर्मित करना चाहिये।।७४-७६।।

पीठोत्सेधे षोडशभागे भागेन जन्मं स्यात्।
जगती चतुरंशेन कुर्यात् कुमुदं त्रिभिर्भागैः॥७७॥

भागेनोपरि पट्टं कण्ठं कुर्यात् त्रिभागेन।
एकेनोपरि कम्पं द्व्यंशं स्याद्वाजनं चोर्ध्वे॥७८॥

पीठ की ऊँचाई को सोलह बराबर भागों में बाँटना चाहिये। एक भाग से जन्म, चार भाग से जगती, तीन भाग से कुमुद, उसके ऊपर एक भाग से पट्ट, तीन भाग से कण्ठ, ऊपर एक भाग से कम्प एवं उसके ऊपर दो भाग से वाजन होना चाहिये।

तदुपरि वाजनमेकं तद्व्यासार्धं त्रिपादमुपरिदलम्।
पद्मत्रिभागमूर्ध्वे कर्तव्या कर्णिका मध्ये॥७९॥

तस्यार्धं कमलोच्चं वार्धोच्चं कर्णिकायास्तु।
मध्ये भद्रयुतं वाभद्रं वा सोपपीठं वा॥८०॥

नानाधिष्ठानानामाकृतयो वा यथा तथाप्युक्ताः।
एवं पीठालङ्कृतमुदितं प्रवरैः पुरातनैर्मुनिभिः॥८१॥

उसके ऊपर एक भाग से वाजन एवं कमलपुष्प होना चाहिये। कमल का घेरा (पीठ के) व्यास का आधा या तीन चौथाई होना चाहिये। पद्म के ऊपर मध्य भाग में कर्णिका निर्मित करनी चाहिये, जिसका विस्तार पद्म का तीन चौथाई हो। पद्म की ऊँचाई उसकी चौड़ाई का आधा अथवा कर्णिका की ऊँचाई का आधा होना चाहिये। पीठ मध्य भाग में भद्रयुक्त, भद्ररहित या उपपीठ से युक्त हो सकता है। पीठ की आकृति अधिष्ठान के अनुसार या उससे पृथक् हो सकती है। इस प्रकार प्राचीन श्रेष्ठ मुनियों ने पीठ के अलङ्करणों का वर्णन किया है।।७९-८१।।

✵ ध्वजस्थानम् ✵

वृषभस्याग्रतः कुर्यात् प्रसादार्धप्रमाणतः ।
ध्वजस्थानं तदग्रे तु तन्नीत्वा त्रिशिखालयम् ॥८२॥
एते वृषादयः सर्वे चान्तर्वामे तु गोपुरात् ।

प्रासाद के आधे माप से वृषभ के अग्र भाग में ध्वजस्थान का निर्माण होना चाहिये एवं आगे त्रिशिखालय (त्रिशूल) होना चाहिये। ये सभी वृष आदि गोपुर के वाम भाग में (प्राकार के) भीतर होने चाहिये।।८२।।

✵ प्राकाराश्रितस्थानानि ✵

मर्यादिसालमाश्रित्य पावके हव्यकोष्ठकम् ॥८३॥
अग्निगोपुरयोर्मध्ये धनधान्यगृहं भवेत् ।
याम्ये मज्जनशाला स्यात्तत्रस्थं पुष्पमण्डपम् ॥८४॥

प्राकार के आश्रित स्थान—मर्यादि साल (प्राकार) से सटा कर आग्नेय कोण में हवि का प्रकोष्ठ होना चाहिये। अग्निकोण एवं गोपुर के मध्य में धन-धान्य का गृह होना चाहिये। यम के प्रकोष्ठ पर मज्जनशाला (स्नानमण्डप) एवं वहीं पुष्पमण्डप निर्मित होना चाहिये।।८३-८४।।

नैर्ऋतिस्थानमाश्रित्य कुर्यादायुधमण्डपम् ।
वरुणे वायुदेशे तु शयनस्थानमिष्यते ॥८५॥

निर्ऋति के स्थान पर अस्त्र-मण्डप एवं वरुण तथा वायु के स्थान पर शयनस्थान निर्मित करना चाहिये।।८५।।

सौम्यायां तु प्रकर्त्तव्यं धर्मश्रवणमण्डपम् ।
ईशे वापी च कूपं स्यादापवत्सपदाश्रितम् ॥८६॥
ईशगोपुरयोर्मध्ये वाद्यस्थानं प्रकीर्तितम् ।
आरादीशे विमानस्य स्थानं चण्डेश्वरस्य वा ॥८७॥
पूर्वोक्तस्थानदेशे वा कर्तव्यं भवनं बुधैः ।

सोम के पद पर धर्मश्रवण-मण्डप (जहाँ धर्मसभा, धर्मविषयक प्रवचन होते हों) होना चाहिये। ईश के पद पर एवं आपवत्स के पद पर वापी एवं कूप होना चाहिये। ईश एवं गोपुर के मध्य स्थल में वाद्यस्थान होना चाहिये। विमान के निकट ही ईश के पद पर चण्डेश्वर का स्थान होना चाहिये। अथवा पूर्ववर्णित स्थान पर बुद्धिमान को निर्माण करना चाहिये।।८६-८७।।

✵ शक्तिस्तम्भः ✵

शक्तिस्तम्भं पीठात्पुरतो विद्याद्विमानमानेन ॥८८॥

क्षुद्राणां द्विगुणोदयमल्पानां तत्समं विद्यात् ।
मध्यविमानानामपि तुङ्गार्धं वा त्रिपादोच्चम् ॥८९॥

उदयत्रिभागमुदितं वाऽर्धं वोत्कृष्टहर्म्याणाम् ।
हस्तं षोडशमात्रं द्वादशदशमात्रकं विपुलम् ॥९०॥

मण्डीकुम्भयुतं तत्फलकोऽर्ध्वे भूतमुक्षा वा ।
शैलं दारुमयं वा वृत्तं वाष्टास्त्रकं द्विरष्टास्त्रम् ॥९१॥

(विमान के) पीठ के सामने विमान के मान के अनुसार शक्तिस्तम्भ होना चाहिये। क्षुद्र (अत्यन्त छोटे) मन्दिर की ऊँचाई के दुगुने माप की शक्तिस्तम्भ की ऊँचाई होनी चाहिये। अल्प (छोटे) विमान का शक्तिस्तम्भ उसके बराबर माप का तथा मध्यम विमान में उसकी उँचाई का आधा या तीन चौथाई माप का शक्तिस्तम्भ होना चाहिये। उत्तम विमान में उसकी ऊँचाई के तीसरे या आधे भाग के बराबर शक्तिस्तम्भ की ऊँचाई होनी चाहिये। इसकी चौड़ाई एक हाथ, सोलह अङ्गुल या दश अङ्गुल होनी चाहिये। शक्तिस्तम्भ को मण्डि एवं कुम्भ से युक्त होना चाहिये एवं उसके ऊपर भूत या वृषभ की आकृति होनी चाहिये। यह भाग प्रस्तर या काष्ठ से निर्मित होना चाहिये तथा इसे वृत्ताकार, अष्टकोण या सोलह कोण का होना चाहिये।

✵ इतरस्थानानि ✵

वेशस्थानं वापी कूपारामौ च दीर्घिका चैव ।
सर्वत्र सम्मतं स्यान्मठभुक्तिनिकेतनं चापि ॥९२॥

अन्य स्थान—वेशस्थान (पुरोहित का आवास), वापी (बावड़ी), कूप, बगीचा एवं दीर्घिका (तालाब) सभी स्थानों में (कहीं भी) हो सकते हैं। इसी प्रकार मठ एवं भोजनशाला भी कहीं भी निर्मित हो सकते हैं।।९२।।

नान्तर्मण्डलमथ वा चान्तर्हारं तथैकसालं चेत् ।
अन्तर्हारा मध्यमहारा मर्यादाभित्तिश्च ॥९३॥

त्रिप्राकारेऽप्युदिताः पञ्चयुताः पञ्चसालाः स्युः ।
एषां प्रकाराणामुपरि वृषाः स्युः सपङ्क्तिकाः परितः ॥९४॥

यदि विमान में एक प्राकार हो तो वह अन्तर्मण्डल न होकर अन्तर्हार होता है। यदि तीन प्राकार हों तो वे अन्तर्हार, मध्यमहार एवं मर्यादाभित्ति होते हैं। यदि पाँच प्राकार हों (तो वे पूर्ववर्णित होते हैं)। इन प्राकारों के ऊपर चारो ओर पङ्क्ति में वृषभों की आकृतियाँ निर्मित होती हैं।।९३-९४।।

शक्तिस्तम्भात् पुरतस्त्रिचतुःपञ्चान्तरालयं नीत्वा ।
गणिकागृहमथ पार्श्वद्वये तु संवाहिकासहितम् ॥९५॥
प्राकारबहिः परितो वासं परिवारकाणां तु ।
दासीनामपि तद्वत् पुरतो वा वासमुद्दिष्टम् ॥९६॥
यमदिशि गुरुमठमुदितं पूर्वस्मिन् वाऽप्यवाग्वदनम् ।
शेषमनुक्तं सर्वं कुर्याद् राजोपचारेण ॥९७॥

शक्तिस्तम्भ से पूर्व प्रधान देवालय की चौड़ाई के तीन, चार या पाँच गुनी दूरी पर गणिकागृह एवं उसके दोनों पार्श्वों में संवाहिका-स्थान होना चाहिये। प्राकार के बाहर चारो ओर (मन्दिर के) सेवकों का आवास होना चाहिये। इसी प्रकार दासियों का आवास होना चाहिये अथवा पूर्व दिशा में सेवकादिकों का आवास होना चाहिये। गुरुमठ (प्रधान पुजारी का स्थान) दक्षिण दिशा में होना चाहिये अथवा पूर्व दिशा में होना चाहिये, जिसका मुख दक्षिण दिशा में हो। शेष के विषय में, जो नहीं कहा गया है, वह सब राजा के अनुसार करना चाहिये।।९५-९७।।

✵ विष्णुपरिवारकम् ✵

विष्णुधिष्ण्येऽहमद्यापि वक्ष्यामि परिवारकम् ।
प्रमुखे वैनतेयश्च वह्नौ गजमुखालयम् ॥९८॥
यमे पितामहः सप्तमातरः पितरीरिताः ।
गुह्ये जलेशे वायव्ये दुर्गा सोमे धनाधिपः ॥९९॥
सेनापतिरथैशाने पीठादीनां तु पूर्ववत् ।

विष्णु-देवालय के परिवार-देवता—अब मैं विष्णुभवन के परिवारदेवों के विषय में कहता हूँ। प्रमुख स्थान (पूर्व में) वैनतेय (गरुड़), अग्निकोण में गजमुख, दक्षिण में पितामह एवं पितृपद पर सप्त मातृकायें कही गई हैं। जलेश के पद पर गुह, वायव्य कोण में दुर्गा, सोम के पद पर धनाधिप कुबेर तथा ईशान कोण पर सेनापति का स्थान होना चाहिये। पीठ आदि की स्थिति पूर्ववर्णित नियमों के अनुसार होनी चाहिये।।९८-९९।।

प्राकारोऽप्येक एवं स्यादुच्यन्ते द्वादशाधुना ॥१००॥
विष्णोरभिमुखं चक्रं गरुडस्तत्प्रदक्षिणे ।
शङ्खो वामे बहिर्वक्त्राश्चैते सकलरूपिणः ॥१०१॥
सूर्याचन्द्रमसौ पार्श्वे गोपुरस्यान्तराननौ ।
वह्नौ पचनगेहं स्याच्छेषं पूर्ववदाचरेत् ॥१०२॥

(उपर्युक्त व्यवस्था) एक प्राकार होने पर इस प्रकार होनी चाहिये। अब बारह परिवारदेवों का वर्णन किया जा रहा है। विष्णु के सामने चक्र, उसके दाहिने गरुड एवं वाम भाग में शङ्ख होना चाहिये। ये सभी सकल (मूर्तिरूप में) हों एवं इनका मुख बाहर की ओर होना चाहिये। सूर्य एवं चन्द्रमा गोपुर के दोनों पार्श्वों में निर्मित हों एवं इनका मुख भीतर की ओर होना चाहिये। आग्नेय कोण में हविष को पकाने का स्थान होना चाहिये एवं शेष निर्माण पूर्ववर्णित नियम के अनुसार होना चाहिये।

मध्यान्तर्हारयोरेव परिवारास्तु षोडश ।
मण्डपस्याग्रतः कुर्यात्पक्षिराजं तु पीठकम् ॥१०३॥

लोकेशाः क्रमशः स्थाप्यास्तत्तदंशे शिवं विना ।
आदित्यश्च भृगुश्चैवमश्विनौ च सरस्वती ॥१०४॥

पद्मा च पृथिवी चैव मुनयः सचिवस्तथा ।
द्वारपालकमध्यादिष्वन्तराले तु कीर्तिताः ।
द्वात्रिंशत्परिवारांश्च युक्त्या तत्रैव योजयेत् ॥१०५॥

जहाँ सोलह परिवारदेवों की स्थापना करनी हो, वहाँ उनकी स्थापना मध्यहार एवं अन्तर्हार के बीच में करनी चाहिये। मण्डप के आगे पक्षिराज (गरुड) एवं पीठ होना चाहिये। शिव को छोड़कर सभी लोकपालों को उनके स्थानों पर स्थापित करना चाहिये। कोण एवं द्वारपालों के मध्य भाग में आदित्य, भृगु, दोनों अश्विनीकुमार, सरस्वती, पद्मा, पृथिवी, मुनिगण एवं सचिवदेवों को स्थापित करना चाहिये। यदि देवपरिवार की संख्या बत्तीस हो तो उन्हें वहीं उचित रीति से स्थापित करना चाहिये।

चण्डप्रचण्डरथनेमिसपाञ्चजन्य-
दुर्गागणेशरविचन्द्रमहानुभावाः ।
सर्वेश्वरः सुरपतिश्च तथा दशैते
प्राकारपञ्चमुखगोपुरकल्पनीयाः ॥१०६॥

चण्ड, प्रचण्ड, रथनेमि, पाञ्चजन्य, दुर्गा, गणेश, रवि तथा चन्द्र—इन सभी महान् देवों को तथा सर्वेश्वर एवं सुरपति—इन दस को पाँचों प्राकारों के गोपुर की ओर मुख किये हुये निर्मित करना चाहिये।।१०६।।

❋ वृषलक्षणम् ❋

वृषस्य लक्षणं सम्यक् संक्षिप्येह प्रवक्ष्यते ॥१०७॥

द्वारलिङ्गसमं श्रेष्ठं चतुरंशविहीनकम् ।
मध्यमं त्रिद्विभागोच्चं कन्यसं वृषभोदयम् ॥१०८॥

गर्भार्धं कन्यसं नालीगेहतुल्यं वरोदयम् ।
तदन्तरेऽष्टभागे तु नवमानमुदीरितम् ॥१०९॥

एकादिनवहस्तान्तं कनिष्ठादित्रयं त्रयम् ।
पञ्चाशदंशकं तुङ्गमेकांशमात्रमीरितम् ॥११०॥

वृषभ के लक्षण—वृष (की प्रतिमा) का लक्षण अब संक्षेप में वर्णित किया जा रहा है। श्रेष्ठ वृष की ऊँचाई द्वार के बराबर या लिङ्ग के बराबर होती है। मध्यम वृष उससे चार भाग कम एवं छोटा वृष तीन भाग में दो भाग के बराबर ऊँचा होता है। (अथवा) छोटे वृष की ऊँचाई गर्भगृह की ऊँचाई की आधी होती है एवं श्रेष्ठ वृष की ऊँचाई गर्भगृह के बराबर होती है। इन दो ऊँचाई के मध्य के अन्तर को आठ भागों में बाँटा गया है। इस प्रकार एक हाथ से लेकर नौ हाथ तक कनिष्ठ आदि तीन (उत्तर, मध्यम, कनिष्ठ ऊँचाई वाले) वृषों के तीन-तीन भेद बनते हैं। इसमें एक अंश (अङ्गुलप्रमाण) का माप मूर्ति की ऊँचाई के पन्द्रहवें भाग के बराबर कहा गया है।।१०७-११०।।

पञ्चाष्टाङ्गुलमायामं तन्मानमधुनोच्यते ।
मूर्ध्नस्तु गलपर्यन्तं दशमात्रं ततस्त्वधः ॥१११॥

ग्रीवोच्चमष्टमात्रं स्यादुरोऽन्तं षोडशाङ्गुलम् ।
ऊरुदैर्घ्यं च षण्मात्रं जानुमानं द्विमात्रकम् ॥११२॥

जङ्घादीर्घं षडङ्गुल्या खुरं कोलकमुच्यते ।
शृङ्गान्तरं द्विमात्रं स्याच्छृङ्गदैर्घ्यं द्विकोलकम् ॥११३॥

इसकी लम्बाई चालीस अङ्गुल होती है। इसके प्रमाण का वर्णन अब किया जा रहा है। शिर के ऊर्ध्व भाग से लेकर गले तक का माप दस अङ्गुल होता है। इसके पश्चात् उसके नीचे गले का माप आठ अङ्गुल तथा गले से ऊरू भाग के अन्त तक का माप सोलह अङ्गुल होता है। ऊरू की लम्बाई का प्रमाण छः अङ्गुल एवं जानु (घुटने) का माप दो अङ्गुल होता है। जङ्घा (घुटने के नीचे का भाग) की लम्बाई छः अङ्गुल एवं खुर की लम्बाई कोलक (दो अङ्गुल) होती है। दोनों सींगों के मध्य की दूरी दो अङ्गुल तथा सींग की लम्बाई दो कोलक (चार अङ्गुल) होनी चाहिये।

मूलव्यासं त्रिभागेन शृङ्गाग्रं तु द्विमात्रकम् ।
ललाटं नवमात्रं स्यान्मुखव्यासं शराङ्गुलम् ॥११४॥

उत्सेधं तत्समं नेत्रायामं द्व्यङ्गुलमीरितम् ।
सार्धाङ्गुलं तदुत्सेधं नेत्रमध्यान्मुखायतम् ॥११५॥

वसुमात्रं ततः पृष्ठं ग्रीवान्तं तु षडङ्गुलम्।
नेत्रमध्याल्ललाटोच्चं चतुर्मात्रं प्रकीर्तितम्॥११६॥

सींग के निचले भाग का व्यास तीन अङ्गुल से एवं ऊपरी सिरा दो अङ्गुल का होना चाहिये। वृष का ललाट नौ अङ्गुल का एवं मुख का व्यास पाँच अङ्गुल का होना चाहिये। मुख की ऊँचाई उसकी चौड़ाई के बराबर रखनी चाहिये। नेत्रों की लम्बाई दो अङ्गुल एवं उसकी ऊँचाई (चौड़ाई के) डेढ़ अङ्गुल होनी चाहिये। नेत्रों के मध्य में मुखभाग की लम्बाई आठ अङ्गुल होनी चाहिये। इसके पश्चात् पृष्ठभाग ग्रीवा के अन्त तक छः अङ्गुल होनी चाहिये। नेत्र के मध्य से ललाट की ऊँचाई चार अङ्गुल कही गई है।।११४-११६।।

नेत्रात्कर्णान्तरं तावत्कर्णायामं शराङ्गुलम्।
कर्णमूलं द्विमात्रं स्याद्भागं कर्णस्य मध्यमम्॥११७॥
अग्रमङ्गुलविस्तारं घनमर्धाङ्गुलं भवेत्।

नेत्र से कान की दूरी कान की लम्बाई के बराबर होनी चाहिये एवं कान की लम्बाई पाँच अङ्गुल होनी चाहिये। कानों को मूल में दो अङ्गुल चौड़ा, मध्य में दो अङ्गुल चौड़ा एवं ऊपरी भाग एक अङ्गुल चौड़ा होना चाहिये। इनकी मोटाई आधी अङ्गुल होनी चाहिये।।११७।।

घ्राणं सार्धाङ्गुलायाममङ्गुलं गाढविस्तृतम्॥११८॥
अङ्गुलं नासिकातुङ्गमास्यं पञ्चाङ्गुलायतम्।
उत्तरोष्ठं त्रिमात्रोच्चमधरोष्ठं द्विमात्रकम्॥११९॥

नाक की लम्बाई डेढ़ अङ्गुल, चौड़ाई एक अङ्गुल तथा ऊँचाई एक अङ्गुल होनी चाहिये। मुख की लम्बाई पाँच अङ्गुल, ऊपरी ओठ तीन अङ्गुल तथा निचला ओठ दो अङ्गुल होना चाहिये।।११८-११९।।

जिह्वायामविशालोच्चं त्रिद्व्येकाङ्गुलमीरितम्।
ग्रीवाव्यासं दशाङ्गुल्या मूलं द्वादशमात्रकम्॥१२०॥
मूलेऽग्रे च घनं पृष्ठे ग्रीवस्याष्टषडङ्गुलम्।
ककुत् षडङ्गुलव्यासमुत्सेधं तु तदर्धकम्॥१२१॥

जिह्वा की लम्बाई तीन अङ्गुल, चौड़ाई दो अङ्गुल एवं ऊँचाई (मोटाई) एक अङ्गुल होनी चाहिये। ग्रीवा का व्यास दश अङ्गुल एवं उसका निचला भाग बारह अङ्गुल होना चाहिये। पृष्ठ पर इसका मूल भाग आठ अङ्गुल एवं शीर्ष के नीचे छः अङ्गुल होना चाहिये। ककुत् (पीठ का उभरा भाग) का व्यास छः अङ्गुल एवं इसकी ऊँचाई चौड़ाई की आधी होनी चाहिये।।१२१।।

ग्रीवस्याग्रविशालं तु द्विमात्रं युक्ततो न्यसेत्।
ककुदस्तु शरीरोच्चं त्रिःषडङ्गुलमीरितम् ॥१२२॥
द्विःसप्तमात्रकं पृष्ठे व्यासं द्वादशमात्रकम्।
अपरोरुविशालं तु दशाष्टचतुरङ्गुलम् ॥१२३॥

ग्रीवा के अग्र भाग में ककुत् की चौड़ाई दो अङ्गुल होनी चाहिये। ककुत् तक शरीर की ऊँचाई अट्ठारह अङ्गुल एवं पीठ तक ऊँचाई चौदह अङ्गुल होनी चाहिये तथा व्यास बारह अङ्गुल होना चाहिये। पिछले ऊरुओं की चौड़ाई दश, आठ एवं चार अङ्गुल होनी चाहिये।।१२२-१२३।।

पञ्चागुलं तदायामं जानुदेशं द्विमात्रकम्।
जङ्घादैर्घ्यं शराङ्गुल्या त्र्यङ्गुलं स्याद्विशालकम् ॥१२४॥
सुरोत्सेधं त्रिमात्रं स्यात् पुच्छमूलं तथैव च।
सार्धाङ्गुलं तु पुच्छाग्रं जङ्घान्तं तस्य लम्बनम् ॥१२५॥

उनकी लम्बाई पाँच अङ्गुल एवं जानु (घुटना) दो अङ्गुल का होना चाहिये। जङ्घा (घुटने से नीचे का भाग) की लम्बाई पाँच अङ्गुल एवं चौड़ाई चार अङ्गुल होनी चाहिये। खुरों की ऊँचाई तीन अङ्गुल एवं इसी प्रकार पूँछ के मूल भाग का माप (तीन अङ्गुल) होना चाहिये। इसका अग्र भाग डेढ़ अङ्गुल होना चाहिये एवं जङ्घा के अन्त तक यह लटकती होनी चाहिये।।१२४-१२५।।

मुष्कायामविशालं तु त्रिद्विमात्रं यथाक्रमम्।
शेफायामं त्रिमात्रं स्यादुदरादङ्गुलं घनम् ॥१२६॥

मुष्क (अण्डकोश) की लम्बाई तीन अङ्गुल एवं चौड़ाई दो अङ्गुल होनी चाहिये तथा शेफ (लिङ्ग) की लम्बाई तीन अङ्गुल एवं पेट के पास इसकी मोटाई एक अङ्गुल होनी चाहिये।।१२६।।

ऊरुमूलविशालं तु चतुरङ्गुलमग्रतः।
जङ्घाग्रे तु द्विमात्रं स्याच्छेषं युक्तिवशान्नयेत् ॥१२७॥

ऊरूमूल की चौड़ाई चार अङ्गुल एवं आगे जङ्घा के अग्रभाग पर दो अङ्गुल प्रमाण का होना चाहिये। शेष को आवश्यकतानुसार निर्मित करना चाहिये। वृषभ की मूर्ति को खड़ी अथवा शयित (बैठी, फैली हुई) मुद्रा में, जो उचित लगे, निर्मित करनी चाहिये।।१२७।।

स्थितं वा शयितं वाऽपि यथायोग्यं तथाचरेत्।
सुधालोहैः परैर्द्रव्यैर्यथा योग्यं तथा चरेत् ॥१२८॥

घनं वाऽप्यघनं वाऽपि लोहजं युक्तितो नयेत्।
सकलस्य तु यन्मानं तन्मानं वृषभोदयम्॥१२९॥

यह प्रतिमा सुधा (चूना, गारा), लौह (धातु) या अन्य पदार्थों से, जो अनुकूल हों, निर्मित होनी चाहिये। प्रतिमा यदि धातुनिर्मित हो तो वह घन (ठोस, पूर्ण रूप से भरी हुई) या खोखली आवश्यकतानुसार हो सकती है। वृषभ की ऊँचाई शिव की मूर्ति की ऊँचाई के अनुसार हो सकती है।।१२८-१२९।।

किञ्चिन्न्यूनाधिकं कार्यं सर्वदोषसमुद्भवम्।
तस्मात् परिहरेद्विद्वान् सर्वलक्षणसंयुतम्॥१३०॥
द्वारलिङ्गसमं वृषभं वरं मध्यमं चतुरंशविहीनकम्।
द्वित्रिभागसमोदयमीरितं कन्यसं त्रिविधं मुनिभिर्वरैः॥१३१॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे प्राकारपरिवारविधानो
नाम त्रयोविंशोऽध्यायः

इसका कुछ कम या अधिक होना सभी प्रकार के दोषों को उत्पन्न करता है। अत: ज्ञाता शिल्पी को दोषों को त्यागते हुये सभी लक्षणों से युक्त वृषप्रतिमा का निर्माण करना चाहिये। श्रेष्ठ मुनियों के अनुसार वृषप्रतिमा की ऊँचाई तीन प्रकार की होनी चाहिये—१. शिव-लिङ्ग के द्वार के बराबर उत्तम प्रतिमा, २. उससे चार भाग कम मध्यम प्रतिमा तथा ३. तीन भाग में से दो भाग के बराबर कनिष्ठ प्रतिमा (इस प्रकार वृष की तीन ऊँचाई वाले प्रमाण की प्रतिमायें होती हैं)।।१३०-१३१।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

१. प्राकार-निर्माण का उद्देश्य (श्लोक १)

इसका शिल्परत्न (पूर्व. ४०) में इस प्रकार वर्णन किया गया है—

प्रासादसदनादीनां रक्षालङ्कारसिद्धये।
वप्राणि क्रमत: कुर्यात्पञ्चद्वित्र्येकसंख्यया।।१।।

मानसार (३१.१) में प्राकार-निर्मिति का उद्देश्य इस प्रकार है—

बल्यर्थं परिवारार्थं शोभार्थं रक्षणार्थकम्।

प्राकार-प्रकल्पन का वर्णन ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (क्रिया.-३५), मानसार (अ. ३१), शिल्परत्न (पूर्व. अ. ४०), तन्त्रसमुच्चय (अ. २) आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

२. पञ्च प्राकार (श्लोक ८-१०)

(क) शिल्परत्न (पूर्व. ४४ अ.) में पञ्च प्राकारों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

तत्रान्तर्मण्डलं त्वाद्यमन्तहारा द्वितीयकम्।
तृतीयं मध्यहारा स्याद् बाह्यहारा चतुर्थकम्।।२।।
मर्यादा पञ्चमं प्रोक्तं शालानां शिल्पवित्तमैः।

दण्डेऽर्धेऽन्तर्गतं मण्डलमवनिमितेऽर्धान्विते वान्तहारा
दोस्संख्ये मध्यहारा जलधिपरिमिते बाह्यहाराद्रिसंख्ये।
मर्यादा मूलधाम्नः प्रथमचरमवर्जं मुखायामयुक्ताः
प्राकाराः पञ्च कार्याः स्युरिह चरमसीमैकविंशेऽपि वा स्यात्।।

(ख) तन्त्रसमुच्चय (२.७३) में पञ्च प्राकार के सन्दर्भ में वही श्लोक प्राप्त होता है, जो शिल्परत्न में वर्णित है।

(ग) विष्णुसंहिता (१९.२४-२५) के अनुसार—

अन्तर्मण्डलदण्डार्धदण्डे स्यादन्तहारका।
मध्यहारा द्विदण्डा च चतुर्मयादभित्तिका।।
सप्तदण्डायता कार्या मर्यादाभित्तिका ततः।

३. उपर्युक्त पञ्च प्राकार प्रसिद्ध हैं। मयमत में (श्लोक २-५) वर्णित महापीठ, मण्डूक, भद्रमहानस, सुप्रतीकान्त तथा इन्द्रकान्त साल एवं पीठ, स्थण्डिल, उभयचण्डित, सुसंहित एवं ईशकान्त साल का वर्णन शिल्परत्न (पूर्व. ४० अ.) में इस प्रकार वर्णित है—

आद्यसालं महापीठं पदैः षोडशभिर्युतम्।।१२।।
मण्डूकाख्यं द्वितीयं स्यान्मध्यहारा महानसम्।
चतुर्थं सुप्रतीकान्तं पञ्चमं चेन्दुकान्तकम्।।१३।।
एवं युग्मपदैर्युक्तमयुग्मैरथ कथ्यते।
एवं मध्ये विमानं स्यादाद्यसालं तु पीठकम्।।१४।।
द्वितीयं स्थण्डिलं सालं मध्यं चोभयचण्डितम्।
चतुर्थं संहितं सालमीशकान्तं तु पञ्चमम्।।१५।।

४. परिवार-विधान (श्लोक ३६-३७)

परिवार-विधान शिल्परत्न (पूर्व. ४२ अ.) में इस प्रकार वर्णित है—

अष्टौ वा परिवाराः स्युर्द्वादशैव भवन्ति वा।
अथ षोडश वा कार्यास्तथा द्वात्रिंशदेव वा।।१।।

द्वात्रिंशत्परिवारास्तु जातिहर्म्ये विशेषतः।

५. परिवार-भेद

अष्ट परिवार (श्लोक ३९-४०), द्वादश परिवार (श्लोक ४०-४१), षोडश परिवार (श्लोक ४२-४४), बत्तीस परिवार (श्लोक-४५-५७) का उल्लेख शिल्परत्न (पूर्व. अ.-४२.३-७) में प्राप्त होता है।

६. **पीठलक्षण** (श्लोक ७४-७५)

पीठ का लक्षण शिल्परत्न (पूर्व. ४३ अ.) में इस प्रकार वर्णित है—

गोपुराद् बाह्यतः कुर्याद् बलिपीठं सलक्षणम्।
प्रासादार्धाद्बहिः कृत्वा षट्सप्तवसुदण्डकम्।।१।।

गर्भार्धं वाथ विस्तारं गर्भगेहसमं तु वा।।९।।

तत्पादोनं तु वा तारं बलिपीठेष्वथापि वा।
एकहस्तं द्विहस्तं वा त्रिहस्तं वा समाचरेत्।।१०।।

७. **प्राकाराश्रित स्थान** (श्लोक ८३-८७)

प्राकाराश्रित स्थानों का वर्णन शिल्परत्न (पूर्व. ४२ अ.) में इस प्रकार प्राप्त होता है—

अग्निगोपुरयोर्मध्ये धनधान्यगृहं भवेत्।।४२।।

याम्ये मज्जनशाला स्यात्तत्रस्थं पुष्पमण्डपम्।
नैर्ऋतं स्थानमाश्रित्य कुर्यादायुधमण्डपम्।।४३।।

वारुणे वायुदेशे वा शयनस्थानमीष्यते।
सौम्ये देशे प्रकर्तव्यं धर्मश्रवणमण्डपम्।।४४।।

ईशे वापिं च कूपं च कुर्यात्तत्रापवत्सके।
ईशगोपुरयोर्मध्ये वाद्यस्थानं प्रकीर्तितम्।।४५।।

आरादीशे विमानस्य कुर्यान्निर्माल्यधारिणम्।
कूपं चारामकं चैव दीर्घिका च सुरालये।।४६।।

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

(गोपुरविधानम्)

अधुना गोपुराणां तु लक्षणं वक्ष्यते क्रमात् ।
क्षुद्राल्पमध्यमुख्यानां हर्म्याणां स्वप्रमाणतः ॥१॥

गोपुर—अब मैं (मय ऋषि) बहुत छोटे-छोटे, मध्यम एवं उत्तम आकार के प्रमुख भवनों के अनुसार गोपुरों के लक्षण का वर्णन करता हूँ।।१।।

❋ पञ्चविधगोपुरमानम् ❋

मूलप्रासादविस्तारे सप्ताष्टनवभागिके ।
दशैकादशभागे तु तत्तदेकांशहीनकम् ॥२॥
द्वारशोभादिविस्तारं गोपुरान्तं यथाक्रमम् ।
क्षुद्राल्पयोः समुद्दिष्टं मध्यानां प्रविधीयते ॥३॥

पाँच प्रकार के गोपुरों का प्रमाण—द्वार-शोभा से प्रारम्भ करते हुये गोपुर तक द्वार का विस्तार इस क्रम से रखना चाहिये। प्रथम द्वार 'द्वारशोभा' का विस्तार प्रधान प्रासाद के विस्तार के सात भाग करने पर उससे एक भाग कम अर्थात् छठवें भाग के बराबर रखना चाहिये। (दूसरे द्वार) का विस्तार मूल प्रासाद के आठ भाग करने पर उससे एक भाग कम (सात भाग); (तीसरे द्वार) का विस्तार मूल भवन के विस्तार के नौ भाग करने पर उससे एक भाग कम (आठ भाग), (चौथे द्वार) का विस्तार मूल प्रासाद के दस भाग करने पर उससे एक भाग कम (नौ भाग) तथा (पाँचवें द्वार—गोपुर) का विस्तार मूल प्रासाद के ग्यारह भाग करने पर उससे एक भाग कम (दस भाग) रखना चाहिये। ये प्रमाण क्षुद्र एवं अल्प प्रासादों के गोपुरों के होते हैं। मध्यम प्रासादों के गोपुरों का मान इस प्रकार विहित है—।।२-३।।

मूलधाम्नस्तु विस्तारे चतुष्पञ्चषडंशके ।
सप्ताष्टांशे च भागोनं गोपुरान्तं यथाक्रमम् ॥४॥
द्वारशोभादिविस्तारं पञ्चधा परिकीर्तितम् ।

(मध्यम आकार के देवालयों में) द्वारशोभा से गोपुर तक पाँच द्वारों के क्रमशः मान इस प्रकार हैं—मूल प्रासाद की चौड़ाई के चार भाग करने पर तीसरे भाग के

बराबर, पाँच भाग करने पर चौथे भाग के बराबर, छः भाग करने पर पाँचवें भाग के बराबर, सात भाग करने पर छठवें भाग के बराबर एवं आठ भाग करने पर सातवें भाग के बराबर विस्तार रखना चाहिये।।४।।

त्रिभागैकांशमध्यं च द्विभागं स्यात्त्रिभागिके ।।५।।

चतुर्भागे त्रिभागं तु पञ्चांशे चतुरंशकम् ।
द्वारशोभादिविस्तारं गोपुरान्तं क्रमेण तु ।।६।।

उत्तमानामिदं प्रोक्तं हस्तैरप्यथ वक्ष्यते ।

द्वारशोभा से लेकर गोपुरपर्यन्त विस्तार उत्तम (बड़े) प्रासादों में विस्तारमान इस प्रकार क्रमशः रक्खा जाता है। (प्रधान प्रासाद के विस्तार के) तीन भाग में से एक भाग, डेढ़ भाग, दो भाग, चार भाग में तीन भाग या पाँच में से चार भाग के बराबर रखना चाहिये। अब विस्तार को हस्त-माप में वर्णित किया जा रहा है।।५-६।।

द्विहस्तादि द्विरष्टान्तमेकारत्निविवर्धनात् ।।७।।

एकैकं त्रिविधा मानं द्वारशोभादिपञ्चसु ।
त्रिहस्तादेकत्रिंशान्तं द्विद्विहस्तविवर्धनात् ।।८।।

प्रोक्तं त्रिः पञ्चधा मानं द्वारशोभादिपञ्चके ।
नवहस्तं समारभ्य द्विद्विहस्तविवर्धनात् ।।९।।

सप्तत्रिंशत्करं यावत् पञ्चपङ्क्तिप्रमाणकम् ।
शोभादिगोपुराणां च विस्तारं परिकीर्तितम् ।।१०।।

(यदि प्रमुख देवालय छोटा हो तो) द्वारशोभा आदि द्वारों का प्रमाण दो हाथ-माप से प्रारम्भ कर उसे एक-एक हाथ बढ़ाते हुये सोलह हाथ तक रखना चाहिये। (मध्यम आकार के देवालय में) द्वारशोभा आदि पाँच द्वारों में से एक-एक के तीन प्रकार के मान होते हैं। प्रथम द्वार द्वारशोभा से तीन हाथ मान से प्रारम्भ करते हुये दो-दो हाथ बढ़ाते हुये इकतीस हाथ तक ले जाना चाहिये। (प्रमुख देवालय के उत्तम आकार के होने पर) नौ हाथ से प्रारम्भ करते हुये सैंतीस हाथ तक दो-दो हाथ बढ़ाते हुये कुल पन्द्रह प्रकार के प्रमाण प्राप्त होते हैं। ये विस्तार-प्रमाण पाँचों द्वारों में द्वार-शोभा से प्रारम्भ होकर गोपुर-पर्यन्त रक्खे जाते हैं।।७-१०।।

❋ पञ्चविधगोपुरम् ❋

द्वारशोभा द्वारशाला द्वारप्रासादहर्म्यके ।
गोपुरेण तु पञ्चैते द्वारशोभादिपञ्चसु ।।११।।

पाँच प्रकार के गोपुर—द्वारशोभा, द्वारशाला, द्वारप्रासाद, द्वारहर्म्य एवं गोपुर—ये पाँच द्वारों के क्रमशः नाम कहे गये हैं। प्रथम द्वार की संज्ञा 'द्वारशोभा' कही गई है।।११।।

अथवा हस्तमानेन विस्तारं परिगृह्यताम् ।
त्रिपञ्चसप्तनन्दैकादशारत्नैर्विवर्धनात् ॥१२॥
पञ्चमानं द्विरत्निभ्यां पञ्चस्वेकस्य सम्मतम् ।
पञ्चसप्तत्रिरुद्रयेकादशत्रयोदशमानतः ॥१३॥
प्रथमावरणे द्वारशोभाव्यासस्तु पञ्चधा ।
त्रिपञ्चाद्यात्रयोविंशद् द्वारशालाविशालता ॥१४॥
पञ्चपञ्चकराद् यावत् त्रयस्त्रिंशत्करान्तकम् ।
द्वारप्रासादविस्तारं पञ्चधा परिकीर्तितम् ॥१५॥
पञ्चत्रिंशत्कराद् यावत् त्रिचत्वारिंशदन्तकम् ।
द्वारहर्म्यस्य विस्तारं पञ्चभेदमथोच्यते ॥१६॥
नवपञ्चकराद् यावत् त्रिपञ्चाशत्करान्तकम् ।
पञ्चधा विपुलं प्रोक्तं गोपुरस्य मुनीश्वरैः ॥१७॥

इनके विस्तार का मान हस्तप्रमाण से ग्रहण करना चाहिये। इसके सम्भावित विस्तार-मान पाँच हैं। द्वार का विस्तार तीन, पाँच, सात, नौ या ग्यारह हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये (प्रथम द्वार से अन्तिम द्वार तक) ले जाना चाहिये। इस प्रकार द्वारशोभा संज्ञक प्रथम द्वार का मान पाँच, सात, नौ, ग्यारह या तेरह हाथ होने पर 'द्वारशाला' संज्ञक द्वार का मान पन्द्रह से लेकर तेईस हाथ-पर्यन्त होता है। 'द्वार-प्रासाद' संज्ञक द्वार का मान पाँच प्रकार का होता है, जो पच्चीस हाथ से प्रारम्भ कर तैंतीस हाथ तक जाता है। 'द्वारहर्म्य' संज्ञक द्वार का मान पैंतीस हाथ से प्रारम्भ कर तैंतालीस हाथ-पर्यन्त पाँच प्रकार का होता है। अन्तिम 'गोपुर' संज्ञक द्वार का मान पैंतालीस हाथ से प्रारम्भ कर तिरेपन हाथ-पर्यन्त पाँच प्रकार का होता है।।१२-१७।।

चक्रवर्तिमहाराजवेश्मन्यप्येवमूह्यताम् ।
सार्धं त्रिपादं द्विगुणं त्र्यंशैकद्व्यंशमायतम् ॥१८॥
शोभादीनां तु पञ्चानां द्वाराणामुदितं ततः ।
तेषामेवं क्रमाद् व्यासादुत्सेधं पृथगुच्यते ॥१९॥

उक्त प्रकार से ही चक्रवर्ती एवं महाराज राजाओं के भवनों में भी द्वार का निर्माण

करना चाहिये। द्वारशोभा आदि पाँच द्वारों की चौड़ाई उनके लम्बाई की डेढ़ गुनी, पौने दो गुनी, दुगुनी अथवा पौने तीन गुनी निर्धारित करनी चाहिये। चौड़ाई के क्रम से ही अब उनकी ऊँचाई का वर्णन किया जा रहा है।।१८-१९।।

सप्तांशे च दशांशं च चतुरंशे षडंशकम्।
सप्तभागं चतुर्भागे त्रित्रिभागं तु पञ्चके ॥२०॥

द्विगुणं तु यथासंख्यं द्वारायतनतुङ्गता।
गोपुरस्य तु विस्तारत्रिभागादेकभागिकम् ॥२१॥

चतुर्भागैकभागं च पञ्चभागद्विभागिकम्।
निर्गमं गोपुराणां तु प्राकाराद्भित्तिबाह्यतः ॥२२॥

द्वारों की चौड़ाई के सात भाग में दशवाँ भाग, चार भाग में छठा भाग, चार भाग में सातवाँ भाग तथा पाँच भाग में नवाँ भाग एवं दुगुना मान ऊँचाई के लिये क्रमशः ग्रहण करना चाहिये। गोपुर के द्वारायतन (द्वार पर निर्मित भवन) की ऊँचाई के ये मान कहे गये हैं। प्राकारभित्ति की चौड़ाई का तीसरा भाग, एक चौथाई अथवा पाँच भाग में से दो भाग के बराबर गोपुरों का निर्गम (बाहर की ओर निकला हुआ निर्माण-विशेष) निर्मित करना चाहिये।।२०-२२।।

✵ द्वारमानम् ✵

मूलं सार्धं तु पादोनद्विहस्तं तु द्विहस्तकम्।
तत्तत्षडङ्गुलैर्नन्दमात्रैर्द्वादशमात्रकैः ॥२३॥

वृद्ध्या पञ्चकरान्तं तु सप्तान्तं तु नवान्तकम्।
द्वारं त्रिःपञ्चधामानमेकैकं तु पृथक् पृथक् ॥२४॥

क्षुद्रे मध्ये वरे द्वारविस्ताराः परिकीर्तिताः।
तत्तद्वैपुल्यवशतस्तत्तदुत्सेधमुच्यते ॥२५॥

द्वार-प्रमाण—क्षुद्र (छोटे), मध्यम एवं श्रेष्ठ (बड़े) द्वारों का विस्तार-प्रमाण इस प्रकार होता है। क्षुद्र द्वार की चौड़ाई डेढ़ से प्रारम्भ कर पाँच हाथ तक छः-छः अंगुल बढ़ाते हुये ले जाना चाहिये। मध्यम द्वार की चौड़ाई दो हाथ से प्रारम्भ करते हुये सात हाथ तक नौ-नौ अंगुल बढ़ाते हुये ले जाना चाहिये। बड़े द्वार की चौड़ाई दो हाथ से प्रारम्भ करते हुये नौ हाथ तक बारह अंगुल क्रमशः बढ़ाते हुये ले जाना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक द्वार के पन्द्रह प्रमाण पृथक्-पृथक् प्राप्त होते हैं। विस्तार के अनुसार उनकी ऊँचाई अग्र वर्णित प्रकार से प्राप्त होती है।।२३-२५।।

पञ्चांशेभ्यश्च सप्तांशं सप्तांशेभ्यो दशांशकम्।
द्विगुणार्धाधिकं पादाधिकं पञ्चोच्छ्रयाः स्मृताः ॥२६॥

उनकी ऊँचाई क्रमशः उनकी चौड़ाई के पाँच भाग से सात भाग, सात भाग से दस भाग, दुगुनी, ढाई गुनी एवं सवा दोगुनी होनी चाहिये। ये पाँच ऊँचाई के प्रमाण कहे गये हैं।।२६।।

अधिष्ठानादिमानम्

मूलवस्तु निरीक्ष्यैव पादाधिष्ठानतुङ्गता।
चतुष्पञ्चर्तुसप्ताष्टनन्दपङ्क्तीशभानुषु ॥२७॥
भागेष्वेकैकभागोनं स्वाधिष्ठानान्ततुङ्गकम्।
शेषं तदुपपीठं स्यात् पादबन्धं मसूरकम् ॥२८॥

अधिष्ठान आदि के प्रमाण—प्रधान भवन को देखकर ही गोपुर के पाद (स्तम्भ) एवं अधिष्ठान की ऊँचाई रखनी चाहिये। अधिष्ठान की ऊँचाई प्रधान भवन के चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह एवं बारह भागों से एक-एक भाग कम रखना चाहिये। शेष भाग से उपपीठ का निर्माण करना चाहिये। यह पादबन्ध मसूरक (अधिष्ठान) होता है।।२७-२८।।

प्रासादस्तम्भमानं वा वसुभागोनमेव वा।
नन्दपङ्क्त्यंशहीनं वा गोपुरस्तम्भतुङ्गकम् ॥२९॥
छेदयेत्तदधिष्ठानं होमान्तं खातपादकम्।
उत्तरान्तं समुत्सेधं तदर्धं द्वारविस्तृतम् ॥३०॥
प्रवेशदक्षिणे गर्भमारूढे भित्तिके भवेत्।

प्रासाद के स्तम्भ का प्रमाण भी इसी प्रकार रखना चाहिये। अथवा गोपुर-स्तम्भ की ऊँचाई आठ, नौ या दस भाग में एक-एक भाग कम रखनी चाहिये। (स्तम्भ के लिये) अधिष्ठान में होमान्त तक खातपादक (स्तम्भ के लिये गड्ढा) निर्मित करना चाहिये। इसकी (द्वार की) ऊँचाई उत्तर (भित्ति का भागविशेष) तक रखनी चाहिये एवं द्वार का विस्तार इसका आधा होना चाहिये। प्रवेश के दक्षिण में भित्ति के नीचे गर्भन्यास (शिलान्यास) करना चाहिये।।२९-३०।।

✹ गोपुरभेदाः ✹

श्रीकरं रतिकान्तं च कान्तविजयमेव च ॥३१॥
विजयविशालकं चैव विशालालयमेव च।
विप्रतीकान्तं श्रीकान्तं श्रीकेशं च तथा पुनः ॥३२॥
केशविशालकं स्वस्तिकं दिशास्वस्तिकमेव च।
मर्दलं मात्रकाण्डं च श्रीविशालं चतुर्मुखम् ॥३३॥

एते पञ्चदश प्रोक्ता गोपुरस्याभिधानकाः ।

गोपुर के प्रकार—पन्द्रह प्रकार के गोपुरों के नाम इस प्रकार हैं—श्रीकर, रतिकान्त, कान्तविजय, विजयविशालक, विशालालय, विप्रतीकान्त, श्रीकान्त, श्रीकेश, केशविशालक, स्वस्तिक, दिशास्वस्तिक, मर्दल, मात्रकाण्ड, श्रीविशाल एवं चतुर्मुख।।३१-३३।।

एकादिपञ्चभूम्यन्तं शोभाद्यल्पप्रमाणकम् ॥३४॥

द्वितलादि षट्तलान्तं मध्यमक्रममुच्यते ।
त्रितलात् सप्ततलपर्यन्तं चोत्तममुच्यते ॥३५॥

सोपपीठमधिष्ठानं पादोच्चमुत्तरान्तकम् ।
शेषं तत्स्थूपिपर्यन्तं भागमानं विधीयते ॥३६॥

छोटे मन्दिरों में पाँच गोपुर द्वारशोभा से प्रारम्भ कर एक से पाँच तल तक क्रमशः होना चाहिये। मध्यम मन्दिरों में दो से छः तल तक एवं बड़े मन्दिरों में तीन से सात तल तक होने चाहिये।।३४-३५।।

✺ एकतलगोपुरम् ✺

स्थूप्यन्तमुत्तरान्तं च षड्भागं विभजेत्समम् ।
सपादभागमञ्चोच्चं कन्धरोच्चं तदंशकम् ।
सत्रिपादद्विभागं तु शिरःशेषं शिखोदयम् ॥३७॥

एवमेकतलं प्रोक्तं द्वितले भागमुच्यते ।

एक तल का गोपुर—एक तल के गोपुर की ऊँचाई उत्तरान्त से स्थूपी (स्तूपिका) तक छः बराबर भागों में बाँटनी चाहिये। सवा भाग मञ्च की ऊँचाई, एक भाग कन्धर, तीन चौथाई सहित दो भाग से शिरोभाग एवं शेष से शिखोदय का निर्माण करना चाहिये। इस प्रकार एक तल गोपुर का वर्णन किया गया। अब दो तल गोपुर के भागों का वर्णन किया जा रहा है।।३६-३७।।

✺ द्वितलगोपुरम् ✺

उत्तरादिशिखान्तं यन्नवधा विभजेत् समम् ॥३८॥

सपादभागमञ्चोच्चं द्व्यंशार्धं चरणायतम् ।
भागैकं प्रस्तरोत्सेधमेकांशं कन्धरोदयम् ॥३९॥

सार्धद्व्यंशं शिरस्तुङ्गं शेषभागशिखोदयम् ।
एवं द्वितलमाख्यातं त्रितले भागमुच्यते ॥४०॥

दो तल का गोपुर—(द्वितल गोपुर में प्रथम तल के) उत्तर से प्रारम्भ करते हुए शिखा (शिरोभाग) तक नौ बराबर भागों में बाँटना चाहिये। (प्रथम तल के) मञ्च की ऊँचाई सवा भाग, ढाई भाग चरण (अर्थात् द्वितीय तल का भाग), एक भाग से प्रस्तर की ऊँचाई, एक भाग कन्धर, ढाई भाग शिरोभाग की ऊँचाई एवं शेष भाग से शिखा (शीर्षभाग) का उदय निर्मित करना चाहिये। इस प्रकार द्वितल का वर्णन किया गया। अब त्रितल गोपुर के भागों का वर्णन किया जा रहा है।।३८-४०।।

✵ त्रितलगोपुरम् ✵

स्थूप्यन्तमुत्तरान्तं च कृत्वोच्चं द्वादशांशकम्।
सपादांशं कपोतोच्चं द्व्यंशार्धं चरणायतम् ।।४१।।

भागैकं प्रस्तरोत्सेधं द्विभागं पाददैर्घ्यकम्।
त्रिपादं तत्कपोतोच्चमंशं ग्रीवोदयं भवेत् ।।४२।।

सार्धद्व्यंशं शिरस्तस्माच्छेषं स्थूप्युच्छ्रयं भवेत्।
एवं त्रितलमाख्यातं चतुर्भौममथोच्यते ।।४३।।

तीन तल का गोपुर—(त्रितल गोपुर में) स्थूपी से लेकर उत्तरपर्यन्त ऊँचाई को बारह बराबर भागों में बाँटना चाहिये। डेढ़ भाग से कपोत की ऊँचाई, ढाई भाग से चरण (द्वितीय तल की ऊँचाई), एक भाग से प्रस्तर, दो भाग से पाद (तृतीय तल की ऊँचाई), पौने एक भाग से कपोत, एक भाग से ग्रीवा, ढाई भाग से शिर एवं शेष भाग से स्थूपी (स्तूपिका) की ऊँचाई रखनी चाहिये। इस प्रकार त्रितल गोपुर का वर्णन किया गया। अब चतुस्तल गोपुर का वर्णन किया जा रहा है।।४१-४३।।

✵ चतुस्तलगोपुरम् ✵

उत्तरादिशिखान्तं यन्मानमष्टादशांशकम्।
सत्रिपादांशकं मञ्चं त्रिभागं तलिपायतम् ।।४४।।

सार्धांशं प्रस्तरोच्चं स्याद् द्व्यंशं सार्धं पदोदयम्।
सपादभागं मञ्चोच्चं द्व्यंशं स्यात् स्तम्भदैर्घ्यकम् ।।४५।।

मञ्चमंशं गलं भागं त्रिभागं शिखरोदयम्।
शेषभागं शिखामानं पञ्चभौममथोच्यते।

चार तल का गोपुर—(चार तल के गोपुर में) उत्तर से शिखा तक के प्रमाण को अट्ठारह भागों में बाँटा जाता है। पौने दो भाग से मञ्च, तीन भाग से तलिप (द्वितीय तल), डेढ़ भाग से प्रस्तर की ऊँचाई, ढाई भाग से पद (तृतीय तल), सवा एक भाग से मञ्च की ऊँचाई, दो भाग से स्तम्भ की ऊँचाई (चतुर्थ तल), एक भाग से

मञ्च, एक भाग से गल, तीन भाग से शिखर एवं शेष भाग से शिखा का प्रमाण रखना चाहिये। अब पाँच तल के गोपुर का वर्णन किया जा रहा है।।४४-४५।।

❋ पञ्चतलगोपुरम् ❋

स्थूप्यन्तमुत्तरान्तं च त्रयोविंशतिभागिकम् ॥४६॥
द्विभागं प्रस्तरोच्चं स्यात्त्र्यंशार्धं चरणायतम्।
पादोन द्व्यंशकं मञ्चं पादायामं त्रियंशकम् ॥४७॥
सार्धांशमूर्ध्वमञ्चोच्चं द्व्यंशार्धं पाददैर्घ्यकम्।
सपादांशं कपोतोच्चं द्व्यंशं स्यात्तलिपायतम् ॥४८॥
प्रस्तरोच्चं तु भागेन कन्धरं भागमिष्यते।
द्व्यंशार्धं शिखरोत्सेधं शेषं स्थूप्युच्छ्रयं भवेत् ॥४९॥

पाँच तल का गोपुर—(पाँच तल के गोपुर के मान को) स्थूपी से उत्तर पर्यन्तप्रमाण को तेईस भागों में बाँटना चाहिये। दो भाग से प्रस्तर की ऊँचाई, साढ़े तीन भाग से चरण (दूसरा तल), पौने दो भाग से मञ्च, तीन भाग से पाद (तीसरा तल), डेढ़ भाग से मञ्च, ढाई भाग से पाद (चतुर्थ तल), सवा एक भाग से कपोत, दो भाग से तलिप (पाँचवाँ तल), एक भाग से प्रस्तर, एक भाग से कन्धर, ढाई भाग से शिखर एवं शेष भाग से स्थूपी की ऊँचाई रखनी चाहिये।।४६-४९।।

❋ षट्तलगोपुरम् ❋

उत्तरादिशिखान्तं स्यादेकोनत्रिंशदंशकम्।
द्विभागं प्रस्तरोत्सेधं पादोच्चं चतुरंशकैः ॥५०॥
पादोनद्व्यंशकं मञ्चं त्र्यंशार्धं पाददैर्घ्यकम्।
सत्रिपादांशकं मञ्चं त्रिभागं तलिपायतम् ॥५१॥
सार्धांशं प्रस्तरोत्सेधं द्व्यंशार्धं पाददैर्घ्यकम्।
सपादांशं कपोतोच्चमूर्ध्वभागं द्विभागतः ॥५२॥
प्रस्तरोच्चं तु भागेन कन्धरं तत्समं भवेत्।
सार्धद्व्यंशं शिरस्तस्माच्छेषभागं शिखोदयम् ॥५३॥
एवं तु षट्तलं प्रोक्तं सप्तभौममथोच्यते।

छः तल का गोपुर—(छः तल के गोपुर में) उत्तर से शिखापर्यन्त प्रमाण को उन्तीस भागों में बाँटना चाहिये। दो भाग से प्रस्तर की ऊँचाई, चार भाग से पाद (द्वितीय तल), पौने दो भाग से मञ्च, साढ़े तीन भाग से पाद (तीसरा तल), पौने

दो भाग से मञ्च, तीन भाग से तलिप (चतुर्थ तल), डेढ़ भाग से प्रस्तर, ढाई भाग से पाद (पाँचवाँ तल), सवा एक भाग से कपोत, दो भाग से ऊर्ध्व भाग (ऊपरी तल, छठवाँ तल), एक भाग से प्रस्तर, एक भाग से कन्धर, ढाई भाग से शिरोभाग एवं शेष भाग से शिखाभाग की ऊँचाई रखनी चाहिये। इस प्रकार छः तल गोपुर का वर्णन किया गया। अब सात तल के गोपुर का वर्णन किया जा रहा है।।५०-५३।।

*** सप्ततलगोपुरम् ***

उत्तरादिशिखान्तं यन्मानं षट्त्रिंशदंशकम् ।।५४।।

मञ्चं साङ्घ्रिद्वयं सार्धवेदांशं पाददैर्घ्यकम् ।
द्विभागं प्रस्तरोत्सेधं पादोच्चं चतुरंशकम् ।।५५।।

सत्रिपादांशकं मञ्चं त्र्यंशार्धं चरणायतम् ।
पादोनद्व्यंशमञ्चोच्चं त्रिभागं पाददैर्घ्यकम् ।।५६।।

सार्धांशं प्रस्तरोच्चं तु द्व्यंशार्धं तलिपायतम् ।
सपादभागमञ्चोच्चमूर्ध्वपादं द्विभागिकम् ।।५७।।

कपोतोच्चं तु भागेन तत्समं कन्धरोदयम् ।
सत्रिपादाश्विनीभागं शिरःशेषं शिखोदयम् ।।५८।।

एवं भागानि कर्तव्यान्युर्वीसंख्याक्रमेण तु ।

सात तल का गोपुर—(सात तल के गोपुर के) उत्तर से प्रारम्भ कर शिखा-पर्यन्त प्रमाण को छत्तीस भागों में बाँटना चाहिये। सवा दो भाग से मञ्च, साढ़े चार भाग से पाद (द्वितीय तल), दो भाग से प्रस्तर, चार भाग से पाद (तृतीय तल), पौने दो भाग से मञ्च, साढ़े तीन भाग से चरण (चतुर्थ तल), पौने दो भाग से मञ्च, तीन भाग से पाद (पाँचवाँ तल), डेढ़ भाग से प्रस्तर, ढाई भाग से तलिप (छठवाँ तल), सवा एक भाग से मञ्च, दो भाग से ऊर्ध्व पाद (सातवाँ तल, ऊपरी तल), एक भाग से कपोत, एक भाग से कन्धर, पौने तीन भाग से शिरोभाग एवं शेष भाग से शिखा की ऊँचाई रखनी चाहिये। इस प्रकार इस क्रम से गोपुरों का भाग निर्धारित करना चाहिये।।५४-५८।।

*** गोपुरविस्तारमानम् ***

विस्तारे पञ्चभागे तु नालीगेहं त्रियंशकम् ।।५९।।
शेषं तु भित्तिविष्कम्भमेकभूमेर्विधीयते ।

गोपुर के विस्तार का प्रमाण—एक तल वाले गोपुर की चौड़ाई के पाँच भाग

करने चाहिये। तीन भाग से नालीगेह (मध्य का स्थान) एवं शेष भाग से भित्तिविष्कम्भ (भित्ति की मोटाई) निर्मित करनी चाहिये।।५९।।

विस्तारे सप्तभागं स्याद्गर्भगेहं युगांशकम् ।।६०।।
शेषं तु भित्तिविष्कम्भमेकांशं कूटविस्तृतम् ।
कोष्ठकं त्र्यंशकं तारे पञ्चांशं स्यात्तदायते ।।६१।।
कूटकोष्ठकयोर्मध्ये पञ्जरादिविभूषितम् ।
एवं द्वितलमुद्दिष्टं त्रितलस्य विधीयते ।।६२।।

(यदि दो तलों का गोपुर हो तो) चौड़ाई के सात भाग करने चाहिये। चार भाग से गर्भगृह (मध्य भाग) एवं शेष भाग से भित्तिविष्कम्भ (भित्ति की चौड़ाई) रखनी चाहिये। एक भाग से कूट का विस्तार रखना चाहिये। कोष्ठक का विस्तार तीन भाग से एवं लम्बाई पाँच भाग से निर्मित करनी चाहिये। कूट एवं कोष्ठ के मध्य भाग को पञ्जर आदि से अलंकृत करना चाहिये। इस प्रकार द्वितल गोपुर का वर्णन किया गया है। अब त्रितल गोपुर का वर्णन किया जा रहा है।।६०-६२।।

विस्तारे नवभागे तु नालीगेहं त्रियंशकम् ।
गृहपिण्ड्यलिन्द्रहारा भागेन परिकल्पयेत् ।।६३।।
कूटकोष्ठादिसर्वाङ्गं पूर्ववत् परिकल्पयेत् ।
शेषं तु भित्तिविष्कम्भमेकांशं कूटविस्तृतम् ।।६४।।

(त्रितल गोपुर में) चौड़ाई के नौ भाग करने चाहिये। तीन भाग से नालीगेह (मध्य भाग), एक भाग से गृहपिण्डी (अन्त:भित्ति) एवं एक भाग से अलिन्दहारा (बाह्य भित्ति) निर्मित करनी चाहिये। कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अंगों को पहले के समान निर्मित करना चाहिये। शेष भाग से भित्ति-विष्कम्भ एवं एक भाग से कूट का विस्तार रखना चाहिये।।६३-६४।।

शालायामं त्रिभागं स्यादेकांशं लम्बपञ्जरम् ।
हाराभागमथार्धं स्यादायामे कोष्ठकायतम् ।।६५।।
पञ्चांशं वा षडंशं वाप्यूर्ध्वे सप्तांशविस्तृतम् ।

शाला (मध्य कोष्ठ) की लम्बाई तीन भाग एवं लम्ब-पञ्जर (मध्य में लटकता हुआ कोष्ठ) एक भाग, आधे भाग से हाराभाग निर्मित होना चाहिये। कोष्ठ की लम्बाई पाँच या छ: भाग होनी चाहिये एवं ऊर्ध्व भाग में चौड़ाई सात भाग होनी चाहिये।।६५।।

कूटमंशं द्विभागेन शालायामं द्विभागिकम् ।।६६।।

हारायां क्षुद्रनीडं तदर्धभागमिति स्मृतम् ।
शालायामं तु पञ्चांशमायामे प्रविधीयते ॥६७॥
एवं त्रितलमाख्यातं शेषमूह्यं विचक्षणैः ।

कूट की चौड़ाई एक भाग से, शाला (मध्य कोष्ठ) की चौड़ाई एवं लम्बाई दोनों दो भाग से, हारा (मध्य निर्मिति) दो भाग से एवं क्षुद्रनीड (छोटी सजावटी खिड़कियाँ) आधे भाग से निर्मित करनी चाहिये। शाला की लम्बाई को पाँच भाग से निर्मित करना चाहिये। इस प्रकार त्रितल गोपुर का वर्णन किया गया है। शेष भागों का निर्माण विद्वान् लोगों को अपने विचार के अनुसार करना चाहिये।।६६-६७।।

तारे पङ्क्त्यंशके नालीगेहं तत्त्रिभिरंशकैः ॥६८॥
सार्धांशं भित्तिविष्कम्भमेकभागमलिन्द्रकम् ।
एकांशं खण्डहर्म्यं स्यात्कूटकोष्ठादि पूर्ववत् ॥६९॥
मुखेऽमुखे महाशाला पञ्चांशं च षडंशकम् ।
सर्वावयवसंयुक्तं चतुर्भौममिदं वरम् ॥७०॥

(चार तलों वाले गोपुर में) चौड़ाई के दस भाग करने चाहिये। तीन भाग से नालीगेह (मध्य भाग), डेढ़ भाग से भित्ति-विष्कम्भ (भीतरी भित्ति की मोटाई) एक भाग से अलिन्द एवं एक भाग से खण्डहर्म्य (बाह्य भित्ति से सम्बद्ध संरचना) निर्मित करनी चाहिये। कूट एवं कोष्ठ का निर्माण पहले के समान करना चाहिये। सामने एवं पीछे के भाग में महाशाला (बड़ा प्रकोष्ठ) पाँच भाग एवं छः भाग से निर्मित करना चाहिये। इस प्रकार सभी अंगों से युक्त चार तल से युक्त श्रेष्ठ गोपुर निर्मित होता है।।६८-७०।।

तारे रुद्रांशके नालीगेहं तत्त्रिभिरंशकैः ।
द्विभागं भित्तिविष्कम्भमेकभागमलिन्द्रकम् ॥७१॥
एकांशं खण्डहर्म्यं स्याच्छेषं पूर्ववदाचरेत् ।
एवं पञ्चतलं विद्यात् षट्तलं चाधुनोच्यते ॥७२॥

(पञ्चतल गोपुर में) विस्तार के ग्यारह भाग करने चाहिये। तीन भाग से नालीगेह, दो भाग से भित्ति-विष्कम्भ, एक भाग से अलिन्द्र, एक भाग से खण्डहर्म्य एवं अन्य अंगों का निर्माण पूर्व-वर्णित विधि से करना चाहिये। इस प्रकार पञ्चतल गोपुर का निर्माण करना चाहिये। अब षट्तल गोपुर का वर्णन किया जा रहा है।

विपुले द्वादशांशे तु नालीगेहं युगांशकम् ।
द्विभागं भित्तिविष्कम्भमंशेनान्धारकं भवेत् ॥७३॥

अंशेन खण्डहर्म्यं स्यात्कूटकोष्ठादि पूर्ववत् ।

(षट्तल में) चौड़ाई के बारह भाग करने चाहिये। चार भाग से नालीगेह, दो भाग से भित्ति-विष्कम्भ, एक भाग से अन्धारक (मार्गविशेष) एवं एक भाग से खण्डहर्म्य निर्मित करना चाहिये। कूट एवं कोष्ठ आदि की संरचना पहले के समान करनी चाहिये।।७३।।

तारे त्रयोदशांशे तु गर्भगेहं युगांशकम् ।।७४।।
द्व्यंशार्धं भित्तिविष्कम्भमेकभागमलिन्द्रकम् ।
एकांशं खण्डहर्म्यं स्यात्कूटकोष्ठादि पूर्ववत् ।।७५।।
मुखेऽमुखे महाशाला षड्भागेन विधीयते ।
पञ्जरैर्हस्तिपृष्ठैश्च पक्षशालादिभिर्युतम् ।।७६।।
नानामसूरकस्तम्भवेदीजालकतोरणम् ।
एवं सप्ततलं प्रोक्तं गोपुरं सार्वदेशिकम् ।।७७।।

(सात तल के गोपुर में) चौड़ाई के तेरह भाग करने चाहिये। चार भाग से गर्भगृह (नालीगृह, मध्यभाग), ढाई भाग से भित्ति-विष्कम्भ, एक भाग से अलिन्द्र एवं एक भाग से खण्डहर्म्य का निर्माण करना चाहिये। कूट एवं कोष्ठ आदि पूर्वविधि से निर्मित करनी चाहिये। सामने एवं पृष्ठभाग में छः भाग से महाशाला निर्मित करना चाहिये। इसे पञ्जर, हस्तिपृष्ठ, पक्षशाला आदि से युक्त करना चाहिये। इसमें विभिन्न प्रकार के मसूरक (अधिष्ठान), स्तम्भ, वेदी एवं जालक-तोरण निर्मित करना चाहिये। इस प्रकार सभी स्थानों के अनुकूल सप्ततल गोपुर का वर्णन किया गया।।७४-७७।।

✺ द्वारविस्तारमानम् ✺

मूलद्वारस्य विस्तारे पञ्चभागैकहीनकम् ।
चतुर्भागैकहीनं वोपरिष्टाद् द्वारविस्तृतम् ।।७८।।
उपर्युपरि वेशं च मध्यपादोत्तरैर्युतम् ।
गर्भागारे तु सोपानं ह्युपर्युपरि विन्यसेत् ।।७९।।

द्वार की चौड़ाई का प्रमाण—ऊपरी तल के द्वार की चौड़ाई मूल द्वार (निचले तल, भूतल के द्वार) के विस्तार से पाँच या चार भाग कम होना चाहिये। प्रत्येक तल के मध्य भाग में पाद एवं उत्तर (चौखट) से युक्त द्वार स्थापित होना चाहिये। ऊपरी तलों में सोपान का विन्यास गर्भ-गृह (मध्य भाग) में करना चाहिये।

चतुष्कर्णे तु सोपानमुपपीठे प्रशस्यते ।
यथायुक्ति यथाशोभं तथा योज्यं विचक्षणैः ।।८०।।

सोपान चौकोर उपपीठ से प्रारम्भ करना प्रशस्त होता है। बुद्धिमान (स्थपति) को जिस प्रकार सोपान का निर्माण सुन्दर लगे, उस प्रकार समुचित रीति से करना चाहिये।।८०।।

*** गोपुरालङ्कारः ***

गोपुराणामलङ्कारं प्रत्येकं वक्ष्यतेऽधुना ।
मण्डपाभा यथा द्वारशोभा तत्र प्रकीर्तिता ॥८१॥

दण्डशाला यथा द्वारशाला तत्र विधीयते ।
प्रासादाकृतिवद् द्वारप्रासादं प्रोच्यते बुधैः ॥८२॥

मालिकाकृतिवद् द्वारहर्म्यं तु प्रोच्यते बुधैः ।
सशालाकृतिसंस्थानं द्वारगोपुरमिष्यते ॥८३॥

सर्वेषु गोपुरं कुर्याद्यथायुक्ति विशेषतः ।

गोपुर के अलङ्कार—गोपुरों के प्रत्येक अलङ्कार का वर्णन अब किया जा रहा है। द्वारशोभा गोपुर का निर्माण मण्डप के सदृश करना चाहिये। द्वारशाला गोपुर का निर्माण दण्डशाला के समान करना चाहिये। द्वारप्रासाद गोपुर का निर्माण प्रासाद (मन्दिर) की आकृति के सदृश करना चाहिये। द्वारहर्म्य गोपुर की आकृति मालिका की आकृति के समान होनी चाहिये। द्वारगोपुरसंज्ञक गोपुर का स्वरूप शाला के समान होना चाहिये। सभी गोपुरों का अलङ्करण विशेष रूप से यथोचित रीति से करना चाहिये।।८१-८३।।

*** श्रीकर-द्वारशोभा ***

श्रीकरस्याप्यलङ्कारं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥८४॥

विस्तारद्विगुणं वाऽपि पादोनद्विगुणायतम् ।
पञ्चसप्तनवांशं तु विस्तारे प्रविधीयते ॥८५॥

विस्तारांशप्रमाणेन दैर्घ्यभागांश्च कल्पयेत् ।
एकद्वित्रितलोपेतं सर्वावयवसंयुतम् ॥८६॥

श्रीकर-रीति से द्वारशोभा—श्रीकर के भी अलङ्कारों का वर्णन क्रमानुसार किया जा रहा है। इसकी लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी या दुगनी से चौथाई कम होनी चाहिये। विस्तार के पाँच, सात या नौ भाग करने चाहिये। विस्तार के भाग-प्रमाण से लम्बाई के भाग निश्चित करना चाहिये। इसे एक, दो या तीन तल से एवं सभी अंगों से युक्त निर्मित करना चाहिये।।८४-८६।।

स्वस्तिकाकृतिकं नासो सर्वत्र प्रविधीयते ।
मुखेऽमुखे महानासी वंशनासी द्विपार्श्वयोः ॥८७॥
शिरःक्रकरकोष्ठं वा युग्मस्थूपिसमायुतम् ।
लुपारोहिशिरो वाऽपि मण्डपाकृतिरेव वा ॥८८॥

स्वस्तिक के आकृति की नासा (सजावटी छोटी खिड़की) सभी स्थानों पर होनी चाहिये। सामने एवं पीछे महानासी तथा दोनों पार्श्वों में वंशनासी का निर्माण करना चाहिये। शिरोभाग में क्रकर कोष्ठ (विशिष्ट आकृति) या सम संख्या में स्थूपी होनी चाहिये। साथ ही इसके शिरोभाग पर लुपा हो अथवा इसकी आकृति मण्डप के सदृश होनी चाहिये।।८७-८८।।

❋ रतिकान्त-द्वारशोभा ❋

रतिकान्तस्य संस्थानं विस्ताराध्यर्धमायतम् ।
कूटकोष्ठादि सर्वाङ्गं पूर्ववत् परिकल्पयेत् ॥८९॥
शालाकारशिरस्तस्मिन् षण्णासी मुखपृष्ठयोः ।
सार्धकोटिसमायुक्तं मध्यवेशनसंयुतम् ॥९०॥

रतिकान्त रीति से द्वारशोभा—रतिकान्त शैली में लम्बाई चौड़ाई से डेढ़ गुनी अधिक होती है। कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अंगों को पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये। इसका शिरोभाग शाला के आकार का होना चाहिये एवं षण्णासी (छोटी-छोटी छः सजावटी खिड़कियाँ) सामने एवं पीछे होनी चाहिये तथा अर्धकोटि (विशिष्ट आकृति) का निर्माण करना चाहिये। स्थूपियों की संख्या सम होनी चाहिये। इसे अन्तःपाद (भीतरी स्तम्भ) एवं उत्तर से युक्त तथा मध्यवेशन (मध्य भाग में कक्ष) से युक्त निर्मित करना चाहिये।।८९-९०।।

❋ कान्तविजय-द्वारशोभा ❋

कान्तविजयसंस्थानं तारत्रिद्व्यंशमायतम् ॥९१॥
पूर्ववद् भूमिभागं च कूटकोष्ठादि पूर्ववत् ।
अन्तःपादोत्तरैर्युक्तं नानाङ्गैः समलंकृतम् ॥९२॥
शिखरे च मुखे पृष्ठे षण्णास्यः पार्श्वयोर्द्वयोः ।
सभाकारः शिरस्तस्मिन्नयुग्मस्थूपिकान्वितम् ॥९३॥
द्वारशोभात्रयं प्रोक्तं द्वाराङ्गं मुखशोभितम् ।

कान्तविजय रीति से द्वारशोभा—कान्तविजय द्वारशोभा की लम्बाई उसकी

चौड़ाई से दो तिहाई अधिक होती है। इसके तल पूर्व वर्णित एवं कूट तथा कोष्ठ आदि अंग भी पूर्ववर्णित विधि से निर्मित करने चाहिये। इसे भीतरी स्तम्भों एवं उत्तर से युक्त तथा विविध अंगों से सुसज्जित करना चाहिये। शिखर के आगे एवं पीछे षण्णासी (छः नासियाँ) तथा दोनों पार्श्वों में सभा के आकार का शिरोभाग होना चाहिये, जिस पर विषम संख्या में स्थूपिकायें होनी चाहिये।

इस प्रकार द्वारशोभा के तीन भेदों का वर्णन किया गया, जो अपने सभी अंगों से युक्त हैं एवं जिनका मुखभाग अलंकृत है।।९१-९३।।

*** विजयविशाल-द्वारशाला ***

विजयविशालसंस्थानं विस्तारद्विगुणायतम् ॥९४॥
सपादं वाऽथ सार्धं वा पादोनद्विगुणायतम्।
सप्तनन्दशिवांशैश्च तलं द्वित्रिचतुष्टयम् ॥९५॥

द्वारशालासंज्ञक गोपुर का विजयविशाल प्रकार—विजयविशाल द्वारशाला की लम्बाई उसकी चौड़ाई की दुगुनी, सवा भाग, डेढ़ भाग अथवा चतुर्थांश कम दुगुनी रखनी चाहिये। इसकी चौड़ाई के सात, नौ या ग्यारह भाग करने चाहिये तथा इसके दो, तीन या चार तल होने चाहिये।।९४-९५।।

सालिन्द्रे त्रिचतुर्भौमो चतस्रो मुखपट्टिकाः।
मुखे पृष्ठे महानासी सार्धकोटि सभद्रकम् ॥९६॥
पार्श्वयोः पञ्जरैर्युक्तं शालाकारशिरःक्रियम्।
अयुग्मस्थूपिकोपेतं सर्वावयवसंयुतम् ॥९७॥

तीन या चार तल में अलिन्द्र एवं चार मुखपट्टिकायें मुखभाग एवं पीछे महानासी (बड़ी सजावटी खिड़की), अर्धकोटि एवं भद्रक होना चाहिये। इसका शिरोभाग शाला के आकार का होना चाहिये एवं दोनों पार्श्वों में पञ्जर होने चाहिये। इसे विषम संख्या में स्थूपिकाओं एवं सभी अंगों से युक्त करना चाहिये।।९६-९७।।

*** विशालालय-द्वारशाला ***

विशालालयसंस्थानं पादोनद्विगुणायतम्।
पूर्ववद् भूमिभागं च कूटकोष्ठाद्यलंकृतम् ॥९८॥
अर्धकोटि सभद्रं स्याद्भद्रनासी मुखेऽमुखे।
चतस्रः पार्श्वयोर्नास्यः शालाशिखरसंयुतम् ॥९९॥
अयुग्मस्थूपिकोपेतं शेषं पूर्ववदाचरेत्।

विशालालय प्रकार की द्वारशाला—विशालालय द्वारशाला की लम्बाई उसकी चौड़ाई से चतुर्थांश कम दुगुनी रखनी चाहिये। इसके तल पूर्ववर्णित विधि से निर्मित होने चाहिये तथा इसे कूट एवं कोष्ठ आदि से सुसज्जित होना चाहिये। इसको शीर्ष-भाग पर अर्धकोटि, भद्र तथा आगे एवं पीछे भद्रनासी से युक्त करना चाहिये। दोनों पार्श्वों में चार नासियाँ, शिखर भाग शालायुक्त एवं विषम संख्या में स्थूपिकायें निर्मित होनी चाहिये। शेष अंग पूर्व के सदृश निर्मित होने चाहिये।।९८-९९।।

*** विप्रतीकान्त-द्वारशाला ***

विप्रतीकान्तसंस्थानं त्र्यंशे द्व्यंशाधिकायतम् ।।१००।।

कूटकोष्ठादि सर्वाङ्गं पूर्ववत् परिकल्पयेत् ।
पूर्ववद् भूमिभागं च चतुर्दिग्गतभद्रकम् ।।१०१।।

चतस्रः शिखरे नास्यः शिरो भद्रसमन्वितम् ।
अन्तःपादोत्तरैर्युक्तमयुग्मस्थूपिकान्वितम् ।।१०२।।

द्वारशालात्रयं प्रोक्तं सर्वाङ्गं परिमण्डितम् ।

विप्रतीकान्त रीति से द्वारशाला—विप्रतीकान्त द्वारशाला की लम्बाई उसकी चौड़ाई से दो तिहाई अर्थात् तीन भाग में से दो भाग के बराबर अधिक रखनी चाहिये। कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अंगों को पहले के समान निर्मित करना चाहिये। तलों का निर्माण पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये। चारो दिशाओं में भद्रक, शिखर पर चार नासियाँ एवं शिरो भाग को भद्र से युक्त करना चाहिये। इसके भीतरी भाग में स्तम्भ एवं उत्तर निर्मित करना चाहिये एवं इसे विषम संख्या में स्थूपिकाओं से युक्त करना चाहिये। इस प्रकार सभी अवयवों से युक्त तीन प्रकार की द्वारशालाओं का वर्णन किया गया।।१००-१०२।।

*** श्रीकान्त-द्वारप्रासादः ***

श्रीकान्तस्य च संस्थानं विस्ताराध्यर्धमायतम् ।।१०३।।

नन्दपङ्क्तिशिवांशैश्च त्रिचतुष्पञ्चभूमयः ।
अन्तःपादोत्तरैर्युक्तमन्धाराद्यैरलंकृतम् ।।१०४।।

द्वारस्योर्ध्वेऽन्तरे रङ्गं परिभद्रसमन्वितम् ।
मुखेऽमुखे महानासी शालाकारशिरो भवेत् ।।१०५।।

अर्धकोटिसमायुक्तं चतुष्पञ्जरशोभितम् ।

द्वारप्रासादसंज्ञक गोपुर का श्रीकान्त प्रकार—श्रीकान्त द्वारप्रासाद की लम्बाई

उसकी चौड़ाई से डेढ़ गुनी अधिक होती है। इसकी चौड़ाई को नौ, दस या ग्यारह भागों में बाँटना चाहिये। इसमें तीन, चार या पाच तल का निर्माण करना चाहिये। द्वार के ऊपर भीतरी भाग में रङ्ग एवं परिभद्र निर्मित करना चाहिये। इसका शिरोभाग शाला (कोष्ठक) के आकार का हो एवं सामने तथा पीछे महानासी का निर्माण होना चाहिये। इसे अर्धकोटि से युक्त एवं चार पञ्जरों से सुशोभित होना चाहिये।

*** श्रीकेश-द्वारप्रासादः ***

श्रीकेशस्य तु संस्थानं तारत्रिभागमायतम् ॥१०६॥
पूर्ववद् भूमिभागं च द्वारे निर्गमकुट्टिमम् ।
सान्धारं कूटकोष्ठादिसर्वावयवसंयुतम् ॥१०७॥

श्रीकेश रीति से द्वारप्रासाद—श्रीकेश द्वारप्रासाद में लम्बाई चौड़ाई से तीन गुनी अधिक होती है। इसके तल पहले के सदृश होने चाहिये एवं द्वार पर निर्गम कुट्टिम (थोड़ा बाहर निकला हुआ अधिष्ठान) निर्मित होना चाहिये। इसे अन्धार (मध्य में स्थित मार्ग) से युक्त एवं कूट-कोष्ठ आदि सभी अवयवों से युक्त होना चाहिये।।१०६-१०७।।

नानामसूरकस्तम्भवेदिकाद्यैरलंकृतम् ।
अन्तःपादोत्तरैर्युक्तं मध्ये वारणशोभितम् ॥१०८॥
मुखेऽमुखे महानासी शालाकारशिरःक्रियम् ।
पार्श्वयोर्वेदनास्यः स्युः सर्वावयवशोभितम् ॥१०९॥
स्वस्तिकाकृतिवन्नासी सर्वत्र परिशोभिता ।
नन्द्यावर्तगवाक्षादिजालकाद्यैर्विचित्रितम् ॥११०॥

इसे विभिन्न प्रकार के अधिष्ठानों, स्तम्भों एवं वेदिका आदि से सुसज्जित करना चाहिये। इसके भीतरी भाग में स्तम्भ एवं उत्तर तथा मध्य भाग में वारण का निर्माण करना चाहिये। इसका शिरोभाग शाला के आकार का हो एवं सामने तथा पीछे महानासी होनी चाहिये। दोनों पार्श्वों में चार नासियाँ निर्मित होनी चाहिये एवं इसे सभी अंगों से युक्त होना चाहिये। सभी स्थानों पर स्वस्तिक के आकृति वाली नासियाँ सुशोभित होनी चाहिये तथा इसे नन्द्यावर्त गवाक्ष एवं जालक (झरोखा) आदि से सुसज्जित करना चाहिये।।१०८-११०।।

*** केशविशाल-द्वारप्रासादः ***

केशविशालसंस्थानं विस्ताराध्यर्धमायतम् ।
पूर्ववद् भूमिभागं च मध्यवारणशोभितम् ॥१११॥

कूटकोष्ठाद्यलङ्कारं पूर्ववत् परिकल्पयेत् ।
मुखे पृष्ठे द्विपार्श्वे तु महानासीचतुष्टयम् ॥११२॥
सभाकारशिरस्तस्य मुखे पृष्ठे द्विपार्श्वयोः ।
अयुग्मस्थूपिकायुक्तं द्वारप्रासादकत्रयम् ॥११३॥

केशविशालसंज्ञक द्वारप्रासाद गोपुर—केशविशाल द्वारप्रासाद की लम्बाई चौड़ाई की डेढ़ गुनी अधिक होती है तलों का निर्माण पहले के समान होना चाहिये एवं मध्य भाग में वारण (दालान, ओसारा) होना चाहिये। कूट, कोष्ठ आदि अलंकरणों का निर्माण पहले की भाँति होना चाहिये। सामने, पीछे एवं दोनों पार्श्वों में चार महानासी निर्मित करनी चाहिये। इसका शिरोभाग सभा के आकार का हो। उसके मुखभाग, पृष्ठभाग एवं दोनों पार्श्वों में विषम संख्या में स्थूपिकायें होनी चाहिये। इस प्रकार द्वारप्रासाद गोपुर के तीन भेद होते हैं।।१११-११३।।

✵ स्वस्तिक-द्वारहर्म्यम् ✵

स्वस्तिकस्य तु संस्थानं विस्तारद्विगुणायतम् ।
पङ्क्तिरुद्रार्कभागैस्तु वेदपञ्चर्तुभूमयः ॥११४॥
अन्तःपादोत्तरैर्युक्तं भूमिभागं च पूर्ववत् ।
कूटकोष्ठादिसर्वाङ्गैरन्धाराद्यैरलङ्कृतम् ॥११५॥
सभाशिखरसंयुक्तं स्वस्तिकाकृतिनासियुक् ।
अष्टनासि सभाग्रे तु अयुग्मस्थूपिकान्वितम् ॥११६॥

द्वारहर्म्य गोपुर का स्वस्तिकसंज्ञक भेद—स्वस्तिकसंज्ञक द्वारहर्म्य गोपुर की लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी होती है एवं चौड़ाई को दस, ग्यारह या बारह भागों में बाँटना चाहिये। इसे चार, पाँच या छः तल से युक्त निर्मित करना चाहिये। भीतरी भाग में स्तम्भ एवं उत्तर होना चाहिये तथा तलों की योजना पूर्व-वर्णित होनी चाहिये। कूट, कोष्ठ आदि सभी अवयवों तथा अन्धार आदि से इसे सुसज्जित करना चाहिये। इस गोपुर को सभाकार शिखर से युक्त तथा स्वस्तिकाकार नासियों से युक्त करना चाहिये। सभा के अग्र-भाग में आठ नासियाँ एवं विषम संख्या में स्थूपिकाओं का निर्माण करना चाहिये।।११४-११६।।

✵ दिशास्वस्तिक-द्वारहर्म्यम् ✵

दिशास्वस्तिकसंस्थानं विस्तारद्विगुणायतम् ।
पूर्ववद् भूमिभागं च कूटकोष्ठाद्यलंकृतम् ॥११७॥
अन्धार्यन्धारहाराङ्गं खण्डहर्म्याभिमण्डितम् ।
मुखेऽमुखेऽतिभद्रांशं शिरश्चायतमण्डलम् ॥११८॥

महानासि चतुर्युक्तं चतुष्पञ्जरशोभितम् ।
अन्तःपादोत्तरैर्युक्तं सर्वावयवसंयुतम् ॥११९॥
अनुक्तं पूर्ववत् सर्वमयुग्मस्थूपिकान्वितम् ।

दिशास्वस्तिक संज्ञक द्वारहर्म्य—दिशास्वस्तिक संज्ञक द्वारहर्म्य गोपुर की लम्बाई विस्तार की दुगुनी होनी चाहिये। इसके तलों की योजना तथा कूट-कोष्ठादि सज्जा पहले के सदृश होनी चाहिये। इसे अन्धारी (भीतरी भित्ति), अन्धार, हाराङ्ग एवं खण्डहर्म्य से युक्त करना चाहिये। इसका शिरोभाग आयतमण्डलाकार (गोलाई लिये लम्बाई) एवं सामने तथा पीछे अतिभद्रांश निर्मित करना चाहिये। इसे चार महानासियों एवं चार पञ्जरों से अलंकृत करना चाहिये। भीतरी भाग को स्तम्भ, उत्तर एवं सभी अंगों से युक्त करना चाहिये। जिनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, उन सबको पहले के समान निर्मित करना चाहिये तथा विषम संख्या में स्थूपिकायें निर्मित होनी चाहिये।।११७-११९।।

❋ मर्दल-द्वारहर्म्यम् ❋

मर्दलस्य तु संस्थानं विस्तारद्विगुणायतम् ॥१२०॥
पूर्ववद् भूमिभागं च कूटकोष्ठाद्यलंकृतम् ।
पुरे पृष्ठे सभागं स्याद् विस्तारत्र्यंशनिर्गमम् ॥१२१॥
शालाकारशिरोयुक्तं क्षुद्रनासीविभूषितम् ।
मुखे पृष्ठे महानासी चतुष्पञ्जरशोभितम् ॥१२२॥
अन्तःपादोत्तरैर्युक्तं द्वारहर्म्यं त्रिधोदितम् ।

मर्दल संज्ञक द्वारहर्म्य गोपुर—मर्दल की लम्बाई उसकी चौड़ाई की दुगुनी होती है। तलों का निर्माण एवं कूट तथा कोष्ठ आदि अलंकरणों का निर्माण पूर्ववर्णित विधि से होता है। सामने एवं पीछे सभा के अग्र भाग के सदृश निर्माण होना चाहिये तथा इसका निर्गत विस्तार के तीसरे भाग के बराबर होना चाहिये। इसका शीर्षभाग शाला के आकार का हो एवं क्षुद्रनासियों से सुसज्जित हो। मुखभाग एवं पृष्ठभाग की महानासी एवं चार पञ्जरों से सज्जा होनी चाहिये। भीतर स्तम्भ एवं उत्तर निर्मित होना चाहिये। इस प्रकार द्वारहर्म्य तीन प्रकार से वर्णित है।।१२०-१२२।।

❋ मात्राकाण्ड-द्वारगोपुरम् ❋

मात्राकाण्डस्य संस्थानं विस्तारद्विगुणायतम् ॥१२३॥
रुद्रार्क त्रयोदशांशैः पञ्चषट्सप्तभूमयः ।
पूर्ववद्भूमिभागं च कूटकोष्ठादि पूर्ववत् ॥१२४॥

अन्तःपादोत्तरैर्युक्तं चतुर्दिग्गतभद्रकम् ।
गृहपिण्ड्यलिन्द्रहाराभिर्मण्डितं खण्डहर्म्यवत् ॥१२५॥

शालाकारशिरः कुर्यान्महानासी मुखेऽमुखे ।
पार्श्वयोः क्षुद्रनास्यश्च यथायुक्त्या प्रयोजयेत् ॥१२६॥

द्वारगोपुर का मात्राकाण्ड संज्ञक भेद—मात्राकाण्ड की लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी होती है। इसकी चौड़ाई के ग्यारह, बारह या तेरह भाग करने चाहिये एवं पाँच, छः या सात तल होने चाहिये। तलयोजना पूर्ववत् एवं कूट तथा कोष्ठ आदि भी पहले के सदृश होने चाहिये। इसके भीतरी भाग में स्तम्भ एवं उत्तर हों तथा चारो दिशाओं में भद्रक निर्मित हों। इसे गृहपिण्डी (भीतरी भित्ति), अलिन्द एवं हारा से अलंकृत करना चाहिये तथा खण्डहर्म्य निर्मित होना चाहिये। इसका शिरोभाग शाला की आकृति का हो तथा सामने एवं पीछे महानासी निर्मित हो। दोनों पार्श्वों में क्षुद्रनासियाँ यथोचित रीति से निर्मित होनी चाहिये।।१२३-१२६।।

*** श्रीविशाल-द्वारगोपुरम् ***

श्रीविशालस्य संस्थानं पञ्चांशे द्व्यंशमायतम् ।
पूर्ववद् भूमिभागं च मूलतः क्रकरीकृतम् ॥१२७॥

शिरः क्रकरकोष्ठं च सभा वा तत्र शीर्षकम् ।
नानामसूरकस्तम्भवेदिकाद्यैरलंकृतम् ॥१२८॥

चतुर्दिक्षु महानासी क्षुद्रनासीविभूषिता ।
स्वस्तिकाकृतिवन्नास्यः सर्वत्र परिकल्पयेत् ॥१२९॥

श्रीविशाल संज्ञक द्वारगोपुर—श्रीविशाल द्वारगोपुर की चौड़ाई के पाँच भाग में से दो भाग के बराबर अधिक लम्बाई रखनी चाहिये। तल-योजना पहले के सदृश होनी चाहिये तथा मूल से ऊपर क्रकरी आकार (क्रास का आकार) में निर्मित करना चाहिये। इसके शिरोभाग पर क्रकरकोष्ठ (क्रास के आकार का कोष्ठ) या सभा का आकार निर्मित करना चाहिये। इसे विभिन्न प्रकार के अधिष्ठानों, स्तम्भों एवं वेदिकाओं से सुसज्जित करना चाहिये। चारो दिशाओं में महानासी एवं क्षुद्रनासी निर्मित करना चाहिये। स्वस्तिकाकार नासियाँ सभी ओर निर्मित होनी चाहिये।।१२७-१२९।।

*** चतुर्मुख-द्वारगोपुरम् ***

चतुर्मुखस्य संस्थानं चतुर्भागाधिकायतम् ।
पूर्ववद् भूमिभागं च दिशाभद्रकसंयुतम् ॥१३०॥

हारामध्ये तु कर्तव्यं कुड्यकुम्भलतान्वितम् ।
तोरणैर्जालकैर्वृत्तस्फुटिताद्यैरलंकृतम् ॥१३१॥

कूटैर्नीडैस्तथा कोष्ठैः क्षुद्रकोष्ठैर्विभूषितम्।
गृहपिण्ड्यलिन्द्रहाराभिर्मण्डितं खण्डहर्म्यवत् ॥१३२॥

चतुर्मुख संज्ञक द्वारगोपुर—चतुर्मुख द्वारगोपुर की लम्बाई उसकी चौड़ाई से चार भाग अधिक होती है। इसके तलों का भाग पूर्व-वर्णित हो एवं प्रत्येक दिशा में भद्रक हो। हारा के मध्य में कुम्भलता से युक्त भित्ति हो एवं तोरण, जालक तथा वृत्तस्फुटित (अलङ्करणविशेष) आदि से सुसज्जित हो। कूटों, नीडों (सजावटी खिड़कियों), कोष्ठों एवं क्षुद्रकोष्ठों से अलंकृत हो एवं गृहपिण्डी, अलिन्द्र, हारा एवं खण्डहर्म्य आदि से सुसज्जित हो।।१३०-१३२।।

सभाशिरस्तु वा शालाकारं वा शीर्षकं तु तत्।
चतुर्नासिसमायुक्तं पार्श्वे द्वे द्वे तु नासिके ॥१३३॥

उपर्युपरिकूटाद्यैः सर्वाङ्गैः समलङ्कृतम्।
अन्तःसोपानसंयुक्तं द्वारगोपुरकं त्रिधा ॥१३४॥

इसका शिरो-भाग सभा की आकृति का या शाला की आकृति का होता है। यह चार नासियों से युक्त होता है एवं पार्श्वों में दो-दो नासिकायें होती हैं। ऊपरी (तल) कूट आदि सभी अंगों से सुसज्जित होता है तथा भीतर सोपान से युक्त होता है। इस प्रकार यह गोपुर तीन प्रकार का होता है।।१३३-१३४।।

वर्षस्थलसमोपेतं निर्वारितलकं तु वा।
घनाघनाङ्गयुक्तानि श्रीकरादीनि युक्तितः ॥१३५॥

श्रीकर आदि गोपुर वर्षा के स्थल (वर्षा के जल के निकास-स्थल) से युक्त अथवा इससे रहित हो सकते हैं एवं ये सघन अथवा घनरहित अंगों से युक्त आवश्यकतानुसार निर्मित किये जाते हैं।।१३५।।

नानाविधस्तम्भमसूरकाणि नानाविधाङ्गानि सलक्षणानि।
नानोपपीठानि समण्डकानि भद्राण्यभद्राणि घनाघनानि ॥१३६॥

एकादिसप्तान्ततलानि युक्त्या शोभादिपञ्चादशगोपुराणि।
शालासभामण्डपशीर्षकाणि प्रोक्तानि सद्मन्यमरेश्वराणाम् ॥१३७॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे गोपुरविधानं
नाम चतुर्विंशोऽध्यायः

शोभा आदि पन्द्रह गोपुरों में अनेक प्रकार के स्तम्भ, मसूरक (अधिष्ठान), अनेक प्रकार के लक्षणों से युक्त अवयव, विविध प्रकार के उपपीठ मण्डक सहित,

भद्र से युक्त या भद्ररहित तथा घने या विरल अंग आदि से युक्त एक से लेकर सात तलों तक का निर्माण उचित रीति से करना चाहिये। इनके शीर्षभाग शाला के आकार, सभा के आकार या मण्डप के आकार के निर्मित होने चाहिये। इस प्रकार राजाओं एवं देवों के भवनों के गोपुरों का वर्णन किया गया।।१३६-१३७।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

गोपुर-भेद (श्लोक ११)

पाँच प्रकार के गोपुरों का वर्णन मानसार में इस प्रकार प्राप्त होता है—

आद्यके द्वारशोभं तु द्वारशाला द्वितीयके।।
द्वारप्रासादो मध्ये द्वारहर्म्यं मयाधिके।
महामर्यादादिकुड्ये च महागोपुरमीरितम्।। (३३.४-५)

शिल्परत्न में भी इस ग्रन्थ की पुष्टि प्राप्त होती है—

द्वारशोभा द्वारशाला द्वारप्रासादहर्म्यके।
द्वारगोपुरमित्येके क्रमान्नाम्ना प्रकीर्तिता:।।
(पूर्व.-४१.२)

गोपुर-तलनिर्माण (श्लोक ३४-३६)

गोपुर के तल-निर्माण के प्रसंग में शिल्परत्न का मत इस प्रकार है—

एकद्वित्रितलं वा तु द्वारशोभाख्यमाचरेत्।
द्वित्रिवेदतलं कुर्यात् द्वारशालाख्यगोपुरम्।।
त्रिवेदसायकतलं द्वारप्रासादकं तथा।
हर्म्याख्यगोपुरं वेदपञ्चषट्तलमाचरेत्।।
द्वारगोपुरकं कुर्यात् पञ्चषट्सप्तभूमिकम्।
(पूर्व.-४१.३-५)

इन गोपुरों के प्रमाण शिल्परत्न (पूर्व. ४१ अ.) में प्राप्त होते हैं। इन्हें प्रमाण-भेद की दृष्टि से श्रेष्ठ, मध्यम एवं कन्यस कहा गया है—

महत्तरे तु श्रेष्ठानि मध्यमे मध्यमत्रयम्।
क्षुद्राल्पयो: प्रशस्तं हि कन्यसत्रयगोपुरम्।। (४१.१६)

इनके उत्तम, मध्यम एवं अधम भेद तथा इनके उपभेद मानसार (३३.७-११) में प्राप्त होते हैं।

विभिन्न तल वाले गोपुर (श्लोक ३६-५८)

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र (अ. २८-३२ / ४-२९) में एक तल से प्रारम्भ कर नौ तल तक के गोपुरों का वर्णन प्राप्त होता है—

सप्तभौमं गोपुरं वा नवभौमयुतं तु वा।

(विश्व. वास्तु.,२८-३२/२९)

गोपुरों के अलंकरण (श्लोक ८१-८३)

गोपुर के अलंकरणों के विषय में अन्य शिल्प-ग्रन्थों में भी वर्णन प्राप्त होता है। शिल्परत्न के अनुसार—

मसूरकस्तम्भवेदिजालकैस्तोरणादिभि: ।।

यथायुक्ति यथाशोभं युक्तमेव करोत्वत:।

(पूर्व.-४१.५५-५६)

प्रकल्पयेद् दृढं शिल्पी यथाशोभं यथाबलम्।

(विश्व. वास्तु.-२८.३२/२८)

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

(मण्डपसभाविधानम्)

*** मण्डपविधानम् ***

देवानां द्विजभूमीशवैश्यानां शूद्रजन्मनाम् ।
तत्तद्योग्यं यथायुक्त्या मण्डपं प्रविधीयते ॥१॥

मण्डप का विधान—देवों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के अनुकूल मण्डपों का वर्णन उचित रीति से किया जा रहा है।।१।।

*** मण्डपयोग्यदेशाः ***

प्रासादाभिमुखे पुण्यक्षेत्रे वारामके शुभे ।
ग्रामादिवस्तुमध्ये च चतुर्दिक्षु विदिक्ष्वपि ॥२॥
बाह्याभ्यन्तरतो वाऽपि गृहाणां मध्यमे मुखे ।

मण्डप के अनुकूल स्थान—(मण्डपों का स्थान) प्रासाद (देवालय) के अग्र भाग में, पुण्यक्षेत्र (तीर्थस्थल) में, आराम (उद्यान, पार्क) में, ग्राम आदि वास्तु-क्षेत्र के बीच में, चारो दिशाओं एवं दिशाओं के कोणों में, गृहों के बाहर, भीतर, मध्य में एवं सामने होता है।।२।।

*** मण्डपप्रयोजनम् ***

वासार्थमण्डपं चैव यागमण्डपमेव च ॥३॥
अभिषेकादियोग्यं च नृत्तमण्डपकं तथा ।
वैवाहिकं च मैत्रं च तथोपनयनार्हकम् ॥४॥
आस्थानमण्डपं चैव बलालोकनमण्डपम् ।
सन्धिकार्यार्हकं क्षौरं भुक्तिकर्मसुखान्वितम् ॥५॥

मण्डप की आवश्यकता—(मण्डप के प्रयोजन इस प्रकार हैं—) वास के लिये मण्डप, यज्ञ-मण्डप, अभिषेक आदि उत्सवों के अनुरूप मण्डप, नृत्य के लिये मण्डप, वैवाहिक कार्य के लिये मण्डप, मैत्र (सामूहिक उत्सव, कार्यक्रम) एवं उपनयन संस्कार के योग्य मण्डप, आस्थान-मण्डप (राजा की सभा अथवा देवों के

जन-सामान्य के दर्शन हेतु विशेष अवसरों पर निर्मित मण्डप), बलालोनक-मण्डप (सैन्य कार्यसम्बन्धी मण्डप), सन्धिकार्यार्हक मण्डप (जिस मण्डप में सन्धि आदि से सम्बन्धित कार्य सम्पन्न हों), क्षौर मण्डप (जहाँ मुण्डन आदि कार्य सम्पन्न हों) तथा भुक्तिकर्मसुखान्वित मण्डप (जहाँ समूहभोज एवं सुख उठाया जाय)।।३-५।।

*** मण्डपनामानि ***

तेषां क्रमेण नामानि वक्ष्यन्ते विधिनाऽधुना।
मेरुकं विजयं सिद्धं पद्मकं भद्रकं शिवम्।।६।।
वेदं चालङ्कृतं दर्भं कौशिकं कुलधारिणम्।
सुखाङ्गं सौख्यकं गर्भं माल्यं माल्याद्भुतं तथा।।७।।
देवद्विजनरेन्द्राणां द्विरष्टचतुरस्रकम्।

मण्डपों के नाम—अब उन मण्डपों के नामों का क्रमशः विधिपूर्वक उल्लेख किया जा रहा है। ये सोलह चतुष्कोण मण्डप हैं, जो देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के लिये होते हैं। (उनके नाम इस प्रकार हैं—) मेरुक, विजय, सिद्ध, पद्मक, भद्रक, शिव, वेद, अलंकृत, दर्भ, कौशिक, कुलधारिण, सुखाङ्ग, सौख्यक, गर्भ, माल्य तथा माल्याद्भुत।।६-७।।

धनं सुभूषणाख्यं चाप्याहल्यं स्रुगकं तथा।।८।।
कोणं च खर्वटं चैव श्रीरूपाख्यं च मङ्गलम्।
एतान्यष्टौ सुरादीनां नृपाणामायतास्रकम्।।९।।
मार्गं सौभद्रकं चैव सुन्दराख्यं तु मण्डपम्।
साधारणं च सौख्यं च तथैवेश्वरकान्तकम्।।१०।।
श्रीभद्रं सर्वतोभद्रमित्यष्टौ वैश्यशूद्रयोः।

धन, सुभूषण, आहल्य, स्रुगक, कोण, खर्वट, श्रीरूप एवं मङ्गल—ये आठ आयाताकार मण्डप देवता आदि के एवं राजाओं के अनुकूल होते हैं तथा वैश्य एवं शूद्रों के अनुकूल मण्डपों के नाम इस प्रकार हैं—मार्ग, सौभद्रक, सुन्दर, साधारण, सौख्य, ईश्वरकान्त, श्रीभद्र तथा सर्वतोभद्र।।८-१०।।

भक्तिमानं तथा पादायामं पादविशालकम्।।११।।
अधिष्ठानं तदाधारं प्रपां मध्यमरङ्गकम्।
अलङ्कारं क्रमाद् वक्ष्ये स्तम्भपक्षं तदाकृतम्।।१२।।

इनके स्तम्भों के भक्तिमान (विभाजन का प्रमाण), लम्बाई एवं चौड़ाई, इनके

अधिष्ठान, आकार, प्रपा (निर्मिति विशेष), मध्यम रङ्ग, अलङ्कार, स्तम्भों के पक्ष (स्तम्भों की योजना) एवं उनकी आकृति—इन सभी का वर्णन अब मैं (मय ऋषि) करता हूँ।।११-१२।।

*** भक्तिमानम् ***

सार्धहस्तं समारभ्य षट्षडङ्गुलवर्धनात् ।
पञ्चहस्तावधिर्यावत् त्रिः पञ्चैवाङ्घ्रिकान्तकम् ।।१३।।
अथ विस्तारभक्त्यैषामायामं प्रविधास्यते ।
एकद्वित्रिचतुष्पञ्चभागे भक्त्यन्तरे कृते ।।१४।।
एकभागेन वृद्धिः स्यादायामं स्वविशालतः ।
अथ स्वभक्तिविसृतात्त्रिमात्रर्द्ध्या करान्ततः ।।१५।।
आयाममष्टधा प्रोक्तं तेन मानेन योजयेत् ।
सायतं चापि तत् सर्वं तन्नाम्नैव प्रपद्यते ।।१६।।

भक्ति का प्रमाण, प्रमाणयोजना—डेढ़ हाथ से प्रारम्भ कर छः-छः अंगुल बढ़ाते हुये पाँच हाथ तक पन्द्रह प्रकार के स्तम्भ-मान प्राप्त होते हैं। इसकी लम्बाई का मान चौड़ाई के भक्तिमान से ग्रहण किया जाता है। चौड़ाई से ग्रहण किये गये लम्बाई के मान के लिये चौड़ाई को एक, दो, तीन, चार या पाँच भाग में बाँटना चाहिये एवं लम्बाई को एक भाग अधिक होना चाहिये। अपने विस्तार के भक्तिमान से तीन-तीन अंगुल बढ़ाते हुये एक हाथ तक ले जाना चाहिये। इस प्रकार लम्बाई के आठ प्रमाण प्राप्त होते हैं। इससे प्रमाणयोजना बनानी चाहिये तथा सभी लम्बे मण्डप इसी भक्तिमान से निर्मित होने चाहिये।।१३-१६।।

*** स्तम्भमानम् ***

सार्धद्विहस्तमारभ्य षट्षडङ्गुलवर्धनात् ।
अष्टहस्तान्तमङ्घ्र्युच्चं त्रयोविंशत्प्रमाणकम् ।।१७।।
त्र्यङ्गुलविवृद्ध्या वा स्तम्भोत्सेधाः प्रकीर्तिताः।

स्तम्भ-प्रमाण—ढाई हाथ से प्रारम्भ कर छः-छः अंगुल बढ़ाते हुये आठ हाथ तक स्तम्भ की ऊँचाई ले जानी चाहिये। इस प्रकार स्तम्भ के तेईस प्रमाण बनते हैं। अथवा तीन-तीन अंगुल बढ़ाते हुये स्तम्भ का मान प्राप्त होता है।।१७।।

अष्टाङ्गुलं समारभ्यैवार्धाङ्गुलवर्धनात् ।।१८।।
नन्दपङ्क्त्यङ्गुलं यावत् संख्यया पूर्ववत्ततिः ।
पादोच्चैरपि रुद्रांशधर्मनन्दाष्टभाजिते ।।१९।।

मूलतारं तु भागेन तत्तद्भागोनमग्रतः ।

स्तम्भ का विस्तार (घेरा) आठ अंगुल से प्रारम्भ कर आधा अंगुल बढ़ाते हुये उन्नीस अंगुल तक ले जाना चाहिये। इस स्तम्भ के मूल का विस्तार प्राप्त करने के लिये उसकी ऊँचाई के ग्यारह, दस, नौ या आठ भाग करने चाहिये एवं उसमें से एक कम करने पर (दस, नौ, आठ, सात भाग) मूल के विस्तार या परिधि का होता है।।१८-१९।।

✱ अधिष्ठानोत्सेधः ✱

पादोच्चार्धमधिष्ठानं सामान्यं सर्ववस्तुषु ।।२०।।
पादोच्चे पञ्चभागे तु द्विभागोच्चं तु वा तलम् ।
स्तम्भोत्सेधत्रिभागैकं वा मसूरकतुङ्गकम् ।।२१।।

अधिष्ठान की ऊँचाई—सामान्यतया सभी वास्तुओं में स्तम्भ की ऊँचाई के आधे प्रमाण से अधिष्ठान का मान रक्खा जाता है। अथवा स्तम्भ की ऊँचाई के पाँच भाग करने पर अधिष्ठान दो भाग के बराबर रक्खा जाता है या स्तम्भ की ऊँचाई के तीन भाग करने पर एक भाग के बराबर अधिष्ठान रक्खा जाता है।।२०-२१।।

✱ उपपीठोत्सेधः ✱

सोपपीठमधिष्ठानं केवलं वा मसूरकम् ।
अधिष्ठानसमोच्चं वा द्विगुणं त्रिगुणं तु वा ।।२२।।
उपपीठविधाने तु यदुक्तं तेन वोन्नतम् ।
उपपीठसमुत्सेधं यथायुक्ति यथारुचि ।।२३।।
उपपीठतलस्तम्भप्रस्तरालंकृतिक्रमम् ।
प्राग्वदेव समुद्दिष्टं शेषं युक्त्या समाचरेत् ।।२४।।

उपपीठ की ऊँचाई—अधिष्ठान उपपीठ से युक्त या केवल अधिष्ठान (उपपीठरहित अधिष्ठान) होना चाहिये। उपपीठ ऊँचाई में अधिष्ठान के बराबर, उसका दुगुना या तीन गुना होता है। अथवा उसकी ऊँचाई उसी प्रकार रखनी चाहिये, जैसी उपपीठ-विधान के प्रसंग में वर्णित है। उपपीठ की ऊँचाई इच्छानुसार या आवश्यकतानुसार रखनी चाहिये। उपपीठ, तल (अधिष्ठान), स्तम्भ एवं प्रस्तर की सज्जा के विषय में पहले कहा जा चुका है। शेष यथावसर करना चाहिये।।२२-२४।।

✱ मण्डपलक्षणम् ✱

अधिष्ठानोपरिस्तम्भं प्रस्तरं च त्रिवर्गकम् ।
कपोतप्रतिसंयुक्तं यत्तन्मण्डपमिष्यते ।।२५।।

मण्डप का लक्षण—अधिष्ठान, उसके ऊपर स्तम्भ एवं प्रस्तर—इन तीन वर्गों से युक्त, कपोत एवं प्रति से युक्त निर्माण को मण्डप कहा जाता है।।२५।।

॥ मण्डपशब्दार्थः ॥

मण्डं सुभूषणं तं पातीति मण्डपमिष्यते।

मण्डप शब्द का अर्थ—मण्ड अर्थात् अलङ्करण। उसकी जो रक्षा करता है, उसे मण्डप कहते हैं।

॥ प्रपालक्षणम् ॥

सामान्यं सर्ववर्णानां प्रपारूपं वदाम्यहम् ॥२६॥
प्रपारूपाङ्घ्रपादान्ते चोत्तरादूर्ध्ववंशकम्।
प्राग्वंशमनुवंशं च नालिकेरदलादिभिः ॥२७॥
अन्यैरपि तथा पत्रैर्द्रव्यैः प्रच्छादिता प्रपा।

प्रपा का लक्षण—सभी वर्णों के अनुकूल प्रपा के सामान्य स्वरूप का वर्णन करता हूँ। इसके स्तम्भ भूतल से प्रारम्भ होते हैं एवं इनके ऊपर उत्तर होते हैं। उत्तर (स्तम्भ के ऊपर भित्ति), उसके ऊपर ऊर्ध्ववंश (प्रधान वंश, छाजन के लट्ठे) होते हैं। इनके साथ प्राग्वंश (प्रधान वंश से जुड़े पूर्व की ओर जाने वाले वंश), अनुवंश (सहायक वंश) आदि होते हैं। प्रपा का आच्छादन नारियल के पत्ते तथा अन्य पत्तों से किया जाता है।।२६- २७।।

प्राग्वदेवाङ्घ्रिकायामं चतुःषडष्टदशाङ्गुलम् ॥२८॥
पादविष्कम्भमेतेषां प्रमाणं सारदारुजम्।
त्वक्सारं च यथालाभं तथा तत्र प्रयोजयेत् ॥२९॥

स्तम्भों की लम्बाई पूर्ववर्णन के अनुसार रखनी चाहिये। स्तम्भ का विष्कम्भ (स्तम्भ का घेरा) चार, छः, आठ या दस अंगुल होना चाहिये। यह मान सारदारु (ठोस काष्ठ) से निर्मित स्तम्भ का कहा गया है। वंश-निर्मित स्तम्भ का मान भी यही है। जहाँ जैसी आवश्यकता हो, वहाँ वैसा निर्माण करना चाहिये।।२८-२९।।

पादोच्चे पङ्क्तिनन्दाष्टसप्तषट्पञ्चभागिके।

स्तम्भ की ऊँचाई के दस, नौ, आठ, सात, छः या पाँच भाग करना चाहिये।

॥ रङ्गलक्षणम् ॥

वेदिकोच्चं तु भागेन मध्ये रङ्गं प्रयोजयेत् ॥३०॥

स्तम्भोत्सेधचतुर्भागे भागेनैव मसूरकम् ।
द्विभागं तलिपायामं भागेन प्रस्तरं भवेत् ॥३१॥

रङ्ग का लक्षण—(पूर्ववर्णित भाग के बराबर) वेदिका की ऊँचाई होनी चाहिये। एक भाग से मध्य भाग में रङ्ग निर्मित करना चाहिये। स्तम्भ की ऊँचाई के चार भाग करने पर एक भाग से मसूरक (अधिष्ठान), दो भाग से स्तम्भ की लम्बाई एवं एक भाग से प्रस्तर निर्मित करना चाहिये।।३०-३१।।

युग्मायुग्मद्विभक्त्यैकभक्त्या वा तद्विशालकम् ।
अष्टस्तम्भसमायुक्तं चतुःस्तम्भान्वितं तु वा ॥३२॥
प्रपादीनां तु संस्थानं यथा वा रङ्गमीरितम् ।

भवन-योजना सम संख्या में हो या विषम संख्या में हो, रङ्ग की विशालता दो भाग या एक भाग रखनी चाहिये। आठ स्तम्भों से युक्त अथवा चार स्तम्भों से युक्त रङ्ग का निर्माण प्रपा आदि के समान करना चाहिये।।३२।।

सर्वावयवसंयुक्तं मिश्रद्रव्यसमन्वितम् ॥३३॥
शालासभाप्रपाणां तु मण्डपानां तु मध्यमे ।
प्रतिष्ठितचतुःस्थानं त्रिमानं रङ्गमिष्यते ॥३४॥

रङ्ग सभी अंगों से युक्त एवं मिश्रित पदार्थों से युक्त होता है। शाला, सभागार, प्रपा एवं मण्डपों के मध्य में—इन चार स्थलों पर रङ्ग का निर्माण होता है। इसका मान तीन प्रकार का कहा गया है।।३३-३४।।

❋ मालिकामण्डपम् ❋

मण्डपोपरि भूमिस्तु मालिकामण्डपं भवेत् ।
मण्डपोर्ध्वे सशिखरं द्वितलं यदि सम्भवम् ॥३५॥
मध्यस्थभूमिदेशत्वात् प्रतिमध्यं तदुच्यते ।

मालिका-मण्डप—मण्डप के ऊपर का तल मालिका मण्डप होता है। यदि मण्डप के दो तल हों तो वह शिखरयुक्त होता है। दोनों तलों के मध्य में स्थित भाग को प्रतिमध्य कहते हैं।।३५।।

❋ मेरुकम् ❋

मेरुकं चतुरस्रं स्याच्चतुष्पादेकभक्तिकम् ॥३६॥
नासिकाष्टकसंयुक्तं ब्रह्मासनमिति स्मृतम् ।

मेरुक—मेरुक मण्डप चौकोर, चार स्तम्भों से युक्त, एक भाग (भक्ति) माप

का तथा आठ नासिकाओं से युक्त होता है। इसे ब्रह्मासन कहा गया है।।३६।।

✷ विजयम् ✷

द्विभक्तिचतुरस्रं तु विजयं नाम मण्डपम् ॥३७॥

अष्टपादसमायुक्तमष्टनास्या विभूषितम् ।
अधिष्ठानादिवर्गाढ्यं त्यक्तमध्यस्थपादकम् ॥३८॥

नवपादसमायुक्ता प्रपा कल्याणकारिता ।

विजय—विजय संज्ञक मण्डप दो भक्ति से युक्त एवं चतुष्कोण होता है। यह आठ स्तम्भों एवं आठ नासियों से अलंकृत होता है। यह अधिष्ठान से युक्त एवं मध्य स्तम्भ से रहित होता है। विवाह के लिये नौ स्तम्भों से युक्त प्रपा निर्मित होनी चाहिये।।३७-३८।।

✷ सिद्धम् ✷

त्रिभक्ति चतुरस्रं तु षोडशस्तम्भसंयुतम् ॥३९॥

नासिकाभिर्द्विरष्टाभिर्युक्तं मध्येऽङ्कणान्वितम् ।
मध्योर्ध्वकूटयुक्तं वा चतुर्द्वारसमन्वितम् ॥४०॥

चतुर्दिक्षु बहिर्द्वारि चतुस्तोरणभूषितम् ।
यागादिकर्मयोग्यं स्याद्देवद्विजमहीभृताम् ।
नाम्ना सिद्धमिति प्रोक्तं सर्वकर्मसु पूजितम् ॥४१॥

सिद्ध—सिद्ध संज्ञक मण्डप तीन भक्ति (प्रमाण की इकाई) वाला, चतुष्कोण, सोलह स्तम्भ से युक्त, सोलह नासिकाओं से युक्त एवं मध्य में आँगन से युक्त होना चाहिये, जिसके ऊपर मध्य भाग में कूट हो सकता है। चारो दिशाओं में चार द्वार हों। बाहरी द्वारों को चार तोरणों से अलंकृत करना चाहिये। यह मण्डप देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के यज्ञ-कार्य के अनुकूल होता है। यह सिद्ध नामक मण्डप सभी कार्यों के अनुकूल कहा गया है।।३९-४१।।

✷ यागमण्डपम् ✷

कृत्वैकाशीतिभागान् निशितविपुलधीर्मण्डपाभ्यन्तरं त-
न्मध्ये वेदी नवांशा भवति हि परितस्त्रीणि भागानि मध्ये ।
अस्रं योन्यर्धचन्द्रं गुणभुजमपरं वै सुवृत्तं षडस्रं
पद्मं वस्वश्रकुण्डं सुरपतिभवनादिक्रमेणैव कुर्यात् ॥४२॥

यज्ञमण्डप—बुद्धिमान् स्थपति को मण्डप के भीतरी भाग को इक्यासी भागों में

बाँटना चाहिये। मध्य के नौ भागों में वेदी होती है। चारो ओर तीन भाग छोड़कर मध्य में चौकोर, योनि के आकार का, अर्धचन्द्राकार, त्रिकोण, वृत्ताकार, षट्कोण, पद्मपुष्प के आकार का या अष्टको"ा कुण्ड पूर्व दिशा से प्रारम्भ करते हुये निर्मित करना चाहिये।।४२।।

* कुण्डलक्षणम् *

हस्तविस्तृतनिखातवच्चतुष्कोटिकं दिशि दिशि त्रिसूत्रकम्।
सत्रिमेखलमथ द्विकं तु वा धातुभूतगुणमात्रकोन्नतम्॥४३॥

कुण्ड का लक्षण—(कुण्ड के लिये) एक हाथ चौड़ा तथा एक हाथ गहरा चौकोर गड्ढा निर्मित करना चाहिये। यदि इसे तीन मेखला से युक्त करना हो तो तीन सूत्र या दो मेखला से युक्त करना हो तो दो सूत्र खींचना चाहिये। इन मेखलाओं की ऊँचाई सात, पाँच या तीन अंगुल रखनी चाहिये।।४३।।

व्यासमब्ध्यनलपक्षमात्रकैर्योनिमूर्ध्वत इभोष्ठवत् कुरु।
तारदैर्घ्यकसमुद्गमं चतुःषण्मनोऽङ्गुलिभिरग्निसम्मुखम्॥४४॥

उपर्युक्त मेखलाओं की चौड़ाई क्रमशः चार, तीन एवं दो अंगुल रखनी चाहिये। योनि की आकृति गज के ओष्ठ के समान निर्मित करना चाहिये। इसकी चौड़ाई, लम्बाई एवं गहराई क्रमशः चार, छः एवं एक अंगुल रखनी चाहिये तथा इसे अग्नि की ओर होना चाहिये।।४४।।

वेदबन्धनयनाङ्गुलोन्नतव्यासमेखलयुतं तु वा पुनः।
तालगाढमथवैकमेखलं सर्वकुण्डकमकर्णयोनिकम्॥४५॥

कुण्ड के मेखलाओं की ऊँचाई चार, तीन या दो अंगुल होनी चाहिये। आथवा कुण्ड की गहराई एक बित्ता हो एवं एक मेखला से युक्त हो। सभी कुण्डों की योनि कोने में नहीं होनी चाहिये।।४५।।

वृत्तसन्निभमथो तदाकृतिं वा युगेषुरसमात्रवैपुलम्।
व्यासवेदगुणभागतुङ्गकं नाभिमब्जमिव कुण्डमध्यमे॥४६॥

कुण्ड का केन्द्र (नाभि) कमल के समान होना चाहिये। इसकी आकृति वृत्त के समान होनी चाहिये। इसका व्यास चार, पाँच या छः अंगुल होना चाहिये तथा इसकी ऊँचाई चार या तीन भाग होनी चाहिये।।४६।।

* योनिकुण्डम् *

न्यस्यैकांशं पञ्चभागे पुरस्तात्
कोणस्यार्धार्धं गृहीत्वा ततस्तत्।

कोणं यावद् भ्रामयेत्तद्वदन्यद्
योन्याकारं स्याद् द्विसूत्रप्रयोगात् ॥४७॥

योनि की आकृति का कुण्ड—कुण्ड के पूर्व भाग को पाँच भागों में बाँटना चाहिये। कोण से आधा भाग ग्रहण कर (सीधी रेखा द्वारा उत्तर एवं दक्षिण के) मध्य भाग को जोड़ना चाहिये। इसके पश्चात् (उत्तर, पश्चिम) कोण को गोलाई से घेरना चाहिये। इसी प्रकार दूसरी ओर भी करना चाहिये अर्थात् दक्षिण-पश्चिम के कोण को भी गोलाई से घेरना चाहिये। इस प्रकार दो सूत्रों के प्रयोग से योनि की आकृति निष्पन्न होती है।।४७।।

* अर्धचन्द्रकुण्डम् *

व्यासे धर्मांशेंऽशमूर्ध्वादधस्तान्नीत्वैव ज्यासूत्रकं पातयित्वा ।
तन्मानेन भ्रामयेदर्धचन्द्रं कुण्डं युक्त्या वस्तुविद्याविधिज्ञैः ॥४८॥

अर्धचन्द्राकार कुण्ड—कुण्ड के व्यास के दसवें भाग में ऊपर एवं नीचे (बिन्दु बनाना चाहिये। उस बिन्दु से) ज्यासूत्र (सीधी रेखा) खींचना चाहिये। इस मान से अर्धचन्द्राकार रेखा खींचनी चाहिये। इस प्रकार वास्तुविद्या के ज्ञाता को अर्धचन्द्रकुण्ड निर्मित करना चाहिये।।४८।।

* त्र्यस्रकुण्डम् *

क्षेत्रव्यासे षट्कृते चाष्टभागे
मानेनानेन त्रिसूत्रं न्यसेद्धि ।

त्रिकोण कुण्ड—चौकोर क्षेत्र के व्यास के आठ भाग में छः भाग करके तीन सूत्रों से त्र्यस्र कुण्ड निर्मित होता है।

* वृत्तकुण्डम् *

त्र्यक्षं प्रोक्तं द्विर्नवांशेंऽशकं त
बाह्येन्यस्य भ्रामयेद् वृत्तकुण्डम् ॥४९॥

वृत्ताकार कुण्ड—त्रिकोण कुण्ड का वर्णन किया जा चुका है। क्षेत्र को अट्ठारह भागों में बाँटना चाहिये। वृत्ताकार कुण्ड इस प्रकार निर्मित करना चाहिये (सूत्र इस प्रकार घुमाना चाहिये), जिससे कि कुण्ड एक भाग बाहर रहे।।४९।।

* षट्कोणकुण्डम् *

व्यासे बुन्ध्यंशेंऽशकं पार्श्वयोस्त
बाह्ये न्यस्यानेन मानेन दध्यात् ।

मत्स्यं कृत्वा युग्मयुग्मं द्विपार्श्वात्
षट्कोणं स्यात्पातयेत्सूत्रषट्कम् ॥५०॥

छः कोण का कुण्ड—(चतुष्कोण) कुण्ड के क्षेत्र को पाँच भागों में बाँटना चाहिये। एक वृत्त इस प्रकार खींचना चाहिये, जिससे उसकी परिधि उन पाँच भागों से अधिक हो। इसके पश्चात् प्रत्येक भाग में मत्स्य की आकृति निर्मित करनी चाहिये। इस प्रकार छः सूत्रों के द्वारा षट्कोण कुण्ड निर्मित होता है।।५०।।

✵ पद्मकुण्डम् ✵

वृत्तं कृत्वा पूर्ववत्तस्य मध्ये
वृत्तं भ्राम्यं यत्र यन्मध्यतस्तत् ।
पद्मस्याकारं यथा कर्णिकादीन्
कुर्याद्विद्वान् पद्मकुण्डं क्रमेण ॥५१॥

पद्माकार कुण्ड—पूर्ववर्णित विधि से वृत्त बनाकर उसके मध्य में एक वृत्त निर्मित करना चाहिये। इसके पश्चात् मध्य से प्रारम्भ करते हुये पद्म का आकार एवं कर्णिका आदि जिस प्रकार बनें, उस प्रकार विद्वान् को पद्मकुण्ड निर्मित करना चाहिये।

✵ अष्टास्रकुण्डम् ✵

क्षेत्रव्यासे षट्चतुर्भागिकेऽस्मिन्
भागं बाह्ये न्यस्य सूत्रं समन्तात् ।
कोणस्यार्धं कोणकाभ्यां तु लेख्यं
ह्यष्टास्रंस्यादष्टसूत्रप्रयोगात् ॥५२॥

अष्टकोण कुण्ड—कुण्ड के क्षेत्र को चौबीस भागों में बाँटना चाहिये। एक भाग बाहर रहे, इस प्रकार एक वृत्त खींचना चाहिये। दोनों कोणों से एवं कोणों के अर्ध भाग से आठ सूत्रों (रेखाओं) से अष्टकोण कुण्ड निर्मित करना चाहिये।।५२।।

✵ सप्तास्रकुण्डम् ✵

तारे पङ्क्त्यंशेंऽशकं न्यस्य बाह्ये वृत्तं भ्राम्यं क्षेत्रकेऽष्टाष्टभागे ।
सैकैर्वेदाष्टांशकैः पट्टदैर्घ्यं सप्तास्रं स्यात् सप्तसूत्रप्रयोगात् ॥५३॥

सप्तकोण कुण्ड—कुण्ड के क्षेत्र को दस भागों में बाँटना चाहिये। उसमें एक वृत इस प्रकार खींचना चाहिये, जिससे एक भाग क्षेत्र के बाहर रहे। सात सूत्रों के प्रयोग से सप्तकोण कुण्ड निर्मित होता है, जिसका पट्टदैर्घ्य (सातों कोणों का माप) तैंतीस हो एवं क्षेत्र का माप चौंसठ हो।।५३।।

✹ पञ्चास्त्रकुण्डम् ✹

व्यासे सप्तांशेंऽशकं न्यस्य बाह्ये वृत्तं भ्राम्यं क्षेत्रतारे युगांशे ।
पट्टायामं त्रिप्रभागैरनेन पञ्चास्त्रं स्यात् पञ्चसूत्रप्रयोगात् ॥५४॥

पञ्चकोण कुण्ड—कुण्ड के क्षेत्र को सात भागों में बाँटना चाहिये एवं उसमें एक वृत्त इस प्रकार खींचना चाहिये, जिससे उसका एक भाग बाहर रहे। पाँच सूत्रों के द्वारा पञ्चकोण कुण्ड बनाना चाहिये, जिससे पट्ट का आयाम चतुष्कोण का तीन चौथाई हो।।५४।।

तत्तद्धेयोपात्तभागेषु तत्तद्भागं कृत्वा
प्रागिवैकैकभागे ।
न्यूनाधिक्येनास्त्रनाहस्य तुल्यं युक्त्या धीमान्
योजयेत्सर्वकुण्डम् ॥५५॥

प्राप्त भागों के उतने भाग करके पहले के समान एक-एक भाग कम या अधिक करते हुये कोणों को परिधि के बराबर निर्मित करना चाहिये। इस प्रकार बुद्धिमान स्थपति को सभी प्रकार के कुण्डों की योजना करनी चाहिये।।५५।।

भूते साङ्घ्रित्रिबीजं मुनिषु च नयनं षोडशेष्वंशयुक्तं
सत्र्यङ्घ्र्येकं नवांशे शिवपदविहिते सार्धकं सैकभानौ ।
साङ्घ्र्येकं बीजमेवोदितमथ तिथिके षोडशांशैकहीनं
सप्ताधिक्ये दशांशे नवदशपदकेऽष्टांशहीनं क्रमेण ॥५६॥

पाँच में तीन चतुर्थांशयुक्त एक भाग, सात में दो भाग, सोलह में पाँच भाग, नौ में तीन चतुर्थांशयुक्त एक भाग, ग्यारह में डेढ़ भाग, तेरह में सवा एक भाग कहा गया है। पन्द्रह में एक भाग कम एवं सोलह भाग, सत्रह भाग तथा उन्नीस भाग में क्रमशः आठ भाग कम होना चाहिये।।५६।।

✹ सिद्धम् ✹

तदेव धाम्नामग्रे तु कर्तव्यं चेन्मसूरकम् ॥५७॥
स्तम्भप्रस्तरवर्गं च प्रासादाङ्गसमं मतम् ।
एकद्वित्रिद्वारयुक्तं वा कुड्यं कुम्भलतान्वितम् ॥५८॥

सिद्धमण्डप—यदि सिद्ध मण्डप को देवालय के सम्मुख स्थापित किया जाय तो उसमें अधिष्ठान, स्तम्भ, प्रस्तर एवं वर्ग देवालय के अंग के समान होने चाहिये। यह एक, दो या तीन द्वारों से युक्त हो एवं भित्ति पर कुम्भलता का अंकन होना चाहिये।।५७-५८।।

एकद्वित्रिगुणस्तम्भव्यासं मध्ये तु भद्रकम्।
तोरणाढ्यं सुरोपेतसर्वावयवशोभितम् ॥५९॥

मण्डप के मध्य में भद्रक (पोर्च) निर्मित करना चाहिये, जिसका व्यास स्तम्भ के व्यास का एक गुना (बराबर), दुगुना या तीन गुना रखना चाहिये। इसे तोरण से युक्त, सभी अंगों एवं देवों की आकृतियों से युक्त निर्मित करना चाहिये।।५९।।

धाम्नस्तु भित्तिविष्कम्भसमं वार्धार्धहीनकम्।
त्रिभागैकविहीनं तद्भित्तिविष्कम्भमिष्यते ॥६०॥

सान्तरालं सवेशं च सर्वेषां सद्मनां मुखे।

मण्डप की भित्ति का विष्कम्भ (मोटाई) प्रधान भवन (या देवालय) की मोटाई के बराबर तीन चौथाई अथवा तीन में दो भाग के बराबर होना चाहिये। यह सभी भवनों के सम्मुख अन्तराल (मार्ग) से युक्त एवं वेश (आच्छादित स्थल) से युक्त होना चाहिये।।६०।।

✵ पद्मकम् ✵

चतुरस्रं चतुर्भक्त्या चतुर्द्वारसमन्वितम् ॥६१॥

मुखेऽमुखे द्विभक्त्यैकभक्त्या विस्तारनिर्गमम्।
मध्यमस्तम्भकं त्यक्त्वैवोर्ध्वकूटं द्विभक्तिकम् ॥६२॥

पद्मक—चौकोर क्षेत्र को चार भक्ति (इकाई माप) एवं चार द्वार से युक्त करना चाहिये। मुखभाग एवं पृष्ठभाग पर दो भक्ति एवं एक भाग से निर्गम का विस्तार रखना चाहिये। मध्य भाग में स्तम्भ नहीं होना चाहिये एवं दो भक्ति से ऊर्ध्वकूट का निर्माण करना चाहिये।।६१-६२।।

षट्त्रिंशत्पादसंयुक्तं चतुस्सप्ताल्पनासिकम्।
सोपानं स्याच्चतुर्दिक्षु लाङ्गलाकारभित्तिकम् ॥६३॥

पञ्जरैरष्टभिर्युक्तं पद्मकं पद्मकप्रभम्।
स्नानार्थं तैतिलानां तु प्रासादाभिमुखे मतम् ॥६४॥

तदेवैकाननोपेतं मध्याङ्गणसमन्वितम्।
यागादिकर्मयोग्यं स्यादिष्टतो दिशि वारणम् ॥६५॥

इसमें तिरेसठ स्तम्भ तथा अट्ठाईस अल्पनासिकायें (छोटी सजावटी खिड़कियाँ) होनी चाहिये। चारों दिशाओं में सोपान होने चाहिये एवं लाङ्गल के आकार की भित्ति होनी चाहिये। आठ पञ्जर (सजावटी अंग) होने चाहिये। पद्मक (कमलपुष्प के समान)

इस मण्डप की संज्ञा पद्मक है। देवालय के सम्मुख यह मण्डप देवों के अभिषेक के लिये प्रशस्त होता है। यह एक मुख वाला हो तो मध्य में आँगन होना चाहिये। यह यज्ञकार्य के अनुकूल होता है एवं आठों दिशाओं में वारण (किसी भी दिशा में) हो सकता है।।६३-६५।।

✹ भद्रकम् ✹

भद्रकं पञ्चभागेन चतुरस्रसमाकृति।
मध्ये कूटं त्रिभागेन परितोंऽशेन मण्डपम् ।।६६।।
द्वात्रिंशत्पादसंयुक्तं चतुर्विंशतिनासिकम्।
पञ्जरैरष्टभिर्युक्तं कुड्यं कुम्भलतान्वितम् ।।६७।।

भद्रक—भद्रक मण्डप चौकोर होता है एवं इसका माप पाँच भाग रक्खा जाता है। मध्य भाग में तीन भाग से कूट एवं चारो ओर एक भाग से मण्डप निर्मित होता है। यह बत्ती स्तम्भों एवं चौबीस नासिकाओं से युक्त तथा आठ पञ्जरों से युक्त होता है। भित्ति कुम्भलता से सुसज्जित होती है।।६६-६७।।

चतुर्दिक्षु चतुर्द्वारं कर्णे लाङ्गलभित्तिकम्।
मध्यमेऽङ्गणयुक्तं वा त्रिभक्त्या विस्तृताङ्घ्रिकम् ।।६८।।
धाम्नः स्थलसमं तस्य पङ्क्त्यष्टांशोनमेव वा।
नृत्तमण्डपमेतत् स्यात् स्नानार्थं वा तदेव हि ।।६९।।

चारो दिशाओं में चार द्वार एवं कोनों पर लाङ्गलभित्ति (हल के आकार की भित्ति) होनी चाहिये। अथवा मध्य भाग में आँगन हो एवं तीन भक्ति (तीन ईकाई) विस्तार वाले स्तम्भों से युक्त रखना चाहिये। मण्डप को भवन के सतह के बराबर, दस या आठ भाग कम रखना चाहिये। यह मण्डप (देवादिकों के) स्नान के लिये एवं नृत्य के लिये अनुकूल होता है।।६८-६९।।

✹ शिवम् ✹

षड्भक्ति चतुरस्राभं मध्येऽष्टस्तम्भकूटकम्।
द्विभक्तिविस्तृतं चैकभक्त्या निष्क्रान्तवक्त्रकम् ।।७०।।
षष्ट्यङ्घ्रिकसमायुक्तं त्यक्तमध्यस्थपादकम्।
चतुर्विंशतिनास्यङ्गं सर्वालङ्कारसंयुतम् ।।७१।।
शिवाख्यं मण्डपं सर्ववासे योग्यं सनातनम्।

शिव-मण्डप—यह छः भक्ति वाला चौकोर मण्डप होता है। इसमें आठ स्तम्भ

एवं कूट होते हैं। यह दो भक्ति विस्तृत होता है एवं एक भाग से वक्रनिष्क्रान्त निर्मित होता है। इसमें मध्य भाग को छोड़कर साठ स्तम्भ, चौबीस नासियाँ होती हैं एवं यह सभी अलङ्कारों से सुसज्जित होता है। शिव नामक यह मण्डप सभी भवनों के लिये सदा उपयुक्त होता है।।७०-७१।।

✻ वेदम् ✻

सप्तांशचतुरस्राभं षष्ट्यङ्घ्रिकसमावृतम् ।।७२।।
नवभागेन तन्मध्ये कूटं वा मण्डिताङ्गणम् ।
सद्वात्रिंशतिनास्यङ्गं चतुर्दिशि सवारणम् ।।७३।।

वेद—यह चौकोर एवं सात भाग से युक्त होता है। यह साठ स्तम्भों से युक्त होता है। उसके मध्य में नौ भाग से आँगन हो, जो कूट से अलंकृत हो (अथवा खुला हो) सकता है। इसमें बत्तीस नासियाँ एवं चारो दिशाओं में वारण होता है।

त्रिभागैकांशविस्तारनिर्गमं मुखभद्रकम् ।
मध्यरङ्गसमोपेतमिष्टदिग्गतभित्तिकम् ।।७४।।
आस्थानमण्डपं चैतत्तैतिलानां महीभृताम् ।
अभिषेकादिकार्येषु योग्यं वेदमिति स्मृतम् ।।७५।।

इस मण्डप को तीन भाग के माप वाले मुखभद्रक (सामने पोर्च) से युक्त करना चाहिये, जिसमें एक भाग से निर्गम निर्मित हो। इसे मध्य रङ्ग से युक्त एवं इच्छित दिशा में भित्ति से युक्त होना चाहिये। यह देवों एवं राजाओं का आस्थान मण्डप (जहाँ श्रोता-दर्शक बैठते हैं) है एवं अभिषेक आदि कार्यों के लिये उपयुक्त होता है। इसे वेद (मण्डप) कहा गया है।।७४-७५।।

✻ अलङ्कृतम् ✻

अष्टभक्त्या युगास्रं स्यादशीतिपादसंयुतम् ।
चतुर्भागोर्ध्वकूटं तु द्विभागेन तु भद्रकम् ।।७६।।
चतुर्दिशि चतुर्द्वारं पार्श्वे सोपानसंयुतम् ।
सर्वालङ्कारसंयुक्तमलङ्कृतमिति स्मृतम् ।।७७।।

अलंकृत—यह मण्डप चौकोर, आठ भक्तियुक्त एवं अस्सी स्तम्भों से युक्त होता है। इसमें चार भाग से ऊर्ध्वकूट एवं दो भागों से भद्रक निर्मित होना चाहिये। चारो दिशाओं में चार द्वार एवं बगल में सीढ़ी होनी चाहिये। सभी अलंकारों से युक्त इस मण्डप को अलंकृत कहा गया है।।७६-७७।।

तदेव जलपादं तु ब्रह्मस्थलमितीष्यते ।
परितो वारमेकांशं द्व्यंशेनावृतमण्डपम् ।।७८।।

पूर्ववन्मुखभद्रं स्यादिष्टदिग्गतभद्रकम् ।
ब्रह्मस्थाने विधातव्यं ग्रामादीनां सनातनम् ।।७९।।

इसके ब्रह्मस्थल (केन्द्रभाग में) जलपाद (जल का स्थान) हो सकता है, जिसके चारो ओर एक भाग से पैदल चलने का मार्ग हो एवं दो भाग से ढँका हुआ मण्डप निर्मित हो। मुखभद्र पूर्व-वर्णित रीति से हो एवं अभीप्सित दिशा में भद्रक निर्मित हों। इसे ग्राम आदि के ब्रह्मस्थान (केन्द्र) में निर्मित करना चाहिये।।७८-७९।।

दर्भम्

नवभक्तियुतं सम्यक् पङ्क्तिपङ्क्त्यङ्घ्रिकान्वितम् ।
त्र्यंशैकविस्तृतं भद्रं चतुर्द्वारसमन्वितम् ।।८०।।

सोपानं प्रमुखे तस्य कर्णे लाङ्गलभित्तिकम् ।
नवरङ्गैरलङ्कुर्यात् षडष्टैवाल्पनासिकम् ।।८१।।

नवब्रह्म सुपूज्यं तद् ग्रामवेश्मादिमध्यगम् ।
सर्वालङ्कारसंयुक्तं दर्भाख्यं तन्मनोहरम् ।।८२।।

दर्भ—यह मण्डप नौ भक्तिप्रमाण का एवं एक सौ स्तम्भों से युक्त होता है। इसका भद्र तीन भाग विस्तृत (तथा एक भाग से निर्गमयुक्त) एवं चार द्वारों से युक्त होता है, जो सोपान से युक्त होते हैं। उसके कोनों में लाङ्गल के आकार की भित्ति होती है। इसे नौ रंगों से तथा अड़तालीस अल्पनासियों से सुसज्जित करना चाहिये। यह नौ ब्रह्माओं (ब्रह्मा के नौ ऋषिपुत्रों) से पूजित एवं ग्राम तथा भवन आदि के मध्य में होता है। सभी अलंकारों से युक्त दर्भसंज्ञक मण्डप अत्यन्त सुन्दर होता है।

✱ कौशिकम् ✱

दशांशचतुरस्राभं सद्वादशशताङ्घ्रिकम् ।
नवकूटसमायुक्तमेकैकांशान्तरालकम् ।।८३।।

एतत् कौशिकमित्युक्तं चतुरस्रं तु जातिकम् ।
नन्दमेकानने भद्रं द्विमुखं भद्रकौशिकम् ।।८४।।

त्रिमुखं जयकोशं स्यात् पूर्णकोशं चतुर्मुखम् ।
अधिष्ठानाङ्घ्रिवत् कर्णे लाङ्गलाकारभित्तिकम् ।।८५।।

सर्वालङ्कारसंयुक्तं षडष्टैवाल्पनासिकम् ।

कौशिक—दस अंशों वाला चौकोर मण्डप एक सौ बारह स्तम्भों से युक्त होता है। यह नौ कूटों से युक्त एवं एक भाग के अन्तराल से युक्त होता है। इसे 'कौशिक' कहते हैं। चतुष्कोण होने पर यह 'जातिक' होता है। यदि इसमें एक मुख (द्वार) एवं एक भद्र हो तो इसे 'नन्द' कहते हैं तथा दो मुख होने पर इसकी संज्ञा 'भद्रकौशिक' होती है। तीन मुख होने पर 'जयकोश' तथा चार मुख होने पर इसे 'पूर्णकोश' कहते हैं। यह अधिष्ठान, स्तम्भ एवं कोनों पर लाङ्गल के आकार की भित्ति से युक्त होता है। इसे अड़तालीस अल्पनासिकाओं एवं सभी अलङ्करणों से सुसज्जित करना चाहिये।

✹ कुलधारणम् ✹

एकादशविभागेन समं तु चतुरस्रकम् ॥८६॥
परितो मण्डपं तस्य बाह्ये भागेन कारयेत्।
चतुष्कर्णे द्विभागेन चतुष्कूटसमन्वितम् ॥८७॥

कुलधारण—इसमें एक समचतुष्कोण क्षेत्र ग्यारह भाग से युक्त होता है। इसके चारो ओर एक भाग से मण्डप निर्मित होता है। चारो कोणों पर दो भाग से चार कूट होते हैं।।८६-८७।।

चतुर्दिग्द्वित्रिभक्त्या तु विपुलायतकोष्ठकम्।
त्रिभक्तिचतुरस्रं तु मध्यरङ्ग्यूर्ध्वकूटकम् ॥८८॥
कूटशालान्तरे तस्य क्रकरीकृतमार्गकम्।
जात्यादिमुखभद्राङ्गं सर्वावयवशोभितम् ॥८९॥

चारो दिशाओं में दो भाग चौड़ा एवं तीन भाग लम्बा कोष्ठ होना चाहिये। तीन भक्तिमाप का चौकोर मध्यरङ्ग एवं उसके ऊपर कूट होना चाहिये। कूट एवं शाला के बीच में क्रकरीकृत (क्रास के आकार में) मार्ग होने चाहिये। जाति आदि को मुखभद्र आदि सभी अंगों से युक्त होना चाहिये।।८८-८९।।

ऊर्ध्वे सभाङ्गनीडाङ्गं प्रस्तरं नवबोधकम्।
विवृतं संवृतं वापि गुह्यागुह्यार्थमाचरेत् ॥९०॥
कुलधारणमित्युक्तं समं तु चतुरस्रकम्।

ऊपरी भाग में सभाङ्ग, नीड, प्रस्तर एवं नौ बोधक होना चाहिये। मण्डप ढका हुआ अथवा खुला हुआ गोपनीय अथवा खुले कार्य की आवश्यकता के अनुसार निर्मित किया जा सकता है। इस सम-चतुष्कोण मण्डप को कुलधारण कहते हैं।

✹ सुखाङ्गम् ✹

भागैर्द्वादशभिर्युक्तं समं तु चतुरस्रकम् ॥९१॥

अष्टदिक्षु च मध्ये तु द्विभक्त्यैवोर्ध्वकूटकम् ।
तत्तद्बाह्ये तु भागेन परितोऽलिन्द्रमिष्यते ॥९२॥

सुखाङ्ग—इस मण्डप में बारह भागों वाला सम चतुष्कोण क्षेत्र होता है, जिसके आठों दिशाओं एवं मध्य भाग में दो ईकाई माप के ऊर्ध्वकूट होते हैं। उसके बाहर एक भाग माप का अलिन्द्र (गलियारा) चारो ओर होना चाहिये।।९१-९२।।

अङ्गणं वा सभास्थानं कर्णे लाङ्गलभित्तिकम् ।
चतुर्द्व्यंशेन विस्तारं निर्गमं स्याच्चतुर्दिशम् ॥९३॥
पार्श्वे सोपानसंयुक्तं पञ्जरैरष्टभिर्युतम् ।
षष्ट्युत्तरशतस्तम्भमाद्यङ्गे प्रविधीयते ॥९४॥
युक्त्या नास्यङ्गसंयुक्तं सुखाङ्गं नाम मण्डपम् ।

इसमें आँगन या सभा-स्थल एवं कोने में लाङ्गल के आकार की भित्ति होनी चाहिये। चारो दिशाओं में चार भाग से विस्तार रक्खा जाय एवं दो भाग से निर्गम निर्मित हो। सोपान पार्श्व में हो तथा आठ पञ्जरों से युक्त हो। मण्डप के प्रारम्भिक अंग (अधिष्ठान) में एक सौ साठ स्तम्भ होने चाहिये। यथोचित स्थान पर नासिकायें होनी चाहिये। इस प्रकार निर्मित मण्डप को सुखाङ्ग कहते हैं।।९३-९४।।

✵ सौम्यम् ✵

सौख्यं त्रयोदशांशेन चतुरस्त्रसमाकृति ॥९५॥
परितो मण्डपं द्व्यंशं भागेन क्रकरीपथम् ।
त्रिभागं मध्यरङ्गंनूर्ध्वकूटं सस्थूपिनीव्रकम् ॥९६॥

सौम्य—सौख्य (सौम्य) मण्डप में तेरह भाग का सम-चतुष्कोण क्षेत्र होता है। इसके चारो ओर दो भाग से मण्डप एवं एक भाग से क्रकरी-पथ होना चाहिये। तीन भाग से मध्य रंग एवं ऊपरी भाग में ऊर्ध्व कूट एवं स्थूपी से युक्त नीव्र होता है।

चतुष्कर्णे द्विभागेन त्यक्तमध्याङ्घ्रिकूटकम् ।
दिक्षु द्वित्र्यंशविस्तारायामं कोष्ठचतुष्टयम् ॥९७॥
नन्दादिमुखभद्राङ्गमिष्टदिग्गतकुड्यकम् ।
चतुरशीतिभिर्युक्तं शतस्तम्भसमन्वितम् ॥९८॥
सर्वालङ्कारसंयुक्तं देवद्विजमहीभृताम् ।

मण्डप के मध्य में स्तम्भ नहीं होना चाहिये। चारो कोणों पर दो भाग से कूट एवं चारो दिशाओं में दो भाग चौड़े एवं तीन भाग लम्बे चार कोष्ठ होने चाहिये। इसका

मुखभाग नन्द विधि (श्लोक ८४-८५) के अनुसार भद्र (पोर्च) से युक्त होना चाहिये। भित्ति का निर्माण इच्छित दिशा में करना चाहिये। इसमें एक सौ चारासी स्तम्भ एवं सभी प्रकार के अलंकरण होने चाहिये। यह मण्डप देव, ब्राह्मण एवं राजाओं के लिये उपयुक्त होता है।।९७-९८।।

* गर्भम् *

द्विःसप्तभक्तिविस्तारं समं तु चतुरस्रकम् ॥९९॥
द्विभक्त्या गर्भकूटं स्यादेकांशालिन्द्रमावृतम् ।
एकांशमन्तरालं स्यादप्रच्छन्नतलान्वितम् ॥१००॥

गर्भमण्डप—चौदह भाग विस्तार वाला यह मण्डप चौकोर होता है। दो भाग से गर्भकूट (मध्य भाग के ऊपर निर्मित कूट) होना चाहिये, जिसके चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र (गलियारा) निर्मित हो। एक भाग से अन्तराल (मार्ग) निर्मित होना चाहिये, जिसके ऊपर छत न निर्मित हो।।९९-१००।।

चतुष्कर्णे द्विभक्त्यैवमङ्गणं वोर्ध्वकूटकम् ।
द्विचतुर्विस्तृतायामं कोष्ठं वाङ्गणकं दिशि ॥१०१॥
तेषां बाह्ये तु भागेन परितोऽलिन्द्रमिष्यते ।

चारो कोनों पर दो-दो भाग से आँगन निर्मित होने चाहिये, जिनके ऊपर ऊर्ध्वकूट हो सकते हैं (या आँगन खुले रह सकते हैं)। चारो दिशाओं में दो भाग चौड़े एवं तीन भाग लम्बे आँगन या तो कोष्ठ से युक्त (या विना कोष्ठ के) होने चाहिये। उनके बाहर चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र होना चाहिये।।१०१।।

इष्टदिक्कुड्यसंयुक्तमिष्टदिग्भद्रसंयुतम् ॥१०२॥
साष्टद्विशतपादं स्यादाद्यङ्गे तु विधीयते ।
देवद्विजनरेन्द्राणां गर्भाख्यं तन्मनोहरम् ॥१०३॥

अभीष्ट दिशा में भित्ति हो एवं आठों दिशाओं में भद्र निर्मित होने चाहिये। अधिष्ठान पर दो सौ आठ स्तम्भ निर्मित होने चाहिये। गर्भसंज्ञक सुन्दर मण्डप देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के अनुकूल होता है।।१०२-१०३।।

* माल्यम् *

त्रिःपञ्चभक्तिविस्तारं समं तु चतुरस्रकम् ।
त्रिभागं मध्यरङ्गंचूर्ध्वकूटं वाङ्गणमेव वा ॥१०४॥
परितोऽलिन्द्रमंशेन भागैकेनान्तरालकम् ।
शेषं पूर्ववदुद्दिष्टं कोष्ठकं भागतोऽधिकम् ॥१०५॥

द्वात्रिंशद्द्विशतं पादमाद्यङ्गे प्रविधीयते।
सर्वालङ्कारसंयुक्तं माल्याख्यं मण्डपं भवेत् ॥१०६॥

माल्य—इस मण्डप में पन्द्रह भाग विस्तृत चौकोर क्षेत्र होता है। इसके मध्य में तीन भाग से ऊर्ध्वकूट-युक्त मध्यरंग अथवा आँगन होना चाहिये। चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र तथा एक भाग से अन्तराल होना चाहिये। शेष अंग पूर्ववर्णित होने चाहिये; किन्तु कोष्ठ एक भाग अधिक लम्बा होना चाहिये। अधिष्ठान पर दो सौ बत्तीस स्तम्भ होने चाहिये। सभी सज्जाओं से युक्त इस मण्डप की संज्ञा माल्य होती है।

माल्याद्भुतम्

माल्याद्भुतं समास्रं तु भागैः षोडशभिर्युतम्।
द्विभक्त्यैवोर्ध्वकूटं तु भागेनालिन्द्रमावृतम् ॥१०७॥
द्व्येकभक्त्या मुखे भद्रं कर्णे लाङ्गलभित्तिकम्।
पार्श्वे सोपानसंयुक्तं चित्रप्रस्तरसंयुतम् ॥१०८॥

माल्याद्भुत—माल्याद्भुत मण्डप सोलह भागों के सम-चतुष्कोण क्षेत्र से युक्त होता है। दो भाग से ऊर्ध्वकूट होता है एवं एक भाग माप के अलिन्द्र से घिरा होता है। सामने दो भाग एवं एक भाग माप का भद्र होता है एवं कोने में लाङ्गल के आकार की भित्ति होती है। पार्श्व में सीढ़ी निर्मित होती है एवं यह चित्र-प्रस्तर से युक्त होता है।।१०७-१०८।।

तद्बहिर्द्व्यंशमानेन जलपादं समन्ततः।
तद्बाह्ये तु चतुर्भक्त्या परितो मण्डपं भवेत् ॥१०९॥
द्विभक्तिचतुरस्राभमेकांशं व्यवधानकम्।
द्विरष्टाङ्गणतन्मध्ये परितः प्रविधीयते ॥११०॥

उसके बाहर दो भाग के प्रमाण से चारो ओर जलपाद (जलस्थान) होना चाहिये तथा उसके बाहर चारो ओर चार भाग माप का मण्डप होना चाहिये। दो भाग का चौकोर क्षेत्र हो एवं एक भाग से व्यवधान (अन्तराल) निर्मित हो। उसके मध्य में चारो ओर सोलह भागों वाला आँगन होना चाहिये।।१०९-११०।।

कर्णे लाङ्गलकुड्यं स्यादूर्ध्वे हाराभिमण्डितम्।
चतुर्द्विभक्तिविस्तारनिर्गमं दिक्षु भद्रकम् ॥१११॥
पार्श्वे सोपानसंयुक्तं सर्वालङ्कारसंयुतम्।
देवद्विजनरेन्द्राणां चतुरस्रं द्विरष्टधा ॥११२॥

कोनों पर लाङ्गल के आकार की भित्ति हो एवं ऊर्ध्व भाग पर हारामार्ग से अलंकरण हों। दो भाग विस्तृत क्षेत्र निर्गम से युक्त हो एवं चारो दिशाओं में भद्र निर्मित हों। पार्श्व में सीढ़ी हो एवं सभी प्रकार के आभरणों से युक्त हो। ये सोलह प्रकार के चौकोर मण्डप देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के लिये उपयुक्त होते हैं।।१११-११२।।

इत ऊर्ध्वं द्विपार्श्वैकवृद्ध्या द्वात्रिंशदंशकम्।
विस्तारं चतुरस्राभं मण्डपं कारयेद् बुधः ॥११३॥
विवृतं संवृतं वापि कुड्यस्तम्भं प्रयोजयेत्।
यथायुक्ति यथाशोभं तथा कुर्याद् विचक्षणः ॥११४॥
एतेषामायतास्राभं मण्डपं प्रविधीयते।

बुद्धिमान व्यक्ति (स्थपति) को उपर्युक्त चतुष्कोण मण्डपों में प्रत्येक में पार्श्वों में एक-एक भाग बढ़ाते हुये बत्तीस भाग तक विस्तार ले जाना चाहिये। ये मण्डप खुले या बन्द हो सकते हैं एवं आवश्यकतानुसार भित्ति एवं स्तम्भ निर्मित किये जाने चाहिये। बुद्धिमान व्यक्ति को यथावसर एवं शोभा के अनुकूल मण्डप-निर्माण करना चाहिये। आयताकार मण्डपों का वर्णन इस प्रकार किया गया।।११३-११४।।

✵ धनम् ✵

त्रिभक्तिविस्तृतं तस्माद् द्विभक्त्याधिकमायतम् ॥११५॥
पुरतो वारमेकांशं त्रिरष्टाङ्घ्रिसमन्वितम्।
विंशन्नास्यङ्गसंयुक्तं धनाख्यं तद्धनावहम् ॥११६॥

धन—यह मण्डप तीन भाग चौड़ा एवं लम्बाई में दो भाग अधिक होता है। सामने एक भाग से वार (प्रवेश) होता है एवं यह चौबीस स्तम्भों से युक्त होता है। इसमें बीस नासियाँ होती हैं। धन प्रदान करने वाला यह मण्डप धनसंज्ञक होता है।।११५-११६।।

✵ सुभूषणम् ✵

विस्तारं चतुरंशैस्तु तस्माद् द्व्यंशाधिकायतम्।
मण्डपं परितो भक्त्या शेषमङ्गणकं भवेत् ॥११७॥
द्विभक्तिविस्तृतं चैकभक्त्या तन्मुखभद्रकम्।
चतुरष्टाङ्घ्रिसंयुक्तमाद्यङ्गेषु बहिर्बहिः ॥११८॥
सर्वालङ्कारसंयुक्तं सुभूषणमिति स्मृतम्।

सुभूषण—इसका विस्तार चार भागों से एवं लम्बाई उससे दो भाग अधिक

रक्खा जाता है। एक भाग से चारो ओर मण्डप एवं शेष भाग से आँगन निर्मित करना चाहिये। मुख-भद्रक (सामने बना पोर्च) दो भाग विस्तृत एवं एक भाग (आगे निकला भाग) माप का होना चाहिये। अधिष्ठान पर बाहरी भाग में बत्तीस स्तम्भ होने चाहिये। सभी अलंकरणों से युक्त इस मण्डप का नाम सुभूषण होता है।

*** आहल्यम् ***

पञ्चरक्त्या विशालं तु तस्माद् द्व्यंशाधिकायतम् ॥११९॥

मण्डपं परितोंऽशेन शेषं कूटं तु वाङ्गणम्।
त्रिभक्तिविस्तृतं चैकभक्त्या तन्मुखभद्रकम् ॥१२०॥

आद्यङ्गमष्टपञ्चाङ्घ्रिसंयुक्तं तद् विचित्रकम्।
सर्वालङ्कारसंयुक्तमाहल्यं सर्वदेशिकम् ॥१२१॥

आहल्य—इस मण्डप की चौड़ाई पाँच भाग एवं लम्बाई उससे दो भाग अधिक होती है। चारो ओर मण्डप एक भाग से एवं शेष भाग से कूट निर्मित करे या (खुला) आँगन छोड़ देना चाहिये। तीन भाग विस्तार वाला एक भाग का मुखभद्र निर्मित करना चाहिये। अधिष्ठान चालीस स्तम्भों से युक्त होना चाहिये। विचित्र एवं सभी अलंकारों से युक्त आहल्य संज्ञक मण्डप सभी स्थानों के लिये उपयुक्त होता है।।११९-१२१।।

*** स्रुगाख्यम् ***

षड्भक्तिविस्तृतं तस्माद् द्विभक्त्याधिकमायतम्।
चतुर्द्विभक्तिकं दैर्घ्यव्यासमध्ये सभोदयम् ॥१२२॥

परितो मण्डपं द्व्यंशमिष्टदिङ्मुखभद्रकम्।
षष्ट्यङ्घ्रियुतमाद्यङ्गं युक्त्या नास्यङ्गसंयुतम् ॥१२३॥

सर्वालङ्कारसंयुक्तं स्रुगाख्यं तन्मनोहरम्।

स्रुग मण्डप—यह मण्डप छः भाग विस्तृत होता है एवं इसकी लम्बाई चौड़ाई से दो भाग अधिक होती है। मध्य भाग में चार भाग लम्बा एवं दो भाग चौड़ा सभागार होता है, जिसके चारो ओर मण्डप होता है। दो भाग से मुखभद्र का निर्माण इच्छानुसार किसी भी दिशा में किया जा सकता है। अधिष्ठान साठ स्तम्भों से युक्त होता है तथा नासियाँ निर्मित होती हैं। सभी आभरणों से सुसज्जित एवं मनोहर इस मण्डप की संज्ञा स्रुग है।।१२२-१२३।।

*** कोणम् ***

सप्तभक्त्या विशालं तु तस्माद् द्व्यंशाधिकायतम ॥१२४॥

त्रिभक्तिविस्तृतं पञ्चभक्तिदैर्घ्यं सभाङ्गणम् ।
परितो मण्डपं द्व्यंशमिष्टदिग्गतभित्तिकम् ॥१२५॥
त्रिभक्तिविस्तृतं भागनिर्गमं मुखभद्रकम् ।
युक्त्या नास्यङ्गसंयुक्तं द्विसप्तत्यङ्घ्रिकान्वितम् ॥१२६॥
सर्वालङ्कारसंयुक्तं कोणाख्यं मण्डपं भवेत् ।

कोण—यह मण्डप सात भाग विस्तृत एवं लम्बाई में चौड़ाई से दो भाग अधिक होता है। तीन भाग चौड़ा एवं पाँच भाग लम्बा इसका सभाङ्गण होता है। इसके चारो ओर मण्डप दो भाग से निर्मित होता है एवं इच्छानुसार दिशा में भित्ति निर्मित की जा सकती है। मुखभद्र तीन भाग चौड़ा एवं एक भाग निर्गम से युक्त होता है। यह आवश्यकतानुसार नासियों से युक्त होता है एवं इसका अधिष्ठान बहत्तर स्तम्भों से युक्त होता है। कोणसंज्ञक यह मण्डप सभी अलंकरणों से सुसज्जित होता है।

✵ खर्वटम् ✵

अष्टभक्त्या विशालं तु तस्माद् द्व्यंशाधिकायतम् ॥१२७॥
द्विचतुर्भागविस्तारायामं मध्ये जलस्थलम् ।
परितोऽलिन्द्रमेकांशं बाह्ये द्व्यंशेन मण्डपम् ॥१२८॥

खर्वट—इस मण्डप की चौड़ाई आठ भाग एवं लम्बाई उससे दो भाग अधिक होती है। मध्य भाग में दो भाग चौड़ा एवं चार भाग लम्बा जल-स्थान होना चाहिये। चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र एवं उसके बाहर दो भाग से मण्डप होना चाहिये।

त्यक्तमध्याङ्घ्रिसंयुक्तमिष्टदिग्गतभित्तिकम् ।
साष्टषष्ट्यङ्घ्रिसंयुक्तं पूर्ववन्मुखभद्रकम् ॥१२९॥
प्रमुखे वारमेकांशं मुखं सोपानसंयुतम् ।
नानालङ्कारसंयुक्तं सुरादीनां तु खर्वटम् ॥१३०॥

उसके मध्य भाग में स्तम्भ नहीं होना चाहिये। अभीप्सित दिशा में भित्ति होनी चाहिये। पहले के समान अड़सठ स्तम्भ एवं मुख-भद्र होना चाहिये। मुखभाग पर एक भाग से प्रवेश एवं मुखभाग सीढ़ियों से युक्त होना चाहिये। विभिन्न अलंकारों से सुसज्जित खर्वटसंज्ञक यह मण्डप देवों आदि के लिये प्रशस्त होता है।

✵ श्रीरूपम् ✵

नवभक्तिविशालं तु तस्माद् द्व्यंशाधिकायतम् ।
एकत्र्यंशं तु विस्तारायामं मध्ये जलस्थलम् ॥१३१॥

परितोऽलिन्द्रमेकांशं बाह्ये द्व्यंशेन मण्डपम्।
त्यक्तमध्याङ्घ्रिसंयुक्तं बाह्ये वारं तु भागतः ॥१३२॥

श्रीरूप—यह मण्डप नौ भाग विस्तृत होता है एवं इसकी लम्बाई चौड़ाई से दो भाग अधिक होती है। चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र एवं उसके बाहर दो भाग से मण्डप होता है। मध्य भाग में स्तम्भ नहीं होता है तथा बाहर की ओर एक भाग से मार्ग होता है।।१३१-१३२।।

षण्णवत्यङ्घ्रिसंयुक्तं यथेष्टं द्वारभित्तिकम्।
वारयुक्तमवारं वा पूर्ववन्मुखभद्रकम् ॥१३३॥
नानावयवसंयुक्तं नाम्ना श्रीरूपमिष्यते।

इसमें उनहत्तर स्तम्भ होते हैं तथा इच्छित दिशा में द्वार एवं भित्ति का निर्माण किया जाता है। पूर्ववर्णित रीति से मुखभद्र होता है, जो मार्ग से युक्त या उसके विना होता है। विभिन्न अंगों से युक्त इस मण्डप को श्रीरूप कहते हैं।।१३३।।

✵ मङ्गलम् ✵

पङ्क्तिभागविशालं तु तस्माद् द्व्यंशाधिकायतम् ॥१३४॥
द्विचतुर्भागविस्तारायामं मध्ये सभोदयम्।
परितोऽलिन्द्रमेकांशं भागेन जलपातनम् ॥१३५॥

मङ्गल—यह मण्डप दस भाग चौड़ा एवं लम्बाई उससे दो भाग अधिक होती है। मध्य भाग में दो भाग चौड़ा एवं चार भाग लम्बा सभागार होता है। चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र एवं एक भाग से जल-स्थान होता है।।१३४-१३५।।

तद्बाह्ये द्व्यंशमानेन परितो मण्डपं भवेत्।
स्तम्भं कुड्यं मुखं भद्रं यथेष्टं परिकल्पयेत् ॥१३६॥
अथवा मध्यकूटं चाप्यलिन्द्रं चापि पूर्ववत्।
जलस्थलं विना सर्वं मण्डपं परिकल्पयेत् ॥१३७॥

उसके बाहर चारो ओर दो भाग से मण्डप होता है। स्तम्भ, भित्ति, मुखभद्र आदि का निर्माण इच्छानुसार किया जाता है। अथवा मध्यकूट एवं अलिन्द्र पहले के सदृश निर्मित करना चाहिये। सभी मण्डपों को जल-स्थान के विना ही निर्मित करना चाहिये।

द्विभक्त्या चतुरस्रं तु षट्कूटं पार्श्वयोर्मतम्।
द्विचतुर्भागविस्तारदैर्घ्यं कोष्ठं मुखेऽमुखे ॥१३८॥
कर्णे लाङ्गलकुड्यं वा परितः कुड्यमेव वा।
विवृतं संवृतं वाऽपि स्तम्भं तत्रैव योजयेत् ॥१३९॥

दोनों पार्श्वों में दो भाग से चौकोर छः कूटों का निर्माण करना चाहिये। सामने एवं पीछे दो भाग चौड़ा एवं चार भाग लम्बा कोष्ठ निर्मित करना चाहिये। कोनों पर लाङ्गल-भित्ति तथा चारो ओर भित्ति निर्मित करनी चाहिये या भित्ति नहीं भी हो सकती है। यह खुला अथवा ढँका हो सकता है। वहीं स्तम्भ का निर्माण करना चाहिये।

सर्वावयवसंयुक्तं मङ्गलाख्यं तु मण्डपम् ।
अष्टावेतानि चोक्तानि देवद्विजमहीभृताम् ॥१४०॥

सभी अंगों से युक्त इस मण्डप की संज्ञा मङ्गल है। आठ चतुष्कोण से युक्त ये (आयताकार) मण्डप देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के लिये कहे गये हैं।।१४०।।

पूर्वोक्तचतुरस्रात्तु भक्त्यैकया विवर्धनात् ।
यावद् द्विगुणमायामं तावद् दैर्घ्यं प्रयोजयेत् ॥१४१॥
स्तम्भकुड्यादिकं सर्वमलङ्कारं च तत्ततः ।
यथारुचि यथाशोभं तथा कुर्याद् विचक्षणः ॥१४२॥
अष्टावायतयुक्तानि वक्ष्यन्ते वैश्यशूद्रयोः ।

पूर्वोक्त चतुष्कोण (आयताकार) मण्डपों में चौड़ाई में एक-एक भाग बढ़ाते हुये वहाँ तक लम्बाई का माप रखना चाहिये, जब तक लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी न हो जाय। बुद्धिमान स्थपति को मण्डप में स्तम्भ एवं भित्ति आदि सभी अलंकरणों का इच्छानुसार एवं जिस प्रकार सुन्दर लगे, उस प्रकार निर्माण करना चाहिये। अब वैश्य एवं शूद्रों के अनुकूल आठ आयताकार मण्डपों का वर्णन किया जा रहा है।

✵ मार्गम् ✵

द्विभक्तिविस्तृतं चैव विस्तारद्विगुणायतम् ॥१४३॥
त्रिःपञ्चाङ्घ्रिसमायुक्तं द्व्यंशैकं मुखभद्रकम् ।
पार्श्वे सोपानसंयुक्तं नासिकाख्यैरलङ्कृतम् ॥१४४॥
इष्टदिङ्मुखसंयुक्तं मार्गाख्यं मण्डपं मतम् ।

मार्ग—इस मण्डप का विस्तार दो भाग एवं लम्बाई विस्तार की दुगुनी होनी चाहिये। इसमें पन्द्रह स्तम्भ हों एवं दो भाग (चौड़ा) एवं एक भाग (बाहर की ओर निकला) मुखभद्रक (पोर्च) होना चाहिये। इसका सोपान पार्श्व में निर्मित होना चाहिये तथा नासिकाओं से यह सुशोभित होना चाहिये। इसका मुख-भाग इच्छित दिशा में रखना चाहिये। इसे मार्ग संज्ञक मण्डप कहते हैं।।१४३-१४४।।

✵ सौभद्रम् ✵

त्रिभक्तिविस्तृतं तस्य विस्तारद्विगुणायतम् ॥१४५॥

चतुःसप्ताङ्घ्रिसंयुक्तं भक्त्या वारं तु तन्मुखे।
द्विभक्तिविस्तृतं भक्त्या निर्गमं मुखभद्रकम् ॥१४६॥
युक्त्या नास्यङ्घ्रिसंयुक्तं सौभद्रं तन्मनोहरम्।

सौभद्र—सौभद्र मण्डप का विस्तार तीन भाग एवं लम्बाई विस्तार की दुगुनी होती है। यह अट्ठाईस स्तम्भों से युक्त होता है एवं सामने एक भाग से वार (मार्ग) होता है। मुख-भद्रक का विस्तार दो भाग एवं निर्गम (सामने निकला भाग) एक भाग से निर्मित होता है। उचित रीति से नासियों एवं स्तम्भों से युक्त यह सुन्दर मण्डप सौभद्र संज्ञक होता है।।१४५-१४६।।

✷ सुन्दरम् ✷

चतुर्भक्त्या विशालं तु तस्माद् द्व्यंशाधिकायतम् ॥१४७॥
द्विचतुर्विस्तृतायामं कूटं मध्ये तु वाङ्गणम्।
द्वात्रिंशाङ्घ्रिसमायुक्तं भक्त्या तन्मुखभद्रकम् ॥१४८॥
युक्त्या नास्यङ्घ्रिसंयुक्तं सुन्दराख्यं तु मण्डपम्।

सुन्दर—इस मण्डप की चौड़ाई चार भाग एवं लम्बाई उसकी दुगुनी होती है। मध्य भाग दो भाग चौड़ा एवं चार भाग लम्बा होता है, जिस पर कूट निर्मित होता है अथवा वहाँ (खुला हुआ) आँगन होता है। बत्तीस स्तम्भों से युक्त इस मण्डप में एक भाग से मुख-भद्रक निर्मित होता है। सुन्दर नामक यह मण्डप आवश्यकतानुसार नासियों एवं स्तम्भों से युक्त होता है।।१४७-१४८।।

✷ साधारणम् ✷

पञ्चभक्त्या विशालं तु तस्माद् वेदांशमायतम् ॥१४९॥
द्विभक्तिविस्तृतं त्र्यंशदैर्घ्यं पार्श्वेऽङ्कणद्वयम्।
षट्पञ्चाशद् भवेत् पादं वारमेकेन तन्मुखे ॥१५०॥
त्रिभक्तिविस्तृतं चैकभक्त्या तन्मुखभद्रकम्।
प्रमुखे तस्य सोपानं सर्वतः कुड्यसंयुतम् ॥१५१॥
युक्त्या नास्यङ्गसंयुक्तं साधारणमिति स्मृतम्।

साधारण—यह मण्डप पाँच भाग विस्तृत एवं लम्बाई में चौड़ाई से चार भाग अधिक होता है। बगल में दो भाग चौड़े एवं तीन भाग लम्बे दो आँगन होते हैं। इसमें छप्पन खम्भे होते हैं एवं सामने एक भाग से वार निर्मित होता है। तीन भाग विस्तृत एवं एक भाग (बाहर निकला) माप से मुख-भद्रक का निर्माण करना चाहिये। मुख

भाग पर सोपान एवं चारो ओर भित्ति होनी चाहिये। आवश्यकतानुसार नासी आदि अंगों से युक्त इस मण्डप को साधारण कहते हैं।।१४९-१५१।।

*** सौख्यम् ***

षड्भक्तिविस्तृतं तस्मात् त्रिभक्त्याधिकमायतम् ॥१५२॥

द्विपञ्चभागविस्तारायामं मध्ये सभोदयम्।
परितो मण्डपं द्व्यंशं वारं भक्त्या तु तन्मुखे ॥१५३॥

पूर्ववन्मुखभद्रं तु नासिकाख्यैरलङ्कृतम्।
षष्ट्यङ्घ्रिकसमायुक्तं सर्वावयवसंयुतम् ॥१५४॥

नाम्ना सौख्यमिति प्रोक्तं सर्वेषां तु सनातनम्।

सौख्य—यह छः भाग चौड़ा एवं चौड़ाई से तीन भाग अधिक लम्बा होता है। मध्य भाग में दो भाग चौड़ा एवं पाँच भाग लम्बा सभागार होता है। चारो ओर दो भाग से मण्डप एवं सामने एक भाग से वार निर्मित होता है। पहले के समान मुख-भद्रक निर्मित होता है एवं नासिकाओं से सुसज्जित होता है। साठ स्तम्भों से एवं सभी अंगों से युक्त इस मण्डप की संज्ञा सौख्य है। यह सभी लोगों के लिये अनुकूल होता है।।१५२-१५४।।

*** ईश्वरकान्तम् ***

सप्तभक्त्या विशालं तु तस्माद् वेदांशमायतम् ॥१५५॥

त्रिभागचतुरस्रं तु मध्ये कूटं तु वाङ्गणम्।
तद्बाह्ये भागमानेन परितोऽलिन्द्रमिष्यते ॥१५६॥

द्विपञ्चविस्तृतायामं पार्श्वयोरङ्गणद्वयम्।
बाह्ये मण्डपमेकांशं परितः कल्पयेद् बुधः ॥१५७॥

ईश्वरकान्त—इस मण्डप की चौड़ाई सात भाग से एवं लम्बाई उससे चार भाग अधिक होती है। मध्य भाग में तीन भाग का चौकोर क्षेत्र होता है, जिस पर कूट निर्मित होता है अथवा वहाँ (खुला) आँगन होता है। उसके बाहर एक भाग प्रमाण से चारो ओर अलिन्द्र होता है। दोनों पार्श्वों में दो भाग चौड़े एवं पाँच भाग लम्बे दो आँगन होते हैं। उसके बाहर एक भाग से चारो ओर मण्डप निर्मित होता है, ऐसा विद्वानों का मत है।।१५५-१५७।।

त्रिभक्त्यैकेन विस्तारनिर्गमं मुखभद्रकम्।
चतुराशीतिकं पादमाद्यङ्गे प्रविधीयते ॥१५८॥

प्रमुखे वारमेकांशं नानावयवशोभितम् ।
सर्वालङ्कारसंयुक्तमेतदीश्वरकान्तकम् ॥१५९॥

तीन भाग चौड़ा एवं एक भाग बाहर निकला मुख-भद्रक निर्मित होता है। अधिष्ठान पर चौरासी स्तम्भ निर्मित होते हैं। मुखभाग पर एक भाग से वार निर्मित होता है। यह ईश्वरकान्त मण्डप विभिन्न अंगों से सुशोभित एवं सभी अलंकरणों से युक्त होता है।।१५८-१५९।।

*** श्रीभद्रम् ***

अष्टभक्त्या विशालं तु तस्मात् पूर्ववदायतम् ।
द्विभक्ति चतुरस्रं तु मध्ये कूटं तु वाङ्गणम् ॥१६०॥

तद्बाह्ये भागमानेन परितोऽलिन्द्रमिष्यते ।
पूर्ववत् पार्श्वयोः कूटं द्व्यंशेनाधिकमायतम् ॥१६१॥

श्रीभद्र—यह मण्डप आठ भाग चौड़ा तथा पूर्ववर्णित माप के अनुसार लम्बा होता है। मध्य भाग दो भाग माप का चौकोर क्षेत्र होता है, जिसमें कूट निर्मित होता है या आँगन होता है। उसके बाहर एक भाग के प्रमाण से चारो ओर अलिन्द्र निर्मित होता है। दोनों पार्श्वों में पहले के समान कूट होते हैं, जिन्हें पूर्ववर्णित मान से दो भाग अधिक लम्बा रक्खा जाता है।।१६०-१६१।।

द्विभक्त्या मण्डपं बाह्ये परितः कल्पयेद् बुधः ।
चतुर्द्विभक्तिविस्तारनिर्गमं मुखभद्रकम् ॥१६२॥

दशाधिकशतस्तम्भमाद्यङ्गे प्रविधीयते ।
सर्वालङ्कारसंयुक्तं श्रीभद्रं सर्वयोग्यकम् ॥१६३॥

उसके बाहर चारो ओर दो भाग से बुद्धिमान स्थपति को मण्डप निर्मित करना चाहिये। चार भाग चौड़ा एवं दो भाग बाहर निकला मुखभद्रक निर्मित करना चाहिये। अधिष्ठान पर एक सौ दस स्तम्भ निर्मित करना चाहिये। सभी अलंकरणों से युक्त यह श्रीभद्र मण्डप सभी के लिये अनुकूल होता है।।१६२-१६३।।

*** सर्वतोभद्रम् ***

नवभक्त्या विशालं तु तस्मात् पूर्ववदायतम् ।
त्रिभक्तिचतुरस्रं तु मध्ये कूटं तु वाङ्गणम् ॥१६४॥

तद्बाह्ये भागमानेन परितोऽलिन्द्रमिष्यते ।
द्विपञ्चभक्तिविस्तारदैर्घ्यं पार्श्वेऽङ्गणद्वयम् ॥१६५॥

परितो मण्डपं द्व्यंशं तद्बाह्ये योजयेद्बुधः ।
पञ्चद्व्यंशविशालायामेन भद्रं मुखेऽमुखे ॥१६६॥

सर्वतोभद्र—इस मण्डप को नौ भाग विस्तृत एवं लम्बाई पहले दिये गये माप के अनुसार होना चाहिये। तीन भाग चौड़ाई वाले मध्य भाग में चौकोर क्षेत्र कूट से युक्त हो सकता है या वहाँ आँगन हो सकता है। उसके बाहर एक भाग प्रमाण से चारो ओर अलिन्द्र होना चाहिये। पार्श्व भाग में दो भाग चौड़ा एवं पाँच भाग लम्बा दो आँगन होना चाहिये। चारो ओर उसके बाहर दो भाग से बुद्धिमान व्यक्ति को मण्डप बनाना चाहिये। सामने एवं पीछे पाँच भाग चौड़े एवं दो भाग लम्बे (गहरे) भद्र (पोर्च) होने चाहिये।।१६४-१६६।।

त्र्यंशैकविपुलं दैर्घ्यं पार्श्वयोर्भद्रकद्वयम् ।
कर्णे लाङ्गलवत् कुड्यं विवृतस्तम्भसंयुतम् ॥१६७॥

साष्टाविंशच्छतं पादमाद्यङ्गे प्रविधीयते ।
यथायुक्ति यथायोगं तथा युञ्जीत बुद्धिमान् ॥१६८॥

सर्वतोभद्रकं नाम्ना सर्वालङ्कारसंयुतम् ।
एतान्यदि सुरादीनां योजयेत्तु विचक्षणः ॥१६९॥

दोनों पार्श्वों में तीन भाग चौड़े एवं एक भाग लम्बे दो भद्रक होने चाहिये। कोनों पर लाङ्गल के समान भित्ति एवं स्तम्भ होने चाहिये। अधिष्ठान पर एक सौ अट्ठाईस स्तम्भ निर्मित होने चाहिये। अन्य अवयवों को आवश्यकतानुसार उचित रीति से बुद्धिमान स्थपति को संयुक्त करना चाहिये। सर्वतोभद्र संज्ञक मण्डप सभी अलंकरणों से युक्त होता है। इस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति को इस मण्डप का निर्माण देवादिकों के भवन में करना चाहिये।।१६७-१६९।।

❋ मण्डपमुखायामः ❋

मण्डपानां तु विस्तारादायामं प्रविधीयते ।
जातिरूपं तु पूर्वोक्तं छन्दमेकं द्विभक्तिकम् ॥१७०॥

विकल्पं त्र्यंशकं प्रोक्तमाभासं चतुरस्रकम् ।
दण्डकं स्वस्तिभद्रं च पद्मं क्रकरभद्रकम् ॥१७१॥

षण्मुखं लाङ्गलं मौलिं जातिनामानुसारतः ।
प्रपामण्डपजातिस्तु युक्तितः पादसंयुता ॥१७२॥

मण्डप की लम्बाई—मण्डपों की लम्बाई का विधान उनकी चौड़ाई के अनुसार किया जाता है। जातिरूप का वर्णन पहले किया जा चुका है। छन्दरूप में लम्बाई

चौड़ाई से एक भाग अधिक होती है। विकल्प रीति में दो भाग एवं आभास रीति में तीन भाग अधिक लम्बाई रक्खी जाती है। चौकोर, दण्डक, स्वस्तिभद्र, पद्म, क्रकरभद्रक, षण्मुख, लाङ्गल तथा मौलि मण्डप जातिमान के अनुसार होते हैं। प्रपा एवं मण्डप जातिमान के अनुसार होते हैं तथा आवश्यकतानुसार इनमें स्तम्भों का निर्माण किया जाता है।।१७०-१७२।।

*** पुनः मण्डपभेदाः ***

गृहविन्यासरङ्गाङ्गं तदुक्तं गृहमण्डपम् ।
प्रासादगर्भनालीवत् सालिन्द्राङ्गविशेषतः ॥१७३॥
अधिष्ठानादिवर्गाढ्यं प्रासादाकारमण्डपम् ।
प्रासादगृहसाङ्गाङ्गं गृहप्रासादमण्डपम् ॥१७४॥

मण्डपों के अन्य भेद—गृहविन्यास के अंगभूत रङ्गस्थल को गृहमण्डप कहते हैं। जिस प्रकार प्रासाद में गर्भगृह होता है, उसी प्रकार गृह में मण्डप होता है जो विशेष रूप से अलिन्द्र से युक्त होता है। अधिष्ठान आदि से युक्त यह मण्डप देवालय के आकार का होता है। जिस गृहमण्डप में वे विशिष्ट अंग होते हैं, जो देवालय के मण्डप के अंग होते हैं, उसे गृहप्रासादमण्डप कहते हैं।।१७३-१७४।।

मण्डपोपरि भूमिश्चेन्मालिकामण्डपं मतम् ।
इष्टकाभिः शिलाभिर्वा दारुभिर्दन्तलोहकैः ।
सर्वत्र द्रव्यजातीनां मिश्रं मिश्रं विशेषितम् ॥१७५॥

यदि मण्डप के ऊपर तल निर्मित हो तो उसे मालिकामण्डप कहते हैं। यह मण्डप ईंटों, शिलाओं, काष्ठ, गजदन्त या धातुओं से निर्मित होता है। यह सभी प्रकार के मिश्रित द्रव्यों से निर्मित होता है।।१७५।।

*** जलक्रीडामण्डपम् ***

सायतं तु चतुरस्रकं जलक्रीडयान्वितमथापि मण्डपम् ।
एकभौमकमनेकभौमकं योजनीयमवनीपतीच्छया ॥१७६॥

जलक्रीडा-मण्डप—राजा की इच्छा के अनुसार जल-क्रीडा से युक्त मण्डप चौकोर या आयताकार हो सकता है। इसमें एक या अनेक तल हो सकते हैं।।१७६।।

संवृतं विवृतमङ्घ्रिभित्तिकं दिक्षु दिक्षु गतभद्ररूपकम् ।
मध्यरङ्गसहितं तु वाङ्गणं स्तम्भभित्तिकमुपर्युपर्यपि ॥१७७॥

यह मण्डप खुला अथवा (भित्ति से) ढँका हो सकता है। यह अंघ्रि-भित्तियों (पंक्ति में निर्मित स्तम्भों) से घिरा होता है। दिशाओं में भद्र (पोर्च) निर्मित होते

हैं। यह मध्य भाग में रङ्गसहित होता है अथवा वहाँ आँगन होता है। ऊपरी तल स्तम्भों अथवा भित्तियों से घिरा होता है।।१७७।।

गुह्यवारणपराधिरोहणं द्वारि तत्र बहुयन्त्रकल्पकम्।
वारिगर्भगजभूतहंसकं व्यालसिंहकपिसालभञ्जिकम् ॥१७८॥

इसकी सीढ़ी गुप्त द्वार के पीछे होती है, जिसके द्वार पर बहुत से यन्त्र निर्मित होते है। ये गज, भूत, हंस, व्याल, कपि एवं शालभञ्जिका (पेड़ की शाखा पकड़ कर तोड़ने की मुद्रा में स्त्री आकृति) आदि के रूप में होते हैं, जिनके भीतर जल भरा होता है।।१७८।।

हर्म्यमण्डपसभाभशीर्षकं कूटनीडगजतुण्डकोष्ठकम्।
तोरणादिबहुजालकैर्युतं नासिकादिभिरलङ्कृतं पुनः ॥१७९॥

मण्डपस्य पुरतोऽथ मध्यमे वा जलाशयमनेकयन्त्रकम्।
इष्टकाभिरुपलैरलङ्कृतं सावगूढमपगूढवारिणाम् ॥१८०॥

मण्डप का शीर्ष भाग हर्म्य के शीर्ष भाग के समान या सभागार के शीर्ष भाग के समान होता है। यह कूट, नीड, गज-तुण्ड (हाथी की सूँड) एवं कोष्ठक से सुसज्जित होता है। यह तोरण आदि, अनेक जालकों (झरोखों) एवं नासिकाओं से अलंकृत होता है। मण्डप के सामने या मध्य भाग में अनेक यन्त्रों से युक्त जलाशय होता है, जो ईंटों या प्रस्तरों से सुसज्जित होता है। जल से युक्त यह जलाशय गुप्त होता है अथवा खुला होता है।।१७९-१८०।।

एवं भूपानां जलक्रीडनार्थं प्रोक्तं यत्तन्मण्डपं रम्यदेशे।
सालङ्कारं सर्वचित्रैर्विचित्रं स्त्रीसौभाग्यारोग्यभोग्यप्रदायि ॥१८१॥

इस प्रकार राजाओं के जल-क्रीडा के लिये जिस मण्डप का उल्लेख किया गया है, वह रमणीय स्थान में रहता है। यह अलंकारों से युक्त, विभिन्न प्रकार के चित्रों से युक्त, स्त्री, सौभाग्य, आरोग्य एवं भोग प्रदान करने वाला होता है।।१८१।।

❋ मण्डपयोग्यवृक्षाः ❋

खदिरः खादिरो वह्निर्निम्बः सालः सिलिन्द्रकः पिशितः।
तिन्दुकमथ राजादनहोममधूकास्तु पादपादपकाः ॥१८२॥

एते देवद्विजनृपयोग्याः स्युः सर्वकर्मसु वै।
स्तम्भाकृतयः सर्वे प्रोक्ताः पूर्वोदितास्तेषाम् ॥१८३॥

मण्डप के अनुकूल वृक्ष—खदिर, खादिर, वह्नि, निम्ब, साल, सिलिन्द्रक,

पिशित, तिन्दुक, राजादन, होम एवं मधूक के वृक्ष (के काष्ठ) स्तम्भ-निर्माण के लिये अनुकूल होते हैं। ये वृक्ष देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं से सम्बद्ध सभी कार्यों के लिये प्रशस्त होते हैं। पूर्वोक्त सभी वृक्ष (काष्ठ) सभी प्रकार के स्तम्भों के लिये उपयुक्त होते हैं।।१८२-१८३।।

पिशितस्तिन्दुकवृक्षो निम्बो राजादनो मधूकश्च।
सिलिन्द्रः स्तम्भरुजा वैश्यानां चापि शूद्राणाम् ॥१८४॥

वृत्तं वा चतुरस्रं वाष्टास्रं षोडशास्रं च।
स्तम्भाकृतयः प्रोक्तास्त्वक्साराः सर्वयोग्याः स्युः ॥१८५॥

पिशित, तिन्दुक, निम्ब, राजादन, मधूक एवं सिलिन्द्र के वृक्ष से निर्मित स्तम्भ वैश्यों एवं शूद्रों के लिये होते हैं। स्तम्भों की आकृतियाँ वृत्ताकार चौकोर, अष्टकोण या सोलह कोण की हो सकती है एवं त्वक्सार अर्थात् बाँस से निर्मित स्तम्भ सभी के लिये अनुकूल होती हैं।।१८४-१८५।।

तालं च नालिकेरं क्रमुकं वेणुश्च केतकी चैव।
इष्टशिलाभिर्वा वृक्षैर्देवद्विजमहीपानाम् ॥१८६॥

आश्रमिणामप्युदितान्यावासानि हि सर्वाणि।
नैव शिलाभिर्वणिजां शूद्राणां वासके योग्यम् ॥१८७॥

ताल, नालिकेर (नारियल), क्रमुक, वेणु, (बाँस) एवं केतकी वृक्ष सभी के लिये अनुकूल होते हैं। ईंटों, प्रस्तरों एवं वृक्षों (काष्ठों) से निर्मित भवन देवों, ब्राह्मणों तथा राजाओं (क्षत्रियों)—इन सभी वर्ण के गृहस्वामियों के लिये उपयुक्त होता है; किन्तु वैश्यों एवं शूद्रों के भवन में प्रस्तर का प्रयोग कभी भी अनुकूल नहीं होता है।।१८६-१८७।।

❋ मुखमण्डपानि ❋

प्रासादाभिमुखे यान्यवरस्य श्रेष्ठमण्डपानि च वै।
तानि विमानाद्यङ्गस्तम्भोत्तरवाजनानि सदृशानि ॥१८८॥

अथ मुनिवसुनन्दांशैर्धर्मांशैकांशहीनानि।
पूर्वोदितमानानि हि सर्वाण्यङ्गानि वा विधेयानि ॥१८९॥

मुखमण्डप—मन्दिर के मुख-भाग पर निर्मित मण्डप श्रेष्ठ होता है। उनके आद्यङ्ग (अधिष्ठान), स्तम्भ, उत्तर एवं वाजन मन्दिर के समान होते हैं; किन्तु उनके माप उनसे सात, आठ, नौ या दस भाग कम होते हैं। अथवा सभी अंगों का माप पूर्व-वर्णित माप के समान रखना चाहिए।।१८८-१८९।।

आख्यातं मण्डपानां तान्येवोक्तानि दिक्प्रमाणं च।
पञ्चचतुस्त्रिद्विगुणस्तम्भव्यासेन भित्तिविष्कम्भम् ॥१९०॥
दारुस्तम्भव्यासात् पादोनं वा त्रिभागमर्धोनम्।
कुड्यस्तम्भविशालं तेन विशालेन वा कुड्यम् ॥१९१॥

मण्डपों की दिशा एवं उनका प्रमाण वही होना चाहिए, जो मन्दिरों का कहा गया है। भित्ति की चौड़ाई स्तम्भ की चौड़ाई से पाँच, चार, तीन अथवा दुगनी होनी चाहिये। काष्ठस्तम्भ के व्यास से भित्ति की चौड़ाई उससे चतुर्थांश कम, तीसरे भाग के बराबर या आधे के बराबर होनी चाहिए। अथवा कुड्यस्तम्भ (भित्ति से संलग्न स्तम्भ) की चौड़ाई भित्ति की चौड़ाई बराबर भी हो सकती है।।१९०-१९१।।

॥ मण्डपगर्भस्थानम् ॥

मध्याङ्गणस्य दिशि दक्षिणतोऽङ्घ्रिमूले
द्वारस्य दक्षिणयुते तलिपे तु केचित्।
कोणे द्वितीयचरणान्वितके त्रिगर्भ-
स्थानं वदन्ति मुनयः खलु मण्डपानाम् ॥१९२॥

मण्डप का गर्भस्थल = शिलान्यास स्थल—मण्डप के गर्भ-स्थल तीन हो सकते हैं—मध्य आँगन के दक्षिण भाग में स्तम्भ के मूल में, द्वार के दक्षिण भाग में स्तम्भ के नीचे या कोने में द्वितीय स्तम्भ के नीचे। इन तीन स्थानों के विषय में मुनिजन कहते हैं।।१९२।।

॥ अलिन्द्रम् ॥

उक्तव्यासायामभागादलिन्द्रं
पूर्वेऽपूर्वे वाऽथ भक्त्या समन्तात्।
भक्त्या वाध्यर्धः समन्तात्तु कुर्याद्
देवानामुर्वीसुरोर्वीश्वराणाम् ॥१९३॥

अलिन्द—(मण्डप आदि के) सामने, पीछे या चारो ओर अलिन्द्र संज्ञक मार्ग होता है, जिसकी चौड़ाई मण्डप की चौड़ाई से एक भाग या डेढ़ भाग होनी चाहिये। यह देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के मण्डपों के लिये विधान किया गया है। लम्बाई मण्डप के अनुसार होती है।।१९३।।

॥ मालिका ॥

प्रासादाङ्गं मालिकाङ्गं यथावत्
कुर्यात् कुड्यं मूलकुड्योपरिष्टात्।

पादं पादानामुपर्येव योज्य-
मेकद्वित्रीण्यत्र भौमानि युक्त्या ॥१९४॥

मालिका—मालिका के अवयवों को प्रासाद के अंगों के अनुसार रखना चाहिये। ऊपरी तल की भित्ति भूतल की मूल भित्ति के ऊपर निर्मित करनी चाहिये एवं स्तम्भों को स्तम्भों के ऊपर निर्मित करना चाहिये। आवश्यकतानुसार तल एक-दो या तीन हो सकते हैं।।१९४।।

तत्तद्विस्तारायतांशैर्विधिज्ञै-
स्तेषां मानं पादबाह्ये तु केचित्।
केचिद् भित्तेर्मध्यमं तद्वदन्ति
शालाकारं वा सभाशीर्षकाङ्गम् ॥१९५॥
यत्तत् कुर्यान्मण्डपं वासयोग्यम् ॥१९६॥

कुछ विद्वानों के अनुसार स्तम्भों के बाहरी भाग के अनुसार उनकी लम्बाई एवं चौड़ाई का मान लेना चाहिये; जबकि अन्य विद्वानों के मतानुसार मान का ग्रहण भित्ति के मध्य से करना चाहिये। निवास-योग्य मण्डप के शीर्ष का निर्माण शाला के आकार का या सभा के आकार का करना चाहिये।।१९५-१९६।।

एकद्वित्रिचतुर्मुखानि च मुखे भद्राण्यभद्राणि का-
न्यूर्ध्वे कूटयुतानि मध्यकपदे रङ्गाङ्गणाढ्यानि वै।
सर्वाण्यायतमण्डपानि चतुरस्राभाणि वेदद्विज-
क्षोणीशायतने मतानि च विशां शूद्रेषु दीर्घं मतम् ॥१९७॥

मण्डप के एक, दो, तीन या चार मुखभाग हो सकते हैं। ये भद्र से युक्त या भद्ररहित हो सकते हैं। मध्य भाग में ऊपर कूट हो सकता है, रङ्गस्थल या आँगन हो सकता है। ये मण्डप चौकोर या आयताकार हो सकते हैं। ये सभी देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के अनुकूल होते हैं। आयताकार मण्डप वैश्यों एवं शूद्रों के अनुकूल होते हैं।।१९७।।

❁ सभाविधानम् ❁

✵ तत्र सभाभेदाः ✵

नवानां हि सभानां तु लक्षणं वक्ष्यतेऽधुना।
आद्यं मल्लवसन्तं तत्परं पञ्चवसन्तकम् ॥१९८॥
एकवसन्तकं चैव सर्वतोभद्रकं तथा।
पार्वतं कूर्मकं चैव माहेन्द्रं सोमवृत्तकम् ॥१९९॥

शुकविमानकं चैव श्रीप्रतिष्ठितमेव च।
नवैताः सायताः पञ्चसभाः शेषा युगास्रकाः ॥२००॥

सभागार का विधान एवं भेद—अब नौ प्रकार के सभागारों के लक्षण का वर्णन किया जा रहा है। इनमें प्रथम मल्लवसन्तक संज्ञक है। इसके पश्चात् पञ्चवसन्तक, एकवसन्तक, सर्वतोभद्र, पार्वतकूर्मक, माहेन्द्र, सोमवृत्त, शुकविमान एवं श्रीप्रतिष्ठित होते हैं। इन नौ सभाओं में से पाँच आयताकार होती हैं तथा शेष चौकोर होती हैं।।१९८-२००।।

एकद्वित्रिचतुर्भागा व्यासा आद्या नृदेवयोः।
व्यासायाममलङ्कारं स्तम्भानां भित्तिमानकम् ॥२०१॥

प्राग्वत् सर्वमलङ्कारं दण्डिकान्तविमानवत्।
लुपाक्रियाक्रमं सर्वं यथा शिखरलक्षणे ॥२०२॥

देवों एवं मनुष्यों के सभागृह लम्बाई में चौड़ाई से एक, दो, तीन या चार भाग अधिक होते हैं। इनकी लम्बाई, चौड़ाई, भित्ति एवं स्तम्भों का मान पहले के सदृश होता है। सभी दण्डिका पर्यन्त अलंकार विमान (मन्दिर) के सदृश होते हैं। लुपा आदि का विधान उसी प्रकार होता है, जैसा शिखर-लक्षण में वर्णित है।

❋ कूटलक्षणम् ❋

कर्णरश्मियुता कूटसंज्ञा वेदास्रका सभा।
वलक्षितस्वस्तिहीना कर्णाः कूटे च कोष्ठके ॥२०३॥

कूट का लक्षण—जिस चौकोर सभा के कोनों में रश्मियाँ (लुपा) हों, उसकी कूट संज्ञा होती है। कूट एवं कोष्ठक (लम्बा सभागार) दोनों सभागार कोणों में वलक्षितस्वस्ति से रहित होना चाहिये।।२०३।।

❋ मल्लवसन्तम् ❋

एकभक्त्या चतुःस्तम्भा लुपाकोट्येककूटकम्।
अष्टपुच्छवलक्षं तु नाम्ना मल्लवसन्तकम् ॥२०४॥

मल्लवसन्तक—मल्लवसन्त संज्ञक सभागृह एक भाग माप का, चार स्तम्भों, लुपाओं, कोटियों (कोटि लुपाओं, कोने की लुपाओं) तथा एक कूट वाला होता है। इसमें आठ पुच्छवलक्ष होते हैं।।२०४।।

❋ पञ्चवसन्तकम् ❋

द्विभक्तिचतुरं चाष्टस्तम्भदीर्घलुपान्वितम्।
वसुस्वस्तिवलक्षं तु मूलकूटं तु मध्यकम् ॥२०५॥

चतुष्कर्णे चतुष्कूटा संज्ञा पञ्चवसन्तकम् ।

पञ्चवसन्तक—दो भाग माप की, आठ स्तम्भों एवं आठ लम्बी लुपाओं से युक्त सभा पञ्चवसन्तक संज्ञक होती है। इसमें आठ स्वस्तिकवलक्ष, मध्य में मूलकूट एवं चारो कोणों पर चार कूट होते हैं।।२०५।।

✵ एकवसन्तकम् ✵

त्रिभक्तिचतुरस्रं तु द्वादशस्तम्भसंयुतम् ॥२०६॥
द्विरष्टस्वस्तिपुच्छं तु सत्रयोदशकूटकम् ।
त्रिरष्टकवलक्षं तु स्यात्राम्नैकवसन्तकम् ॥२०७॥

एकवसन्तक—एकवसन्तक संज्ञक सभागार तीन भाग माप का, चौकोर एवं बारह स्तम्भ से युक्त होता है। इसमें सोलह स्वस्तिपुच्छ, तेरह कूट एवं चौबीस वलक्ष होते हैं।।२०६-२०७।।

✵ सर्वतोभद्रम् ✵

युगभक्तियुगास्रं तु द्विरष्टाङ्घ्रिबहिस्ततः ।
अन्तःस्तम्भकलार्धं तु कलार्धं प्रांशुरश्मयः ॥२०८॥
अष्टद्विगुणकूटं तु त्रिरष्टस्वस्तिपुच्छकम् ।
षडष्टैववलक्षं तु मूलकूटमथैककम् ॥२०९॥
सर्वतोभद्रकं नाम्ना चतस्रश्चतुरस्रकम् ।

सर्वतोभद्र—यह सभागार चार कोणों वाला, चार भाग माप का, बाहर सोलह स्तम्भों से युक्त, भीतरी भाग में आठ स्तम्भ एवं आठ लम्बी लुपाओं से युक्त, सोलह कूट, चौबीस स्वस्तिपुच्छ तथा अड़तालीस वलक्षों से युक्त होता है। मध्य में एक कूट होता है। सर्वतोभद्र संज्ञक सभागार चार चौकोर (कक्षों) से युक्त होता है।

✵ पार्वतकूर्मकम् ✵

आयतास्रं चतुष्पञ्चभक्त्या पार्वतकूर्मकम् ॥२१०॥
अष्टादशदशाङ्घ्रि स्याद् बाह्येऽबाह्येऽष्टरश्मयः ।
द्विरष्टसप्तकूटानि षड्द्विसप्तबहिर्बहिः ॥२११॥
चतुष्षष्टिवलक्षानि चतुष्कोष्ठद्विरष्टकम् ।

पार्वतकूर्मक—पार्वतकूर्मक सभागार आयताकार, चार भाग चौड़ा तथा पाँच भाग लम्बा होता है। बाहरी भाग में अट्ठारह स्तम्भ एवं भीतरी भाग में दस स्तम्भ होते हैं तथा अट्ठारह रश्मियाँ (लुपायें) होती हैं। सोलह एवं चौदह कूट होते हैं। छः (या

सोलह) बाहर एवं चौदह भीतर होते हैं। इसमें चौंसठ वलक्ष तथा सोलह चतुष्कोष्ठ होते हैं।।२१०-२११।।

✵ माहेन्द्रम् ✵

चतुष्षड्भक्तिविस्तारं दैर्घ्यं विंशतिपादकम् ॥२१२॥

अन्तर्द्वादशपादं स्यादन्तःकूटं तथाष्टकम् ।
बहिर्द्विरष्टकूटं स्याद् षोडशप्रांशुरश्मयः ॥२१३॥

माहेन्द्र सभागृह चार भाग चौड़ा एवं छः भाग लम्बा होता है। इसमें बीस स्तम्भ एवं भीतर बारह स्तम्भ होते हैं। इसके भीतरी भाग में आठ कूट एवं बाहरी भाग में सोलह कूट होते हैं तथा सोलह लम्बी रश्मियाँ (लुपायें) होती हैं।।२१२-२१३।।

त्रिरष्टस्वस्तिकं चैव मूलकूटत्रिकं भवेत् ।
साशीतिकवलक्षं तु नवत्रिंशतिकूटकम् ॥२१४॥

अन्तराङ्घ्रिविहीनं तु भक्त्या तत्रैव योजयेत् ।
नाम्ना माहेन्द्रकं प्रोक्तं राज्ञां प्राज्ञैर्मुनीश्वरैः ॥२१५॥

इसमें चौबीस स्वस्तिक एवं मध्य भाग में तीन कूट होते हैं तथा इसमें अस्सी वलक्ष एवं उन्तालीस कूट होते हैं। भीतरी भाग में स्तम्भ नहीं होते हैं एवं भाग के अनुसार वही योजना करनी चाहिये। मुनियों ने माहेन्द्र सभागार को राजाओं के अनुकूल बताया है।।२१४-२१५।।

✵ सोमवृत्तम् ✵

व्यासायाम्यं चतुःसप्तभक्त्यान्तर्मनुपादकम् ।
बाह्ये द्वाविंशतिस्तम्भं त्रिरष्टं स्वस्तिपुच्छकम् ॥२१६॥

षोडश प्रांशुरश्मिः स्यान्नवतिषड्वलक्षकम् ।
मूलान्तर्बाह्यकूटानि चतुर्दशनवद्वयम् ॥२१७॥

चतस्रः कोटयः कर्णधारासप्तकविग्रहाः ।
तदन्तर्ङ्घ्रिनकं सोमवृत्तं नाम्ना समीरितम् ॥२१८॥

सोमवृत्त—इसकी चौड़ाई चार भाग एवं लम्बाई सात भाग होती है। भीतरी भाग में चौदह एवं बाहर बाईस स्तम्भ होते हैं तथा चौबीस स्वस्तिपुच्छ होते हैं। सोलह लम्बी रश्रियाँ एवं छियानबे वलक्ष होते हैं। मध्य भाग में चार कूट, भीतरी भाग में दस एवं बाहर अट्ठारह कूट होते हैं। इसमें चार कोटियाँ (कोटिलुपायें) एवं सात कर्णधारायें होती हैं तथा मध्य भाग में स्तम्भ नहीं होते हैं। इस सभागृह की संज्ञा सोमवृत्त होती है।।२१६-२१८।।

❋ शुकविमानम् ❋

पञ्चाष्टभक्तिविस्तारं दैर्घ्यं षड्विंशदङ्घ्रिकम्।
अष्टादशाङ्घ्रिकं चान्तश्चतुष्कोटिसमन्वितम् ॥२१९॥
द्वात्रिंशत् स्वस्तिकं चैव द्विसप्ततिवलक्षकम्।
चतुष्कूटयुतं मूर्ध्नि द्विरष्टप्रांशुरश्मयः ॥२२०॥
अन्तर्बहिस्तु कूटानि त्रिरष्टैकादशद्वयम्।
कर्णधाराष्टसंयुक्तं नाम्ना शुकविमानकम् ॥२२१॥

शुकविमान—यह सभागार पाँच भाग चौड़ा एवं आठ भाग लम्बा होता है। इसमें छब्बीस स्तम्भ होते हैं। अट्ठारह स्तम्भ भीतर होते हैं एवं चार कोटियों (कोने की लुपाओं) से युक्त होते हैं। यह बत्तीस स्वस्तिक एवं बहत्तर वलक्षों से युक्त, शिरोभाग पर चार कूटों से युक्त तथा सोलह रश्मियों (लुपाओं) से युक्त होता है। यह चौबीस अन्तःकूटों एवं बाईस बहिःकूटों से युक्त होता है। आठ कर्णधाराओं से समन्वित यह सभागार शुकविमान संज्ञक होता है।।२१९-२२१।।

❋ श्रीप्रतिष्ठितम् ❋

पञ्चभक्त्या विशालं तु नवभक्त्या तदायतम्।
अष्टाविंशतिगात्राणि द्वात्रिंशत् स्वस्तिपुच्छकम् ॥२२२॥
अन्तर्विंशतिकं स्तम्भं मध्यरश्मि तथैव च।
पञ्चकूटयुतं मूर्ध्नि चतुष्कोटिसमन्वितम् ॥२२३॥
षष्ट्युत्तरशतं तत्र वलक्षं प्रविधीयते।
द्विपञ्चांशं तु कूटानि नाम्नैतच्छ्रीप्रतिष्ठितम् ॥२२४॥

श्रीप्रतिष्ठित—इस सभागृह की चौड़ाई पाँच भाग एवं लम्बाई नौ भाग होती है। इसमें अट्ठाईस गात्र (स्तम्भ, पाद), बत्तीस स्वस्तिपुच्छ, बत्तीस भीतरी भाग के स्तम्भ एवं उसी प्रकार मध्य रश्मियाँ (मध्य में स्थित लुपायें), शिरोभाग पर पाँच कूट एवं चार कोटियों (कोटि-लुपाओं) से यह युक्त होता है। इसमें एक सौ साठ वलक्ष होते हैं। इसमें दस कूट होते हैं एवं इस सभागृह की संज्ञा श्रीप्रतिष्ठित होती है।

तदेव व्यासायामे तु भक्तित्रयविवर्धनात्।
चतुश्शालायतास्राभा द्विषड्द्विरष्टपादकाः ॥२२५॥
अन्तर्बहिस्तु भक्त्या च वारं शाला द्विभक्तिका।
चतुर्द्विसप्ततिस्तम्भमन्तर्बाह्ये तु कीर्तितम् ॥२२६॥

प्रासादवदलङ्कृत्वा चतुर्द्वारद्विचूलिकम् ।
भूपतेः श्रीप्रतिष्ठा स्यात् सभेयं श्रीप्रतिष्ठितम् ॥२२७॥

उसी लम्बाई एवं चौड़ाई के माप में तीन-तीन भाग बढ़ाने से चार आयताकार भवन बनते हैं, जिनमें बारह भीतरी भाग में एवं सोलह बाहरी भाग में स्तम्भ बनते हैं। इसमें एक भाग से वार (मार्ग या पोर्च) तथा दो भाग से शाला निर्मित होती है। बाहरी एवं भीतरी भाग में चार वार (चार स्थानों पर) बहत्तर स्तम्भ बनते हैं। मन्दिर के सदृश अलंकृत कर इसमें चार द्वार एवं दो चूलिकायें निर्मित होती हैं। यह श्रीप्रतिष्ठित संज्ञक सभागार राजा के लिये श्रीप्रतिष्ठा वाला (प्रतिष्ठाकारक) होता है।।२२५-२२७।।

एकैकभागवृद्ध्या तु भवत्युक्तेतरा सभा ।
छन्दं विकल्पमाभासं तत्तन्नाम्ना विधीयते ॥२२८॥

स्तम्भरश्मिवलक्षं च कूटं युक्त्या प्रयोजयेत् ।
यथारुचि यथाशोभं व्यासायामे तु भक्तयः ॥२२९॥

उपर्युक्त माप में एक-एक भाग बढ़ाने पर सभाओं के अन्य प्रकार प्राप्त होते हैं। उनके नाम छन्द, विकल्प एवं आभास हैं। उनमें स्तम्भ, रश्मि (लुपा), वलक्ष एवं कूट का आवश्यकतानुसार निर्माण करना चाहिये। लम्बाई एवं चौड़ाई के भाग (माप की ईकाई) इच्छानुसार एवं जिससे सभी सुन्दर लगे, उस प्रकार रखना चाहिये।

प्रांशुरश्मियुतं कूटं कूटं वा चतुरस्रकम् ।
दण्डिकानिर्गमसमो पूर्वपादोत्तरोद्गमः ॥२३०॥

तुलाभ्रप्रस्तरांशेन चूलिकाभागलम्बिकम् ।
ऋजु वा स्वस्तिकं ज्ञेयं वलक्ष्याय प्रवेशिता ॥२३१॥

कूट को लम्बी रश्मियों से युक्त निर्मित करना चाहिये अथवा कूट को चौकोर बनाना चाहिये। स्तम्भों के ऊपर उत्तर का उद्गम (ऊँचाई) दण्डिका के निर्गम के बराबर रखना चाहिये। चूलिका का लम्बिक (ऊपर लटकता भाग) तुला एवं प्रस्तर के भाग के अनुसार होना चाहिये। ऋजु अथवा स्वस्तिक वलक्ष में प्रविष्ट होना चाहिये।

शिखावर्गं तथा सर्वे निष्कूटं च कचग्रहा ।
चूलिकाद्वयमध्यस्था नाम्ना स्याद्वर्णपट्टिका ॥२३२॥

वलयं त्रिगुणं व्यासाद् बाहुल्या लुपया समा ।
लुपापार्श्वद्वयारूढा वलयप्रोक्तनालिका ॥२३३॥

शिखावर्ग (शिरोभाग) तथा सभी कचग्रह विना कूट के होते हैं। दो चूलिकाओं

के मध्य में स्थित संरचना वर्णपट्टिका संज्ञक होती है। वलय व्यास (चौड़ाई) से तीन गुना होना चाहिये एवं बाहुल्या को माप में लुपा के समान होना चाहिये। लुपा के दोनों पार्श्वों में वलयनालिका होनी चाहिये।।२३२-२३३।।

प्रतिचूलिकविन्यासा मुद्दरालम्बना स्थिरा ।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यामङ्कणास्ते वलक्षका ।।२३४।।

द्विकोटिसङ्गमखे वेशगर्भप्रदक्षिणे ।
प्रथमं स्तम्भनीया च शिल्पिकर्ता विधीयते ।।२३४।।

प्रतिचूलिक का विन्यास एवं मुद्गर का आलम्बन स्थिर होता है। आँगन के वलक्ष अनुलोम (नीचे से ऊपर सीधे) एवं प्रतिलोम (विपरीत विधि) से निर्मित होते हैं। दो कोटियों (कोटि-लुपाओं) का संयोग गर्भगृह के दाहिने छिद्र में होता है। शिल्पी को सर्वप्रथम स्तम्भ का विधान करना चाहिये।।२३४-२३५।।

पादबन्धमधिष्ठानं स्तम्भायामार्धमिष्यते ।
अनुक्तं यदि किञ्चित्तद्भक्त्या तत्र प्रयोजयेत् ।।२३६।।

हलाङ्गवत्कुड्ययुता सरङ्गका
विरङ्गका वाप्यथ गर्भगेहका ।
सभेति सभ्यैरुदिता सनातना
सभालयत्वादिह सभ्यमार्गणम् ।।२३७।।

इति मयमते वस्तुशास्त्रे मण्डपसभाविधानो
नाम पञ्चविंशोऽध्यायः

पादबन्ध अधिष्ठान स्तम्भ के माप का आधा होना चाहिये। यदि किसी अंग आदि का वर्णन नहीं किया गया हो तो उसका प्रयोग आवश्यकतानुसार करना चाहिये। सभा हल के लाङ्गल के समान भित्ति से युक्त, मध्य भाग रङ्ग से युक्त या रङ्ग से रहित हो सकता है। सभा सभा के अनुरूप (सभ्य) लोगों से बनती है—ऐसा प्राचीन विद्वानों ने कहा है। सभ्यजनों के मार्ग सभागार से निर्धारित होते हैं।।२३६-२३७।।

व्याख्यात्मक टिप्पणी

मण्डप-निर्माणार्थ स्थलचयन (श्लोक २-३)

मण्डप के निर्माणयोग्य स्थल मानसार के अनुसार सभी देवालयों का साम्मुख्य, पुण्यक्षेत्र, आराम, ग्रामादि का मध्य, चारो दिशायें, दिक्कोण, भीतर या बाहर तथा गृह के मध्य भाग या गृह के सम्मुख भाग हैं—

देवालयेषु सर्वेषु सम्मुखे बहुमण्डपम्।
पुण्यक्षेत्रे तथारामे ग्रामादौ वास्तुमध्यमे।।
चतुर्दिक्षु विदिक्षु वापि बाह्याभ्यन्तरोऽथवा।
नाराणां गृह्यध्ये च सम्मुखे मण्डपं तु वा।।

(मानसार-३४)

मण्डप (श्लोक ३-५)

मानसार (अ. ३४) में सभी के वासयोग्य याग-मण्डप, राजाओं के अभिषेक-योग्य नृत्त-मण्डप, विवाह के लिये मैत्र-मण्डप, उपनयन मण्डप, स्नपन मण्डप, बच्चों का मुखालोक मण्डप, सती-मण्डप, क्षौरकर्म के लिये मण्डप, अग्निकार्य के लिये मण्डप तथा सुखान्वितार्थ-मण्डप का वर्णन प्राप्त होता है—

सर्वेषां वासयोग्यार्थं मण्डपं यागमण्डपम्।
नृपाणामभिषेकार्थं मण्डपं नृत्तमण्डपम्।।
पाणिपीडनसिद्ध्यर्थं तथा मैत्रं च मण्डपम्।
उपनयनमण्डपं चैव तथा च स्नपनमण्डपम्।।

मण्डप-भेद (श्लोक ६-७)

मानसार (३४.७६-७८) के अनुसार मण्डप सात प्रकार के होते हैं—हिमज, निषदज, विजय, माल्यज, पारियात्र, गन्धमादन एवं हेमकूट—

प्रथमं हिमजं चैव ततो निषदजं भवेत्।
तृतीयं विजयं चैव चतुर्थं माल्यजं तथा।।
पञ्चमं पारियात्रं च षष्ठं स्याद् गन्धमादनम्।
सप्तमं हेमकूटं स्यान्मण्डपाख्यानि सप्तकम्।।

(विश्वकर्मवास्तुशास्त्र-७४.१९-३३)

में सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, इन्द्रकान्त, गन्धर्वकान्त, ब्रह्मकान्त मण्डपों का वर्णन प्राप्त होता है।

शिल्परत्न (पूर्वभाग, ३९ अ.) में मुखमण्डप, अर्चना मण्डप, नाट्य मण्डप, नन्द्यावर्त मण्डप, स्वस्तिक मण्डप, श्रीप्रतिष्ठित मण्डप, जयभद्र मण्डप, माणिभद्र मण्डप, प्रतिमा मण्डप, स्नान मण्डप, नृत्त मण्डप, ब्रह्मासन मण्डप, सिद्ध मण्डप, श्रीकर मण्डप, विजय मण्डप, भद्र मण्डप, सभारङ्ग मण्डप आदि विभिन्न प्रकार के मण्डप, अधिवास मण्डप तथा नाट्य मण्डप आदि विविध मण्डपों का उल्लेख किया गया है।

योनिकुण्ड-निर्माणविधि (श्लोक ४७)

योनिकुण्ड के निर्माण की विधि दौलतराम गौड़-प्रणीत सात 'कुण्ड निर्माण स्वाहाकार पद्धति' (प्रकाशक श्री ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार, वाराणसी, १९८२) में इस प्रकार दी गई है—

क्षेत्रे जिनांशे पुरतः शरांशान् संवर्ध्य च स्वीयरदांशमुक्तान्।
कर्णाङ्घ्रिमानेन लिखेन्दुखण्डे प्रत्यक् पुरोऽङ्काद्गुणतो भगाभम्।।

चौबीस अंगुल का चतुरस्र बनाकर उसमें दक्षिणोत्तर आधे भाग में एक लम्बी रेखा बनानी चाहिये। पुनः पश्चिमोत्तर भाग के आधे भाग का दो भाग पूर्व एवं पश्चिम की ओर करे। फिर उसके आधे में एक कोने से दूसरे कोने तक टेढ़ी रेखा खींचनी चाहिये। इसी प्रकार दूसरे कोने से रेखा निर्मित होती है। इस प्रकार दोनों आधे भाग में चार टेढ़ी रेखायें होंगी। पूर्वनिर्मित चतुरस्र के ठीक पूर्व में मध्य से पांच अंगुल, एक यव तथा दो यूका बढ़ा दे। फिर चतुरस्र के ठीक मध्य से अर्थात् दक्षिण दिशा से सटी एक टेढ़ी रेखा इस प्रकार खींचे, जो पूर्व के मध्य में बढ़ी हुई पाँच अंगुल, एक यव एवं यूका वाली रेखा से ऊपरी भाग से मिल जाय। इसी तरह उत्तर दिशा से रेखा खींच कर बढ़ी रेखा से मिला दे। तदनन्तर नीचे परकाल को दक्षिण की ओर से और उत्तर की ओर से अलग-अलग घुमाकर घुमाते हुये पश्चिम भाग के ठीक मध्य में मिला दे। इस प्रकार योनिकुण्ड तैयार होता है।

अर्धचन्द्रकुण्ड (श्लोक ४८)

पूर्वोक्त ग्रन्थ में अर्धचन्द्र कुण्ड का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

स्वशतांशयुतेषु भागहीनस्वधरिश्रीमितकर्कटेन मध्यात्।
कृतवृत्तदलेऽग्रतश्च जीवां विदधात्विन्दुदलस्य साधुसिद्ध्यै।।

चौबीस अंगुल का चतुरस्र बनाकर उस चतुरस्र के पूर्व दिशा में ढाई अंगुल हटाकर दक्षिणोत्तर एक लम्बी रेखा खींचनी चाहिये। उसी रेखा के मध्य से उन्नीस अंगुल, एक यव, एक यूका, पाँच लिक्षा, सात बालाग्र परकाल से नापकर अर्थात् साढ़े उन्नीस अंगुल को परकाल से नाप कर टेढ़ी रेखा खींचने से अर्धचन्द्र कुण्ड निर्मित होता है।

त्रिकोणकुण्ड (श्लोक ४९)

त्रिकोण कुण्ड बनाने की विधि पूर्वोक्त ग्रन्थ में इस प्रकार है—

वह्न्यंशं पुरतो निधाय च पुनः श्रोण्योश्चतुर्थांशकम्।
चिह्नेषु त्रिषु सूत्रदानत इदं स्यात् त्र्यस्रिकष्टोज्झितम्।।

चौबीस अंगुल के चतुरस्र के बाहर पश्चिम की ओर से वायव्य कोण और नैर्ऋत्य कोण की ओर छः-छः अंगुल और बढ़ाना चाहिये। अर्थात् छः अंगुल वायव्य कोण में और छः अंगुल नैर्ऋत्य कोण में बढ़ाना चाहिये। पुनः उस चतुरस्र की पूर्व दिशा के मध्य से आठ अंगुल लम्बी रेखा सीधी पूर्व दिशा की ओर बढ़ा दे। पुनः वायव्य कोण में बढ़ी हुई रेखा के अन्तिम भाग से एक टेढ़ी रेखा पूर्व दिशा में बढ़ी हुई रेखा से मिला दे। इसी प्रकार नैर्ऋत्य कोण से रेखा खींचने पर त्रिकोण कुण्ड तैयार होता है।

वृत्त कुण्ड बनाने की विधि इस प्रकार है—

विश्वांशैः स्वजिनांशकेन सहितै क्षेत्रे जिनांशे कृते।
व्यासार्धेन मितेन मण्डलमिदं स्याद् वृत्तसंज्ञं शुभम्।।

चौबीस अंगुल के चतुरस्र के मध्य से साढ़े तेरह अंगुल (तेरह अंगुल, चार यव, दो यूका, पाँच लिक्षा, तीन बालाग्र) का परकाल लेकर गोलाकार आकृति बनाने पर वृत्तकुण्ड का निर्माण होता है।

षट्कोण कुण्ड (श्लोक ५०)

'कुण्डनिर्माण-स्वाहाकारपद्धतिः' में षट्कोण कुण्ड-निर्माण की दो विधियाँ वर्णित हैं। प्रथम विधि के अनुसार चौबीस अंगुल के चतुरस्र के ऊपर अट्ठारह अंगुल, दो यव के माप का वृत्त खींचे और उस पर छः निशान बराबर दूरी पर लगा दे। उन चिह्नों से मिलाते हुये रेखा खींचने पर षडस्र कुण्ड की आकृति निर्मित होती है—

भक्तक्षेत्रजिनांशैर्धृतिमितलवकैः स्वाक्षिशैलांशयुक्तैः
व्यासार्द्धान्मण्डले तन्मितधृतगुणके कर्कटे चेन्दुदिक्तः।
षट्चिह्नेषु प्रदद्याद्रसमितगुणकानेकमोकन्तु हित्वा
नाशौ सन्ध्यत्तु दोषामपि च वृतिकृतेर्नेत्ररम्यं षडस्रम्।।

दूसरी विधि इस प्रकार है—

अथवा जिनभक्तकुण्डमानतिथिभागैः स्वरवभूपभागहीनैः।
मितकर्कटोद्भवे तु वृत्ते विधुदिक्तः समषड्भुजैः षडस्रम्।।

चौबीस अंगुल का चतुरस्र बनाकर उसके ऊपर चौदह अंगुल, सात यव और यूका का एक गोलाकार वृत्त बनाना चाहिये। उस वृत्त में छः बराबर चिह्न कर रेखायें खींचने से षडस्र कुण्ड निर्मित होता है।

पद्मकुण्ड (श्लोक ५१)

पद्मकुण्ड की विधि पूर्वोक्त ग्रन्थ में इस प्रकार है—

अष्टांशाच्च यतश्च वृत्तशरके यत्रादिमं कर्णिका
युग्मे षोडशकेशराणि चरमे स्वाष्टत्रिभागोनिते।
भक्ते षोडशधा शरान्तरधृते स्युः कर्कटेऽष्टौ छदाः
सर्वास्तान्खनकर्णिकां त्यज निजायामोच्चकां स्यात्कजम्।।

ग्रन्थकार के अनुसार चौबीस अंगुल का चतुरस्र बनाकर उसके ठीक मध्य में तीन अंगुल का वृत्त बनाना चाहिये। तदनन्तर उस वृत्त के ऊपर छः अंगुल, नौ अंगुल, बारह अंगुल, साढ़े चौदह अंगुल माप के परकाल से वृत्त निर्मित करना चाहिये। तदनन्तर तीन तथा छः अंगुल के वृत्त को छोड़कर पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा में एक-एक चिह्न अंकित करना चाहिये। पुनः नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान और अग्निकोण में एक-एक चिह्न अंकित करना चाहिये। इस प्रकार आठ चिह्न बनते हैं। पुनः दिशाओं एवं विदिशाओं में मध्य में आठ चिह्न बनाना चाहिये। सोलह चिह्न हो जाने पर एक-एक चिह्न छोड़कर पद्माकृति निर्मित करने पर पद्मकुण्ड का निर्माण होता है।

अष्टकोण कुण्ड (श्लोक ५२)

अष्टकोण कुण्ड के निर्माण की दो विधियाँ पूर्वोक्त ग्रन्थ में वर्णित हैं। प्रथम विधि के अनुसार चौबीस अंगुल चतुरस्र के ठीक मध्य में साढ़े अट्ठारह अंगुल का वृत्त निर्मित कर उसमें बराबर दूरी पर सोलह चिह्न लगाना चाहिये। तदनन्तर दिशा एवं दिक्कोण के मध्य चिह्न से दिशाओं एवं विदिशाओं के चिह्नों को छोड़कर रेखायें खींचने से अष्टास्र कुण्ड निर्मित होता है—

क्षेत्रे जिनांशे गजचन्द्रभागैः स्वाष्टाक्षिभागेन युतैस्तु वृत्ते।
विदिग्दिशोरन्तरतोऽष्टसूत्रैस्तृतीययुक्तैरिदमष्टकोणम् ।।

दूसरी विधि के अनुसार चौबीस अंगुल के चतुरस्र पर चौदह अंगुल, दो यव एवं तीन यूका माप का एक वृत्त खींचना चाहिये। इस वृत्त में आठ चिह्न दिशा एवं विदिशा छोड़कर (उनके मध्य में) बराबर दूरी पर लगाना चाहिये एवं उन चिह्नों को रेखाओं से मिलाने पर अष्टास्र कुण्ड निर्मित होता है—

मध्ये गुणे वेदयमैर्विभक्ते शक्रैर्मिजर्ष्यब्धिलवेन युक्तैः।
वृत्ते कृते दिग्विदिशान्तराले गजैर्भुजैः स्यादथवाष्टकोणम्।।

जलक्रीड़ा मण्डप (श्लोक १७६-१८१)

जलक्रीड़ा-मण्डप का वर्णन विभिन्न वास्तुग्रन्थों में प्राप्त होता है। राजभवन की क्रीडा-वाटिका में जलयन्त्रों से युक्त धारा-मण्डप का निर्माण होता है—

वामे भागे दक्षिणे वा नृपाणां त्रेधा कार्या वाटिका क्रीडनार्थम्।
एकद्वित्रिदण्डसंख्याशतं स्यान्मध्ये धारामण्डपं तोययन्त्रैः।।

(राजवल्लभमण्डन-९.१८)

जलयन्त्र की स्थापना के लिये भद्र, जलवापी, वेदिका, कोणों में कूप एवं मध्य में बारह स्तम्भ होते हैं—

क्षेत्रं सप्तविभागभाजितमतो भद्रं च भागत्रयं
तन्मध्ये जलवापिका जिनपदैरेकांशतो वेदिका।
स्तम्भैर्द्वादशभिश्च मध्यरचितः कोणेषु कूपान्वितः
कर्तव्यो जलयन्त्र एष विधिवद् भोगाय पृथ्वीभुजाम्।।

(राजवल्लभमण्डन-९.१९)

जलयन्त्र एवं धारा-मण्डप का वर्णन अपराजितपृच्छा (अ.-८८-९९) में विस्तार से प्राप्त होता है।

अलिन्द्र (श्लोक १९३)

ग्रन्थ में वर्णित 'अलिन्द्र' सम्भवतः अन्य वास्तुग्रन्थों में वर्णित अलिन्द है, जिसे ओसारा या बरामदा कहा जाता है।